प्रो. पी. लक्ष्मी नरसू कृत

दि एसेंस ऑफ बुद्धिज्म
का हिंदी अनुवाद

अनुवादक
सत्यप्रकाश

सम्यक प्रकाशन

बौद्ध धर्म का सार

('दि इसेंन्स ऑफ् बुद्धिज़्म्' इस अंग्रेजी ग्रंथ का हिन्दी अनुवाद)

मूल अंग्रेजी के लेखक
पी. लक्ष्मी नरसु

तीसरा संस्करण
(परिवर्तित तथा प्रवर्धित)

भूमिका
बी. आर. अम्बेडकर

मूल अंग्रेजी ग्रन्थ के प्रकाशक
थैकर एण्ड कम्पनी, लि., बम्बई
१९४८

हिन्दी अनुवादक
बुद्धवासी डॉ. भदन्त आनन्द कौसल्यायन

सिद्धार्थ गौतम शिक्षण व संस्कृति समिति
धनसारी, जि. अलीगढ़
महाराष्ट्र शाखा, नागपुर

प्रकाशक के दो शब्द

'इसेंस आफ बुद्धिजम' (बौद्ध धर्म का सार) प्रोफेसर पी. लक्ष्मी नरसू की अद्वितीय कृति हैं । इसकी प्रशंसा डॉ. भीमराव रामजी अम्बेडकर ने अपनी प्रस्तावना (१९४८ का प्रकाशन) में की है । इस में दो राय नहीं कि आज भी इस ग्रन्थ की तुलना में अन्य ग्रन्थ नहीं बैठ सकतें । यह पुस्तक उस दौरान लिखी गई जब, इस देश की कुछ पहाड़ी भाग को छोड़कर, बुद्ध व उसके संदेश का प्राय: लोप हो गया था । बुद्ध का अमर संदेश केवल 'इन्टलैक्चुअल' स्तर पर रह गया था, जनस्तर पर नहीं । डॉ. अम्बेडकर के धर्मांतर से पहले, इस देश में ऐसी विभूतियाँ पैदा होती रही हैं जिन्हों ने कम से कम, इस मानवीय व वैज्ञानिक वादी धम्म को मानसिक स्तर पर कायम रखा। इन विभूतियों में डॉ. ए. एल्. नायर (बम्बई) तथा प्रो. पी. लक्ष्मी नरसू के नाम उल्लेखनीय हैं । बौद्ध भिक्षुओं में यदि हम गिनती करे तो प्रमुखत: अनागारिक धम्मपाल, महापंडित राहुल सांकृत्यायत, भिक्षु जगदीश काश्यप, धम्मानंद कौसंबी व डॉ. भदन्त आनंद कौसल्यायन के नाम विशेष उल्लेखनीय हैं। वैसे अनेक अन्य भिक्षुगण भी हैं जिनका कार्य धम्म प्रसार में कुछ कम नहीं जैसे भिक्षु ग. प्रज्ञानंद (लखनऊ), महास्थविर चन्द्रमणि जिन्होने बाबा साहब को धम्मदीक्षा दी थी ।

प्रोफेसर नरसू का संपूर्ण जीवन वृत्तांत हमारे पास नहीं है । हमे जो भी ज्ञान हो सका है वह डॉ. अम्बेडकर की 'प्रस्तावना' व धम्मानंद कौसंबी जी के आत्म चरित्र से । प्रोफेसर नरसू मद्रास में डायनैमिक्स के जानेमाने विद्वान थे । आप के साथ सी. अयोध्यादास जी कार्य करते थे । प्रोफेसर नरसू व सी. अयोध्यादास ने 'साउथ बुद्धिस्ट एशोसिएसन' की स्थापना की और इसके माध्यम से, १९१० में भारतसरकार से बौद्धों की अलग से जनगणना कराई । उस समय १८००० बौद्ध मद्रास राज्य में थे ।

प्रोफेसर नरसू के जीवन के बारे में कुछ संदर्भ हमें धम्मानंदजी के आत्म चरित्र से मिलते हैं । आप लिखते हैं : 'मद्रास शहर में उस समय महाबोधि नाम की एक बौद्ध संस्था थी । उस संस्था के अध्यक्ष प्रोफेसर लक्ष्मी नरसू नाइडू व सचिव सिंगारावेलू थे । बुद्ध पूर्णिमा के दिन, बुद्ध को ज्ञान प्राप्त हुआ, उस अवसर पर कुछ पूजा अर्चना करने के अलावा, यह संस्था और कुछ नहीं करती थी । उस उत्सव को जो भी खर्च आता था वह ब्रह्मदेश (बर्मा) के प्रसिद्ध व्यापारी श्री मोंगश्वे देते थे । मद्रास में परिहार (पाराया) अतिशूद्र जाति के बहुत से लोगों ने बौद्ध धर्म स्वीकार कर लिया था । इन नव बौद्धों के नेता पंडित

अयोधीदास थे। पंडित अयोधीदास व महाबोधि सभा के लोगों से पटती नहीं थी। मैंने मद्रास में एक–दो महिने के आने बाद ही इन दोनों पक्षों को एकसूत्र में बाँध दिया। इन लोगों ने रायपेट में एक घर किराये से लिया और उस में मेरे लिये बौद्ध आश्रम की स्थापना की। उस समय में इस बौद्धाश्रम पर, प्रत्येक रविवार के दिन बौद्ध धर्म पर प्रवचन व व्याख्यान हुआ करते थे। मैं उस प्रवचन के समय एकाद पालि सुत्त कहा करता था व उसका तामिल भाषा में अनुवाद श्री सिंगारावेलू किया करते थे। कभी–कभी प्रोफेसर पी॰ लक्ष्मी नरसू भी व्याख्यान दिया करते थे। आप कभी कभी बाहर से भी वक्ताओं को बुलाया करते थे....मद्रास में (सिंगारावेलू के स्वभाव व धम्मानंदजी की अरण्यवास के प्रति आस्था) एक कैदी की भाँति मेरे दिवस बीतें। उस दौरान यदि कुछ सुख का अनुभव हुआ हो तो, प्रोफेसर नरसू के साथ सहवास का। प्रोफेसर नरसू प्रत्येक शुक्रवार को सायं के समय, बौद्ध आश्रम में आते थे। आप महाविद्यालय के वाचनालय से कुछ पुस्तक मेरे वाचन के लिए लाते थे। किसी विषय का तुलनात्मक अध्ययन किस प्रकार करना चाहिए, यह मैंने पहली बार प्रोफेसर नरसू से सीखा। इसके सिवाय उनका बर्ताव बहुत ही अच्छा व किसी भी प्रकार का व्यसन (बुरी आदतें) नहीं था। वे एक अत्यंत खुले दिल के व्यक्ति हैं। अन्दर से एक और बाहर से कुछ और, इस प्रकार के व्यवहार पर उन्हें नाराजी थी। मद्रास राज्य में समाज सुधारकों में उन की गणना होती है। इस प्रकार के पुरुष के प्रति किसी को भी आदर देने की इच्छा होगी।''[१]

पूज्य धम्मानंद कौसम्बी के इस वक्तव्य से प्रतीत होता है कि प्रोफेसर नरसू एक महान व्यक्तित्व वाले व्यक्ति होने चाहिए। उन्हें क्या मालूम होगा कि हमारे जैसा साधारण व्यक्ति उस महान व्यक्ति के ज्ञान की धरोहर को, एक महास्थविर की करुणा भरी कलम के जरिये, इस देश की राष्ट्र भाषा में जन जन तक पहुँचायेगा। ज्ञान, मानव की चिरंतन काल से चली आ रही एक अमूल्य विरासत है। जो इस विरासत को नहीं पढ़ पाया वह अभागा है और जो समाज उस विरासत को सभी व्यक्तियों को उपलब्ध नहीं कर पाया वह समाज एक मानवीय समाज कहलाने का हक़दार नहीं। हम नहीं चाहते कि हमारी आने वाली पीढ़ी हम को यह दोष दे कि हम, बुद्ध के ज्ञान की विरासत को उन्हें नहीं दे पाये।

इस पुस्तक के हिन्दी अनुवाद देने में श्री. वसंत मून, डिप्टी कलेक्टर, नागपुर का योग दान रहा। आपने सहर्ष इस पुस्तक को हमें अनुवाद के लिए सौंप दिया। आपका सामाजिक क्षेत्र में काफी योगदान है। आप, डॉ. भीमराव रामजी

---

१ धर्मानंद, ज. स. सुखठणकर, पृष्ठ ९५, ९६; मुद्रक अ. के. कोठावले, ॐ मुद्रणालय, २५० अ शनिवारपेठ, पुणे (पूना) ३०

(बाबासाहेब) अम्बेडकर के समग्र अप्रकाशित साहित्य के प्रकाशन हेतु महाराष्ट्र सरकारने जो समिति नियुक्त की है उस के साथ एक विशेष अधिकारी के रूप में काफी समय से कार्य कर रहे हैं। आपके कार्य के प्रति हमें गौरव है।

इस पुस्तक के अनुवादक डॉ. भदन्त आनन्द कौसल्यायन से जब हमने आग्रह किया कि पुस्तक जनमानस के समक्ष उनकी भाषा में आनी चाहिए तो आपने हमारी विनंती सहर्ष स्वीकार की। ८३ वर्ष की उम्र में आपका मष्तिष्क उतना ही काम करता था जितना कि ४० वर्ष के व्यक्ति का। आप जिस समय इस पुस्तक का अनुवाद कर रहे थे उसी दौरान डॉ. बी. आर अम्बेडकर द्वारा कृति Riddles in Hinduism महाराष्ट्र सरकार के द्वारा प्रकाशित हुई। इस पर महाराष्ट्र में काफी हंगामा हुआ जिसकी प्रतिक्रिया संपूर्ण राष्ट्र में हुई। भदंतजी चाहते थे कि इस पुस्तक को सामान्य जन भी पढ़े। अत: आपने कुछ समय के लिए 'इसैंस आफ बुद्धिजम' का अनुवाद रोक, डॉ. अम्बेड़करजी के उक्त पुस्तक का हिन्दी में अनुवाद कर दिया। क्या जबरदस्त थी आपकी सोचने की शक्ति और कार्य करने की लगन। इस पुस्तक की पांडुलिपि हमने भदन्त जी के साथ, श्रीनिवास मुद्रणालय, धनतोली, नागपुर के हमारे मित्र श्री. श्यामकान्त बनहट्टीजी को ता. १७/५/८८ को सौंपी। हम उसी दिन सायं ट्रेन से अलीगढ गाँव चले गये और ९ जून ८८ को बम्बई वापिस आये। ता. १७ जून तक हमें पता ही न लगा कि भन्तेजी की तबियत ठीक नहीं है। हमें उसी दिन पूज्य भन्ते मेधनकर जी का फोनो ग्राम मिला कि पूज्य भदन्तजी की हालत गंभीर है। उसी दिन मैं ट्रैन से नागपूर निकला और १८ जून को सायं पाच बजे भन्तेजी के दर्शन 'मैयो अस्पताल' में हुए। कुछ ऐसा लगा कि भदन्तजी जीवन की आखिरी मंजिल तय कर रहे है। महास्थविर भदन्तजी के चेहरे पर सूर्य के समान तेज विद्यमान था। आपने 'रिडल्स इन हिन्दूइजम' के हिन्दी अनुवाद 'ब्राह्मणशाही की ऊहापोह' के प्रकाशन की बात कही कि पुस्तक श्री बनहट्टीजी के प्रेस से निकल चुकी है। दो दिन के बाद मैं बम्बई वापिस चला आया क्यों कि उस दौरान सिद्धान्त की लड़ाई लड़ रहा था। अवकाश पर था, सरकार से दूसरे विभाग में जाने के लिए आग्रह कर रहा था। २२ जून ८८ को सायं १०.३० पर श्री रामसमुझ, आई. आर. एस. नागपुर से फोन आया कि भन्ते जी नहीं रहे। फिर दादा रूपवते से पता लगा कि भन्ते जी की अंतिम क्रिया २३–६–८८ को सायं चार बजे होना तय हुआ है। हम न जा सकें क्यों कि इतना समय ही नहीं था। मेरे जैसे सामान्य उपासक को लगता है कि उनके शरीर को कुछ और अधिक समय तक रखा जाता तो उनके हजारों उपासक–उपासिकाएं अंतिम दर्शन कर सकतीं थी। मुझे कई लोगों के फोन मिले कि वे भदन्त जी के अंतिम दर्शन नहीं कर पाये।

इस पुस्तक के प्रकाशन में जिन मित्रों की सहायता प्राप्त हुई वह दान दाता सूची में उल्लेखित की गई है । मुझे आशा है कि दानशूर उपासक, 'समाज कल्याण' में इसी तरह हाथ बटाते रहेंगे । उनका परिवार सुखी व समृद्ध हो, ऐसी मंगल कामना करता हूँ ।

इस पुस्तक के मुद्रक श्री. श्यामकान्त बनहट्टीजी के तो हम इतने आभारी हैं कि शब्दों में व्यक्त नहीं कर सकते । आपने ही इस पुस्तक के पाण्डुलिपि पर मुद्रण योग्य संस्कार किये तथा इस का मुद्रित शोधन किया है । आप भारतीय संस्कृति के एक महान पंडित हैं । आपने बड़ी ही मेहनत से छपाई को देखा है । आपकी चिर आयु हो यह हमारी व समिति के सभी सदस्यों की कामना है ।

हम इस पुस्तक को 'पी. एन. राजभोज इन्स्टिटच्यूट ऑफ ट्रैनिंग व सोशियो-रिलीजियस स्टडीज्, नागपुर' की इमारत बनाने के लिए अर्पित करते हैं । यह इन्स्टिटच्यूट समाज की दृष्टि से बहुत महत्वपूर्ण है ।

इस समिति का यह दूसरा प्रोजेक्ट होगा जो राष्ट्रीय स्तर का होगा । इस समय एक ही इन्स्टिटच्यूशन चल रहा हैं [प्यारेलाल आदर्श बाल विद्यालय हाई स्कूल, धनसारी (छर्रा) अलीगढ़] । इस स्कूल की इमारत में भदन्तजी का बड़ा योगदान रहा । उनकी पुस्तक 'आवश्यक पालि इकत्तीस दिनों में' से रु. १२५००-०० मिले व 'दि गोस्पल ऑफ बुद्धा' - 'संक्षिप्त बुद्ध चर्या' से करीब ४५००० रु. इस स्कूल की पहली मंजिल में लगाया जा चुका है । मुझे उम्मीद है कि पाठक लोग इस पुस्तक को खरीद कर 'पी. एन. राजभोज इन्स्टिटच्यूट ऑफ ट्रैनिंग' की संकल्पना को साकार रूप देंगे ।

समाज की उन्नति उस की संस्कृति पर आधारित होती है और संस्कृति ज्ञान की उपज है । ज्ञान प्राप्ति के लिए शिक्षित होना परम आवश्यक हैं । यह इन्स्टिटच्यूट केवल सांस्कृतिक क्षेत्र में ही ज्ञान प्रदान नहीं करेगा अपितु युवा छात्र-छात्राओं को समुचित प्रशिक्षण दे, उनके जीवन को उन्नतीशील बनायेगा ।

हम पुनः पूज्य महास्थविर डॉ. भदन्त आनंद कौसल्यायन की छोड़ी हुई सांस्कृतिक विरासत को भावी पीढ़ी को देने का वायदा करते हैं ।

भवतु सब्ब मंगलं

औरंगाबाद, (महाराष्ट्र), २५.३.८९

आपकी धम्मसेवा में
मुंशीलाल गौतम

विषय–सूचि

दान दाताओं की सूचि

[इस पवित्र पुस्तक के प्रकाशन के लिए, संस्था को निम्न लिखित दान दाताओंसे निधी प्राप्त हुई ।]

		रु. पैसे
१	श्री उत्तम खोब्रागडे, आय. ए. एस.	२०००–००
२	श्री नागप्पा, महाराष्ट्र विकास सेवा	२२००–००
३	श्री हर्षवर्धन गजभिये, उप सचिव, बंबई	१००–००
४	डॉ. श्रीमती गजभिये, रिडर, ग्रान्ट मेडिकल कॉलेज, बम्बई	१००–००
५	श्री चंद्रशेखर बागडे व उनके सभी मित्र, प्रोग्रेसिव्ह वेलफेअर असोसियेशन, बम्बई	३३००–००
६	श्री भा. इं. नगराले, उप संचालक, शिक्षण, औरंगाबाद	३०००–००
७	श्री बागडे, उप संचालक [भूजल], नागपुर	४५०–००
८	श्री भंडारे, डिवीजनल कन्ट्रोलर, राज्य परिवहन, औ.	५००–००
९	श्री एस. पी. गायकवाड, नांदेड	२००–००

१०	श्रीमती कमलेश गौतम, धनसारी, अलीगढ़ (उ. प्र.)	१००–००
११	उतपलवरना गौतम, धनसारी, अलीगढ़ (उ. प्र.)	१००–००
१२	विमलाक्ष गौतम, धनसारी, अलीगढ़ (उ. प्र.)	१००–००
१३	श्री भूषण मून, नागपुर	१००–००
१४	श्री रामदास मेश्राम, झारी पटका, नागपुर	१००–००
१५	श्री राजरतन नंदेश्वर, सचिव, सि. गौ. शि. सं. स., महाराष्ट्र शाखा, १५, गौतम परिसर, प्रताप नगर, नागपुर	१००–००
१६	श्री बलीराम रावखंडे, अध्यक्ष महाराष्ट्र शाखा, सिद्धार्थ गौतम शिक्षण व संस्कृति समिती	१००–००
१७	श्री ए. एच. पाथाडे, सिव्हिल जज, सिनियर डिव्हीजन, थाना.	५००–००
१८	श्री वासुदेव बोरकर, नागपुर	१००–००
१९	श्री नानासाहेब निकम, डिप्टी कमिशनर, सेल्स टॅक्स, बम्बई	१००–००
२०	कुमारी सुजाता निकम, ८, सलाखा, महर्षी कर्वे रोड, बम्बई २१	१००–००
२१	रत्नाकर यशवंतराव गायकवाड, आय. ए. एस.	१००–००
२२	श्री एम. आर. पाटील, आय. ए. एस.	१००–००
२३	श्री आनंद कुलकर्णी, आय. ए. एस.	१००–००
२४	श्री जे. डी. जाधव, आय. ए. एस.	१००–००
२५	श्री दिलीप बंड, एस. सी. एस., नागपुर	२००–००
२६	श्री पी. डी. गोडघाटे, उपसंचालक, [नगररचना] नागपुर	५००–००
२७	श्री गोकुल मोबारे, एस. सी. एस. पंढरपुर [सोलापुर] सदस्य, सिद्धार्थ गौतम शिक्षण व संस्कृति समिति	१००–००
२८	श्री सुखदेव पाझारे, चन्द्रपुर, सदस्य, सि. गौ. शि. सं. समिति	१००–००
२९	श्री सी. एल. थुल, मैट्रोपोलीटन मॅजिस्ट्रेट, बम्बई	१००–००
३०	श्री प्रेम भीमटे, प्रशासकीय अधिकारी, वर्धा नगर परि. वर्धा	१००–००
३१	श्री आर. डी. भगत, सह संचालक, वोकेशनल गायडेंस, नागपुर	१००–००
३२	श्री एकनाथ उमाळे, बैंक आफ इंडिया, नागपुर	१००–००
३३	श्री युवराज गोस्वामी, महाराष्ट्र बैंक, नागपुर	१००–००
३४	श्री आर. एस. पाथाडे, बैंक आफ इंडिया, नागपुर	१००–००
३५	श्री रोडगे, फील्ड आफीसर, जीवन बीमा, नागपुर	१००–००
३६	डॉ. पूसे, नागपुर	१००–००
३७	डॉ. श्रीमती पूसे, नागपुर	१००–००

३८	डॉ. देशराज, नागपुर	१००–००
३९	श्री बालकिशन गौतम, धनसारी, अलीगढ़	१००–००
४०	श्री उदयवीर सिंह गौतम, धर्रा अलीगढ़	१००–००
४१	श्री भगवान सिंह, एम. एस्सी., महुआ की नगरिया, अलीगढ़	१००–००
४२	श्री भगवान सिंह गौतम, एम. ए. एम. एड., कार्यकारी अध्यक्ष, सिद्धार्थ गौतम शिक्षण व संस्कृति समिति	१००–००
४३	श्रीमती मंजु गौतम, सी–६, ४२८, यमुना विहार, दिल्ली.	१००–००
४४	श्री रामदेव, महुआ की नगरिया, सदस्य सि. गौ. शि. सं. समिति	१००–००
४५	श्री ग्रीशचन्द्र गौतम, महुआ की नगरिया, अलीगढ़	१००–००
४६	डॉ. भूदेव सिंह, दिल्ली	१००–००
४७	डॉ. व्ही. के. पवन, सिकन्दरा २/अ अलीगढ़	१००–००
४८	श्री अशोक कुमार, आय. ए. एस., लखनऊ, उत्तर प्रदेश	१००–००
४९	श्री देवीसिंह अशोक, आय. पी. एस., उत्तर प्रदेश	१००–००
५०	श्री राजपाल सिंह, आयकर अधिकारी, भोपाल, मध्य प्रदेश	१००–००
५१	श्रीमती अनिता सिंह, भोपाल	१००–००
५२	श्री रामाधार दाहेरे, मानसिंह का नगला, अलीगढ़	१००–००
५३	श्री रामसमुझ, आय. आर. एस., गोरखपुर, उत्तर प्रदेश	१००–००
५४	श्री चिचखेडे, कृषि अधिकारी, नागपुर	१००–००
५५	श्री ए. एन. गायकवाड, पुना	२००–००
५६	श्री रमाकांत गायकवाड, ए. डी. एम., नागपुर	१००–००
५७	श्री प्रेम प्रताप सिंह यादवेन्दु, आय. एफ. एस. रामपुर, अलीगढ़	१००–००
५८	श्रीमती पारो यादवेन्दु, रामपुर, अलीगढ़	१००–००
९५	श्री ज्ञानेश्वर गोटे, भंडारा	१००–००
६०	श्री भीमराव मोगे, सेशन जज, हिंगोली	१००–००
६१	डॉ. लक्ष्मण चव्हाण, कुर्ला, नांदेड	१००–००
६२	श्री धर्मराज वटकर, आय. ए. एस., महाराष्ट्र	१००–००
६३	श्री वसंत साखरकर, कार्यकारी अध्यक्ष, सि. गौ. शि. तथा सं. समिति महाराष्ट्र शाखा, नागपुर	२००–००
६४	कौसल्या बैसंत्री, इ ७, डी. डी. ए. मुनिराका, नई देहली	१००–००
६५	सुजाता सूद, इ ७, डी. डी. ए. मुनिराका, नई देहली	१००–००
६६	एन्. एम्. शेगावकर, एन. आय. टी. कॉलनी, प्रतापनगर, नागपुर	२००–००
६७	विजय इन्दूरकर, इन्दोरा, नागपुर	१००–००

तृतीय संस्करण की भूमिका

इस ग्रन्थ की रचना प्रो. पी. लक्ष्मी नरसु के द्वारा हुई है। इस पुस्तक को सर्वसामान्य लोगों के हाथों तक पहुंचाने में मुझे जहाँ एक ओर बड़ी प्रसन्नता हो रही है, वहाँ मुझे दूसरी ओर यह भी स्वीकार करना पड़ता है कि लेखक से मेरी भेंट कभी भी नहीं हुई और मुझे उन के व्यक्तिगत जीवन के बारे में कुछ भी जानकारी नहीं। मैं ने उन के व्यक्तिगत जीवन के बारे में और उन की साहित्यिक रचनाओं के बारे में अधिक से अधिक जानकारी प्राप्त करने की कोशिश की है। इस कार्य में डा. पट्टाभि सीतारामैय्या मेरे सब से बड़े सहायक सिद्ध हुए हैं। वह प्रो. नरसु को व्यक्तिगत रूप से जानते थे और उन के मित्र थे। मुझे डा. पट्टाभि से प्रो. नरसु के बारे में जो जानकारी मिली, वह मैं यहाँ दे रहा हूँ।

प्रो. पी लक्ष्मी नरसु बी. ए. पिछली शताब्दी की एक विभूति थे। मद्रास क्रिस्चियन कालेज से भौतिक शास्त्र में स्नातक की पदवी प्राप्त की थी। सामान्य शिक्षक और प्रदर्शक की स्थिति से ऊपर उठते उठते १८९७ तक वे सहायक–आचार्य बन गये थे। १८९८ तथा १८९९ में जब भौतिक शास्त्र के स्थायी आचार्य प्रो. मोफट्ट छुट्टी पर गये थे, तो उन की अनुपस्थिति में न केवल भौतिक शास्त्र की बल्कि रसायन शास्त्र की भी पूरी जिम्मेदारी इन्हें ही सौंप दी गई थी। जिस प्रो. मोफट्ट को प्रो. लक्ष्मी नारायण नरसु के सिर पर बिठाया गया था, वह एक अनगढ़ तरुण था। इस से काफी पहले ही प्रो. लक्ष्मी नारायण नरसु भौतिक शास्त्र की एक शाखा 'बेतार के तार' के क्षेत्र में ख्याति प्राप्त कर चुके थे। गत शताब्दी के नौवें और सौ वर्षों के बीच में यह 'बेतार के तार' की शाखा अभी अपनी बाल्यावस्था में ही थी। १८९८ तथा १८९९ में प्रो. नरसु – उस समय इसी नाम से वे प्रतिष्ठित थे – भौतिक शास्त्र तथा रसायन शास्त्र में परीक्षक नियुक्त होते ही थे। वे न केवल बी. ए. के परीक्षक नियुक्त होते थे, बल्कि एम. ए. के भी। प्रो. नरसु Dynamics के अधिकारी विद्वान थे। एक बार Dynamics सम्बन्धी किसी प्रश्न को लेकर प्रो विलसन से मतभेद हुआ। प्रो. विलसन प्रैजिडेंसी कालेज मद्रास में रसायन शास्त्र का आचार्य था और भौतिक शास्त्र तथा रसायन शास्त्र के परीक्षकों के मण्डल का अध्यक्ष भी था। डाइनैमिक्स की कुछ समस्याओं को लेकर जब प्रो. नरसु ने अपना स्वतन्त्र मत व्यक्त किया तो उस ने उसे गलत बताया। जब प्रो. नरसु अपने ही मत पर अडिग रहे तो वह सिरफिरा अंग्रेज कुछ उत्तेजित हो गया और बोला, 'प्रो. नरसु, क्या तुम मुझे कुछ सिखाने जा रहे हो?' प्रो. नरसु ने डाइनैमिक्स की वह समस्या सुलझा दी और तुरन्त मुंह तोड़ उत्तर दिया, 'मुझे प्रसन्नता है कि डाइनैमिक्स के विषय में मैं प्रो. विलसन को कुछ सिखाने जा रहा हूँ।'

पचास वर्ष बीत जाने पर भी इस मामूली सी बात का हमारे लिये विशेष महत्त्व इस बात में है कि इस से यह पता लगता है कि प्रो. नरसु मूर्ति-भंजक थे। प्रो. नरसु समाज सुधारक थे। प्रो. नरसु ने जाति-पांति की प्रथा के विरुद्ध अपनी पूरी ताकत लगाकर युद्ध किया। हिन्दु धर्म में इस कुप्रथा के फलस्वरूप जो अत्याचार होता था, उस के खिलाफ विद्रोह का एक झण्डा खड़ा कर दिया। और यह सब किया अट्ठारहवीं शती के अन्तिम भाग में।

वे बौद्ध धर्म के बड़े प्रशंसक थे और इसी विषय पर सप्ताह-दर-सप्ताह व्याख्यान दिया करते थे। अपने विद्यार्थियों में वे अत्यन्त जनप्रिय थे और अपने उन विद्यार्थियों के दृष्टिकोण को उदार तथा विस्तृत बनाने में वे उनपर जादूई असर रखते थे। उन का व्यक्तिगत स्वाभिमान और राष्ट्राभिमान दोनों उच्च कोटि के थे और अपने यूरोपीय सहयोगियों की गर्विष्ठता तथा अति-श्रेष्ठता की भावना को वे कतई बर्दाश्त नहीं करते थे। विद्वता के क्षेत्र में उन को उचित सन्मान देने के लिए वे हमेशा तय्यार थे लेकिन उन के द्वारा हुये अपमान को पी जाना प्रो. नरसु के लिए असम्भव था।

एक शिक्षा-शास्त्री के रूप में प्रो. नरसु को शीघ्रही सर्वसामान्य और व्यापक मान्यता प्राप्त हुई और कुछ ही समय बाद पच्चैय्या महाविद्यालय के प्राचार्यपद पर उन की पदोन्नती हो गई।

प्रो. नरसु एक उच्च कोटि के जन-सेवा-भावी नागरिक थे और उन्होंने 'राष्ट्रीय कोष तथा औद्योगिक मण्डली' नाम की संस्था को संगठित करने में सक्रिय भाग लिया। इस संस्था के माध्यम से, दान के रूप में छोटी-छोटी धन-राशि एकट्ठी कर के, प्रगत तांत्रिक शिक्षा पाने के लिए विदेश जाने के इच्छुक विद्यार्थियों को मदद पहुंचाई जाती थी। जपान वह देश था जो उन दिनों के युवकों को आकर्षित करता था और उन की यह आकांक्षा थी की वहाँ जाकर विविध लघु उद्योगों के तथा निर्माण-कार्यों के - खास तौर पर साबुन बनाना, धातुओं पर चमक चढ़ाना, रंग-निर्माण और ऐसेही अन्य - तंत्रज्ञान की शिक्षा पाना। लेकिन प्रोफेसर साहब का एकही पाप था कि वे सामाजिक सुधारणावादी थे और बौद्ध धर्म में उन्हें शान्ति की प्राप्ति हुई। जातिप्रथा, बालविवाह, विधवा-विवाह पर प्रतिबंध इन सभी की अनिष्टता को पहचानने वाले पहिले पहिले व्यक्तियों में से वे एक थे, और उन दिनों के सुधारणावादी गुटों में उन के एक भाई के सक्रिय सुधारक होने पर बड़ा संतोष था, जिन्हों ने एक विधवा से विवाह करके एक आदर्श उपस्थित किया था। वह ऐसा समय था कि जब ईसाई पादरी इतना ही नहीं कि समाज-सुधार का विरोध नहीं करते थे बल्कि वे समाज-सुधार को ईसाइयत और कट्टरपन्थी हिन्दु धर्म के बीच का एक स्टेशन मानते थे। अधिक समय जाने से पूर्व ही उन का विचार

बदल गया । वे समझ गये कि इस प्रकार के प्रगतिशील आन्दोलन ईसाइयत के प्रचार में बाधा ही उपस्थित करते हैं । प्रो. नरसु १९ वीं शती के ऐसे महान् योधा थे, जिन्हों ने अपनी तेजस्वी देशभक्ति की भावना से यूरोपीय हेकड़ों को ललकारा, कट्टरपन्थी हिन्दुधर्म के विरुद्ध एक मूर्तिभञ्जक के उत्साह से संग्राम छेड़ा और अपनी जिद्द पर अड़े रहने वाले ब्राह्मणों से राष्ट्रीयता के नाम पर अपील की और आक्रामक ईसाइयों का बुद्धिवाद से मुकाबला किया । और यह सभी किया महान् गौतम बुद्ध की शिक्षाओं के प्रति अटूट श्रद्धा होने के कारण ।

पिछले कुछ समय से भारत के भिन्न विभागों के लोग मुझ से बौद्ध धर्म के बारे में किसी अच्छे ग्रन्थ की जानकारी चाहते रहे हैं । उन की इच्छा की पूर्ति के लिये मुझे प्रो. नरसु के इस ग्रन्थ की सिफारिश करने में कुछ भी हिचकिचाहट नहीं हुई । मैं सोचता हूँ कि अभी तक बौद्ध धर्म के सम्बध में जितने भी ग्रन्थ लिखे गये हैं, उन में यह ग्रन्थ सर्व श्रेष्ठ है । दुर्भाग्य से काफी समय से यह पुस्तक अप्राप्य रही है । इस लिये मैं ने इस का पुनर्मुद्रण करवाने का निश्चय किया ताकि जो लोग बौद्ध धर्म के विषय में प्रामाणिक जानकारी प्राप्त करना चाहते हैं, उन के हाथ में एक ऐसा ग्रन्थ पहुंच जाये, जिस में भरपूर जानकारी हो और जिस का हृदयङ्गम करना सहज हो । मुझे मद्रास के वरदचारी और कम्पनी नाम के पुराने संस्थान के प्रतिनिधियों का कृतज्ञ होना चाहिये जिन्हों ने मुझे इस पुस्तक का पुनर्मुद्रण कराने की अनुमति दी । पुस्तक का स्वत्व उन्हीं के हाथ में था।

इस पुस्तक के इस पुनर्मुद्रण की भूमिका लिखते समय मेरा इरादा था कि बौद्ध धर्म के उन प्राचीन और अर्वाचीन आलोचकों की आलोचनाओं का उत्तर दूं, जो उन्हों ने भगवान बुद्ध की शिक्षाओं की की हैं । दो कारणों से मैं ने अपना वह विचार त्याग दिया । पहला तो यही कि मेरा स्वास्थ्य मुझ को इस की अनुमति नहीं देता कि मैं इस भार को वहन कर सकूं । दूसरे मैं स्वयं इन दिनों एक बुद्ध चरित लिखने में लगा हूँ । मुझे लगता है कि किसी दूसरे के लिखे ग्रन्थ की भूमिका में इस की चर्चा करने की अपेक्षा अपने ही ग्रन्थ में मैं विस्तार से लिख सकूंगा। ऐसा ही करना इस विषय के साथ पूर्ण न्याय करना होगा । मैं ने यह निर्णय इस लिये भी लिया क्यों कि मुझे लगता है कि मेरे इस निर्णय से प्रो. नरसु के ग्रन्थ का पाठक किसी भी तरह घाटे में न रहेगा ।

बी. आर. अम्बेडकर

राजगृह
हिन्दु कॉलनी, दादर, बम्बई १४
१० मार्च १९४८

भूमिका

'यह ग्रन्थ उन निबन्धों का जो दक्षिण भारत की कुछ पत्रिकाओं के लिये बौद्ध विषयों पर लिखे गये थे, अन्तिम रूप है। इस का उद्देश है कि एक ही स्थल पर बुद्ध–धर्म के सम्बन्ध में जो मुख्य मान्यताएँ हैं, उन का संग्रह उपलब्ध हो जाय, ऐसा संग्रह जिस में उन मुख्य मान्यताओं का मूल्याङ्कन आधुनिक ज्ञान की दृष्टि से किया गया हो। यहाँ मौलिकता का दावा नहीं किया गया है। इस में उपलब्ध अधिकांश सामग्री भलि प्रकार ज्ञात पुरातत्वविदों के ग्रन्थों में प्राप्य है। पालि और संस्कृत के ग्रन्थों से लिये गये उद्धरणों से युक्त होने के बावजूद यहाँ यह दावा नहीं किया गया है कि यह कृति पालि तथा संस्कृत पाण्डित्य का प्रतिफल है। अपने स्वामी की सेवा में लगे हुए एक शिष्य की विनम्र आदराञ्जलि के अतिरिक्त यह और कुछ नहीं।

'अपने स्वामी की शिक्षाओं को लोगों के सामने उपस्थित करते समय शिष्य के लिये यह अनिवार्य है कि वह उन मान्यताओं को आँख से ओझल न होने दे, जो उन शिक्षाओं का मूलाधार हैं। जहाँ तक भगवान् बुद्ध की बात है सत्य ही उन की अधिकार वाणी है। और शिष्य को सत्य का ही अनुकरण करना चाहिये। इसलिये बौद्ध धर्म की जितनी भी शाखायें प्रशाखायें हैं, वे सभी इस सिद्धान्त को मान्य ठहराती हैं कि भगवान् बुद्ध की देशना के लिये तर्क–संगत होना या सत्यानुयायी होना अनिवार्य है। जितने भी प्रसिद्ध बौद्ध लेखक हुए हैं उन सभी ने बौद्ध धर्म का समर्थन करते हुए तर्क तथा मानस शास्त्र का आश्रय लिया है। उन के दिल में अपने विचारों के लिये इतना ऊँचा स्थान रहा है कि उन्हों ने कहीं कहीं उन सूत्रों को भी एक किनारे रख दिया जो सामान्यतया उन के बुद्ध–शासन का मूलाधार माने जाते थे। इस लिये आधुनिक ज्ञान की पृष्ठभूमि में बौद्ध धर्म का प्रतिपादन करते हुए ग्रन्थ के रचयिताने अपनी बौद्ध स्थिति के साथ कहीं भी समझौता नहीं किया है, बल्कि केवल उस आदर्श का अनुकरण किया है जो बौद्धों में आरम्भिक काल से प्रतिष्ठित था। यदि वह बौद्ध धर्म को किसी हद तक आधुनिकता का जामा पहनाने में सफल हो गया है, तो उस ने आधुनिक विचारों को थोड़े से बौद्ध धर्म से चुपड़ कर ऐसा नहीं किया है बल्कि बौद्ध धर्म की सभी मान्यताओं की गहराई में जाकर, वहाँ जो सत्य छिपा रहा है, उसे उजागर करके ही ऐसा किया है।

'यूरोप और अमरीका के विचारशील लोग बौद्ध धर्म की ओर आकर्षित हुए हैं। इस समय भी वहाँ ऐसी संस्थायें संगठित हो गई हैं, जिन का उद्देश बौद्ध–धर्म का प्रचार करना है। महाबोधि सोसाइटी की एक शाखा जिस का प्रधान कार्यालय शिकागो में है, अमरीका में महत्वपूर्ण कार्य कर रही है। सान

फ्रांसिस्को में एक जापानी बौद्ध मिशन है, जो धर्म की ज्योति नाम से एक पत्रिका का प्रकाशन कर रहा है। कहा जाता है कि इस पत्रिका का अमरीका में बहुत प्रचार है। लिपजिग (जर्मनी) में एक बौद्ध संस्था है जो डेर बुद्धिस्ट (अब बुद्ध वचन) नाम से एक पत्रिका प्रकाशित करने के अतिरिक्त व्याख्यानों तथा सस्ते साहित्य के माध्यम से भी बौद्ध धर्म का प्रचार कर रही है। कुछ पौराणिक रहस्यवादी मान्यताओं को छोड़ दिया जाय तो इस में कुछ सन्देह नहीं कि बौद्ध धर्म पाश्चात्य के लोगों को भी आकर्षित करेगा। यह भी सत्य है कि ऐसा भी कहा जाता है कि बौद्ध धर्म इतना अधिक पवित्र है कि वह उन लोगों को आकर्षित नहीं कर सकता जो शादी–विवाह करने को ऊँचे विचार के जीवन का बाधक नहीं मानते। इस दृष्टि से मूल्याङ्कन करने पर भी बौद्ध धर्म के लिये कोई चिन्ता की बात नहीं है। आरम्भिक काल से ही बौद्ध धर्म के ऐसे सम्प्रदाय चले आ रहे हैं कि जिनकी स्थापना है कि गृहस्थ भी अर्हत्व लाभ कर सकता है। एक ऐसा धर्म जो इतना लचीला है कि वह एक ओर तो नेपाल के वज्राचार्यों (विवाहित) का अपने में समावेश कर सकता है और दूसरी ओर श्री. लंका के स्थविरों (अविवाहित) का, उस में इतनी गुंजायश अवश्य है कि उस में एक ओर तपस्वी जीवन का और दूसरी ओर गृहस्थ जीवन के मजों का दोनों का समावेश हो सके।

'एक प्रसिद्ध इतिहासवेत्ता ने भारत में बौद्ध धर्म की पुनर्स्थापना की संभावना को स्वीकार किया है। शिक्षा तथा स्वतन्त्र चिन्तन के विस्तार के साथ यह असम्भव नहीं कि बौद्ध धर्म उन चिन्तनशील भारतीयों को आकर्षित कर सके जिन्हें अब न राम से और न रहीम से कुछ भी लेना देना रहा है, न कृष्ण और क्राइस्ट से, न काली या लक्ष्मी से और न मरी या मैरी से। ऐसे संकेतों की भी कमी नहीं है जो यह प्रकट करते हैं कि लोग उस भगवान बुद्ध की शिक्षाओं में स्थायी दिलचस्पी लेने लगे हैं जिन के बारे में एक समय ऐसी मान्यता थी कि उन का जन्म भारत में इसी लिये हुआ था कि वह दुनियाभर के लोगों के पापों का भार अपने सिर ओढ़ सकें। जैसे जैसे स्वदेशी–भावना की जड़ें मजबूत होंगी वैसे वैसे शाक्यमुनि का नाम, जो इस समय अप्रकट है, निश्चयात्मक रूप से अपनी चमक-दमक और पूरी शान के साथ उभरने वाला है।

'यह ठीक ही कहा गया है कि सभ्य जगत अपनी नैतिक मान्यताओं के आश्रित स्थित है, अपनी आध्यात्मिक मान्यताओं के नहीं। जो शक्ति सभ्य समाज का मूलाधार है और उसे संभाले हुए है वह न तो आत्मा–परमात्मा सम्बन्धी विश्वास है, न तीन में एक विश्वास, न ईश्वर की सर्वव्यापकता और सर्वज्ञता का विश्वास, बल्कि सचाई, दानशीलता, न्यायप्रियता, सहनशीलता, भ्रातृभाव, थोड़े में वह सब कुछ जो धर्म शब्द या बौद्ध धर्म के अन्तर्गत समाविष्ट है। सम्राट अशोक ने बौद्ध

धर्म को अपने शासन का मूलाधार बनाकर ठीक ही किया था । जब तक इस धर्म को सभी राष्ट्रों द्वारा स्वीकारा नहीं जाता हम न संसार में शान्ति की आशा कर सकते हैं, न संसार की सुरक्षा की । हो सकता है कि यदि लेखक यह मान बैठे कि उस का यह ग्रन्थ उस स्थिति को लाने में सहायक होगा, जिस की वह इतनी उग्रता से चाहना करता है, तो उस की यह बात 'छोटा मुँह बड़ी बात' मानी जाय । लेकिन उस का यह विश्वास है कि उस का यह ग्रन्थ उस के स्वामी की शिक्षाओं को कुछ स्पष्टता के साथ उपस्थित करने में सफल सिद्ध होगा ।'

आशा है पाठक मुझे अपनी मूल पुस्तक की भूमिका का इतना अंश उद्धृत करने के लिये क्षमा करेंगे । मैं ने ऐसा दो कारणों से किया है । एक तो इसलिये कि अपने उद्देश्य और आशाओं की अभिव्यक्ति के लिये मेरे पास कोई नई शब्दावलि नहीं है, और दूसरे इसलिये कि मेरी इस पुस्तक के मूल संस्करण का देश और विदेश में जो स्वागत हुआ वह मुझे यह समझने के लिये उत्साहित करता है कि मेरी आशाओं की पूर्ति हो रही है । ग्रन्थ के पहले संस्करण के बाद ऐसी छोटी मोटी बहुत सी बातें हुई हैं जो इस बात को प्रमाणित करती हैं कि सभी विचारशील लोगों को बौद्ध धर्म आकर्षित कर रहा है । इन में से मैं कुछ एक बातों का ही उल्लेख करना चाहता हूँ, जैसे पेशावर के पास जो बुद्ध के शरीर के धातु मिले हैं, उन की प्राप्ति में लोगों द्वारा प्रदर्शित की जा रही दिलचस्पी । अबौद्धों द्वारा वैशाख पूर्णिमा के महोत्सव का मनाया जाना, बंगाल बुद्धिस्ट एसोसिएशन की प्रगति, ग्रेट बृटेन और आयर्लेण्ड की बुद्धिस्ट सोसाइटी की स्थापना, जगत् ज्योति नाम की बंगाली पत्रिका का प्रकाशन, बुद्धिस्ट रीव्यू नाम का अंग्रेजी मैगजीन का प्रकाशन । यह तो मेरा अहंकार ही माना जायगा यदि मैं ऐसा समझूं कि इन सभी बातों के मूल में मेरी इस पुस्तक का प्रकाशन ही है । लेकिन जिन लोगों का इन सब घटनाओं से सीधा सम्बन्ध है उन से इस जानकारी का मिलना कम संतोषप्रद नहीं है कि मेरी इस पुस्तक ने उन पर प्रेरणात्मक प्रभाव डाला है ।

इस संस्करण की रचना–पद्धति भी वही है जो मूल संस्करण की रही है । किन्तु इस में काफी नई सामग्री की वृद्धि की गई है ताकि यह बात स्पष्ट हो जाय कि मेरी बौद्ध 'आधुनिकता' 'पुरानी दुनिया और नई दुनिया के सभी वैज्ञानिकों के सहयोग से निर्मित' नहीं है । वह पुरातत्वविदों ने बुद्ध की शिक्षाओं की जो व्याख्या की है, उस की अपेक्षा बुद्ध की वास्तविक देशना के अधिक समीप है । आज के बौद्ध के सामने जो मुख्य प्रश्न है, वह यह नहीं है कि वह 'माध्यमिक' हो या 'हीनयानी' हो, बल्कि क्या बौद्ध धर्म आधुनिक सभ्यता के सामने खड़ा रह सकता है, जिस की प्रेरणा उसे प्राचीन आदर्शों से नहीं, बल्कि आधुनिक विज्ञान के नवजागरण से मिलती है । इस

जिज्ञासा का समाधान करने का भरपूर प्रयास करने के इरादे से न मैं ने किसी भी मित्र द्वारा दिये गये सुझाव की उपेक्षा की है, न किसी समालोचक की समालोचना की अथवा इसी क्षेत्र में काम करने वाले किसी भी सहयोगी की। कुछ मित्रों के सुझाव पर बौद्ध कला के कुछ चित्र बढ़ा दिये गये हैं।

अनेक ऐसे हैं जिन का मुझे अपनी इस पुस्तक के लिये धन्यवाद देना चाहिये। उन में प्रमुख है होनुलोलु की श्रद्धासंपन्न उपासिका श्रीमती मेरी फोस्टर, जिस के अनुदान के बिना मेरी पुस्तक उन सब लोगों तक न पहुंच सकती, जिन लोगों तक यह पहुंच सकी है।

मद्रास,
३६७, मिंट स्ट्रीट
डिसम्बर १९११

पी. एल. एन.

17

बौद्ध धर्म का सार

प्रथम परिच्छेद

ऐतिहासिक बुद्ध

बौद्ध धर्म, या जैसा इस के अनुयायी कहते हैं केवल धर्म, वह मजहब है जिस की देशना बुद्धों ने की है। बुद्ध उसे कहते हैं जिस ने बोधि प्राप्त की हो । बोधि कहते हैं चित्त की वह चैतसिक तथा नैतिक आदर्श स्थिति को जिसे कोई भी केवल अपने मानवी प्रयास से प्राप्त कर सकता है। उन अनेकों में से एक, जिन्हों ने बोधि प्राप्त की और जिन से इतिहास सर्वाधिक परिचित है, थे गौतम शाक्य-मुनि ।

सामान्यतया गौतम शाक्यमुनि को धर्म का संस्थापक समजा जाता है। लेकिन शाक्यमुनि स्वयं अपने प्रवचनों में अपने से पूर्व हुए उन बुद्धों की चर्चा करते हैं जिन्हों ने उसी धर्म का प्रसार किया था। जिस प्रकार हम ईसाईयत या इस्लाम के संस्थापकों की चर्चा करते हैं ठीक उन्हीं अर्थों में हम बुद्ध को धर्म का संस्थापक नहीं कह सकते। ईसाइयत का संस्थापक असन्दिग्ध रूप से आध्यात्मिक है, वह ईश्वर के पुत्र का औतार है, जो अपने में स्वयं ईश्वर ही है। जो आदमी क्राईस्ट के देवत्व में विश्वास नहीं करता, वह अपने आप को सच्चा ईसाई नहीं कह सकता। उसे इस बात में भी विश्वास करना पड़ता है कि ईसा को जब सूली पर लटका कर मार दिया था तो वह मरकर फिर जीवित हो उठा था और उस ने उन सभी लोगों के पापों को जो उस पर ईमान लात हैं, अपने सिर ले लिया था। इस्लाम के संस्थापक माने जानेवाले महम्मद साहब न किसी ईश्वर, न उस के सम्बन्धी और न उस के किसी नौकर चाकर के औतार थे, तो भी वे एक व्यक्ति-विशेष थे, जिन्हें मानवता को इल्हाम का संदेश पहुंचाने के लिये माध्यम चुना गया था। कोई भी आदमी जो मुहम्मद साहब को खुदा का पैगम्बर स्वीकार नहीं करता अपने आप को मुसल्मान नहीं कह सकता। लेकिन बुद्ध अपने बारे में एक मनुष्य होने के अतिरिक्त और कोई भी दावा नहीं करते। इस में कोई सन्देह नहीं कि हम उन्हें सम्पूर्ण रूप से विकसित हुए एक मानव के रूप में देखते हैं। तो भी वे आदमियों में एक आदमी ही हैं । वे यह नहीं कहते कि वे किसी परा-

प्राकृतिक मूल श्रोत से कोई इल्हाम लेकर आये हैं। वे यह भी नहीं कहते कि जो लोग उन पर ईमान लायेंगे उन के पापों को वे अपने सिर पर लेकर उन्हें मोक्ष प्रदान कर देंगे। वे इस से अधिक कुछ भी दावा नहीं करते कि वे आदमियों को वह पथ दिखा देंगे जिस पथ पर चलकर उन्हों ने स्वयं अपने आप को मुक्त किया है। वे हमें स्पष्ट तौर पर यह बताते हैं कि हर आदमी को अपने दुष्कर्मों का फल भुगतना ही पड़ता है। हर आदमी को अपनी मुक्ति के लिये स्वयं प्रयास करना पड़ता है। कोई देवता या ईश्वर भी आदमी के लिये वह सब कुछ नहीं कर सकता जो कुछ आदमी आत्म–विजय और आत्म उद्धार के माध्यम से अपनी सहायता आप करके स्वयं अपने लिये कर सकता है। भगवान बुद्ध द्वारा उपदिष्ट धम्मपद में हम पढ़ते हैं –

'हम जो कुछ भी हैं, वह सभी कुछ अपने विचारों के परिणाम हैं, अपने विचारों की फल–श्रुति हैं, अपने विचारों से निर्मित हैं।'

'आदमी स्वयं पाप–कर्म करता है, आदमी स्वयं उन का फल भुगतता है। आदमी स्वयं पाप–कर्मों से विरत रहता है, आदमी स्वयं पवित्र होता है। पवित्रता अपवित्रता व्यक्तिगत बात है। कोई भी एक आदमी दूसरे को पवित्र नहीं कर सकता।'

'तुम्हें अपने ही प्रयास करना होगा। बुद्ध तो केवल पथ–प्रदर्शक हैं। जो विचारवान् पुरुष बुद्ध के बताये हुए मार्ग पर चलते हैं, वे पाप कर्मों से मुक्त हो जाते हैं।

'जो जागने के समय जागता नहीं, जो तरुण और सशक्त होने के बावजूद आलसी और प्रमादी है, जिस के निर्णय और निश्चय सुदृढ नहीं हैं, वह आलसी पुरुष कभी भी बोधि–प्राप्ति के पथ पर अग्रसर नहीं हो सकता।'

'अप्रमाद अमृत का पद है, प्रमाद मृत्यु स्थल है। अप्रमादी मरते नहीं। प्रमादी मृतवत् ही होते हैं।'

फिर महापरिनिर्वाण सूत्र में भगवान् बुद्ध अपने प्रिय शिष्य आनन्द की भर्तसना करते हैं –

'आनंद! अपने दीपक अपने आप बनो। आनन्द! अपनी शरण स्वयं ग्रहण करो। आनंद! धर्म को ही अपना दीपक समझो। आनन्द! धर्म की ही शरण ग्रहण करो। आनन्द! अन्य किसी की भी शरण ग्रहण न करो।

'और आनन्द! अभी या मेरे न रहने पर भी जो अपने दीपक स्वयं बनेंगे, अपनी शरण स्वयं ग्रहण करेंगे...आनन्द! वे ही बोधि–प्राप्ति का प्रयास करते करते ऊंचाई के शिखर तक जा पहुंचेंगे।'

बुद्ध ने केवल इतना ही नहीं किया कि आदमी के पक्ष में परा–प्राकृतिक शक्तियों की ओर से कुछ सहायता नहीं मिलाई। उन्हों ने इतना भी नहीं किया

कि आदमी को अपने में विश्वास करने के बदले में कष्टों और दु:ख से मुक्ति दिलाने का वचन दिया हो । वे तो एक कदम आगे बढे । उन्हों ने अपने शिष्यों की भर्तसना की कि वे उन के व्यक्तित्व को महत्व न दें और सदैव अपने आदर्शों पर ही नजर रखें। वज्रछेदिका में है – 'जो कोई मुझे किसी रूप या शब्द में देखने का प्रयास करता है, वह आदमी भटक गया है और उसे कभी भी तथागत के दर्शन नहीं हो सकेंगे।' इसी प्रकार एक अन्य स्थल पर है – 'जो धर्मानुसार आचरण नहीं करता और कहता है कि आप मुझे देखते हैं, मैं उसे नहीं देखता। लेकिन जो आदमी हजारों मील की दूरी पर रहने पर भी धर्मानुसार आचरण करता है वह मेरी दृष्टि में रहता है।' यही सत्य इस से भी अधिक प्रभावशाली ढंग से उस बातचीत में प्रकट हुआ जो भगवान बुद्ध और द्रोण ब्राह्मण के बीच हुई थी। एक समय भगवान बुद्ध को एक वृक्ष के नीचे विराजमान देखकर द्रोण ब्राह्मण ने उन से पूछा –

'क्या आप देवता हैं ?'

'नहीं।'

'क्या आप गन्धर्व हैं ?'

'नहीं।'

'क्या आप यक्ष हैं ?'

'नहीं।'

'क्या आप एक आदमी हैं।'

'नहीं।'

तब ब्राह्मण का प्रश्न था, 'आप क्या हैं ?'

'जिन आश्रवों, जिन कामनाओं, जिन तृष्णाओं के नष्ट न हुए रहने पर मैं एक देव, एक गन्धर्व, एक यक्ष या एक आदमी हो सकता था, वे सभी पूर्णतया नष्ट हो चुकी हैं। हे ब्राह्मण ! इस लिये तू जान ले कि मैं बुद्ध हूँ।'

अब इस कथा से जो शिक्षा ग्रहण की जा सकती है, वह स्पष्ट है । हिन्दु मान्यताओं के अनुसार एक देवता, एक गन्धर्व, एक यक्ष मनुष्यरूप में प्रकट हो सकता है। इस लिये ब्राह्मण के लिये यह स्वाभाविक था कि वह यह जानना चाहे कि जो मनुष्य–रूप उस के सामने उपस्थित है, वह देव है, या गन्धर्व है, या यक्ष है ? लेकिन ब्राह्मण इस बात से चक्कर में पड़ गया कि उसे उस के सभी प्रश्नों का नकारात्मक उत्तर मिला था। और तब उस ने अपना वह सामान्य प्रश्न पूछा। बुद्ध ने इस का जो उत्तर दिया वह स्पष्ट था। बुद्ध की दृष्टि में उन का रूप (= शरीर) महत्त्वपूर्ण नहीं था, बल्कि उन का नाम (= चरित्र) महत्त्वपूर्ण था जो कि प्रज्ञा और करुणा की साकार मूर्ति था, जिस का दूसरा नाम है बोधि । वे मात्र शाक्य मुनि नहीं थे, वे थे तथागत भी । जिन सनातन सत्यों की वह देशना

करते थे, वे स्वयं उन की साकार मूर्ति थे । वे धर्मधातुस्वभावात्मक थे । सभी मनुष्यों के समाज में जो मूल यथार्थता विद्यमान है वह उस का प्रतिरूप थे । इस लिये इस में कोई आश्चर्य नहीं कि बद्धधर्म जिस की छाया में प्रतिष्ठित है वह शाक्यमुनि का नहीं बल्कि बुद्ध (तथागत) का व्यक्तित्व है ।

यद्यपि महत्व की बात तो धर्मानुसार अपना जीवन बिताना ही है, तो भी भगवान बुद्ध के व्यक्तित्व का अपना महत्व है । क्यों कि वह व्यक्तित्व उन उपदेशों का साकार रूप है, जो तथागत ने दिये थे, इस लिये उसे आदर्श मानकर उस का अनुकरण तथा उसकी नकल करने में वह व्यक्तित्व शिष्य को सहायता प्रदान करता है । अमितायुर्ध्यान सूत्र का कथन है – 'क्यों कि उन्हों ने बुद्ध–रूप की भावना की है, इसलिये वे बुद्ध–चित्त का भी दर्शन कर सकेंगे । सभी प्राणियों के लिये महान अनुकम्पा ही बुद्ध–चित्त है ।' इस के साथ साथ यह भी याद रखना चाहिये कि भगवान बुद्ध की देशना अपनी प्रामाणिकता के लिये किसी करिश्मे या उन के जीवन में घटी किसी विशेष घटना पर निर्भर नहीं करती । दूसरे बहुत से धर्मों में ऐसा ही है । भगवान् बुद्ध के जीवन में घटी सभी घटनायें अनैतिहासिक भी सिद्ध हो जायें तो इस से उन की शिक्षाओं के मूल्य पर कुछ भी प्रभाव नहीं पडेगा* । तथागत का अपना कथन है कि शिक्षण और आचरण दोनों साथ साथ जुड़े हैं ।

पौराणिक अभिव्यक्तियों को छाँट दिया जाय तो गौतम बुद्ध के जीवन की सामान्य घटनायें आसानी से ब्यान की जा सकती हैं । वह ईसा के जन्म से लगभग छह सौ वर्ष पूर्व छटी शती के मध्य में (५६३ ई. पूर्व) लुम्बिनी उद्यान में पैदा हुए थे । यह कपिलवस्तु के पड़ौस में है, जो कि गोरखपुर जिले के उत्तर में है । मानवता के महानतम शिक्षक के जन्मस्थान के रूप में इस की यादगार बनाये रखने के लिये और तीर्थस्थान के प्रति अपनी पूजा की भावना की अभिव्यक्ति के लिये २३९ ई. पू. में सम्राट अशोक ने यहाँ एक पत्थर का खम्भा गड़वा दिया था । उस खम्भे पर ये शब्द उत्कीर्ण हैं – यहाँ भगवान् का जन्म हुआ था (हिद भगवा जातेति)

उस समय कपिलवस्तु में शाक्यों के प्रमुख रहते थे । यदि सिद्धार्थ गौतम ने उन के बीच जन्म न ग्रहण किया होता तो उन के बारे में कोई कुछ भी न जानता । गौतम के पिता शुद्धोदन और सुप्रबुद्ध की लड़की उन की माता माया इसी कुल की थी । सिद्धार्थ को जन्म देने के सात दिन बाद ही माता का शरीरान्त हो गया । दयालु मौसी प्रजापति गौतमी द्वारा लालन पालन हुआ । सिद्धार्थ का बचपन सुख–सुविधाओं में बीता । उसे आराम से रखने के प्रयास में किसी भी प्रकार की कुछ भी कमी न थी । सोलह वर्ष की आयु में कोलिय–कन्या यशोधरा से उस की

* तथागत का स्वभाव धर्म है, तथागत वास्तविक धर्म ही है – अग्गञ्जसुत्त ।

शादी रचा दी गई। उन्हें राहुल नाम का पुत्र हुआ। लगभग २५ वर्ष की आयु होने तक सिद्धार्थ सुख-सुविधा का ही जीवन बिताते रहे। इसी समय दुनिया के दुःख दर्द ने उसे बुरी तरह प्रभावित किया। वह जीवन की समस्याओं पर गहराई से विचार करने लगा। दुःख के मूल का पता लगाने और उस के नष्ट करने का उपाय खोजने की बलवती इच्छा ने उसे २९ वर्ष की आयु में गृहत्याग करने पर मजबूर किया। यही उस समय का जीवन-क्रम था।

इस महान अभिनिष्क्रमण के अनन्तर उस बोधिसत्व ने, उस सत्य के खोजी ने उस समय के दो प्रसिद्ध ब्राम्हण आचार्यों का शिष्यत्व स्वीकार किया। इन दोनों आचार्यों में से एक था आलार-कालाम और दूसरा था उद्रक रामपुत्र। पहला वैशाली में रहता था। उस के अनुयायी बहुत थे। सम्भवतः वह सांख्य दर्शन के संस्थापक कपिल का अनुयायी था। और आत्मवादी था। आत्मा में विश्वास न करने को वह अधर्म मानता था। बिना एक नित्य अभौतिक आत्मा को स्वीकार किये उसे मुक्ति का दूसरा मार्ग सूझता ही न था। जैसे मूंज घास को अपने कांटों से छुटकारा मिल जाय या पिंजरे में फंसे किसी जंगली पक्षी को पिंजरे से बाहर निकलने का मौका मिल जाय, उसी तरह, उस की मान्यता थी कि आत्मा को जब अपनी भौतिक मर्यादाओं (उपाधि) से छुट्टी मिलती है, तभी वह मोक्ष लाभ कर सकता है। जब व्यक्ति अपने अभौतिक रूप को पहचान लेता है, तभी वह मुक्त-पुरुष हो जाता है। इस शिक्षा ने सिद्धार्थ को संतुष्ट नहीं किया। उस ने आकार कालाम की संगति त्याग दी और उद्रक रामपुत्र का शिष्यत्व स्वीकार किया। यह आचार्य संभवतः वैशेषिक दर्शन को मानता था। उसे भी 'मैं' की चिन्ता थी, लेकिन उस का अधिक जोर कर्मों के फल और आत्माओं के संसरण पर था। बोधिसत्व को कर्मों के सिद्धान्त में सचाई दिखाई दी, लेकिन वे किसी भी तरह 'आत्मा' के अस्तित्व और उस के संसरण में विश्वास नहीं ला सके। इस लिये उन्होंने उद्रक को भी छोड़ा और उन पण्डे पुरोहितों के पास गये जो मन्दिरों में रहते थे और यज्ञ-याग करते थे। सिद्धार्थ उन के पास इस लिये गया कि शायद वे ही उसे दुःख से मुक्ति का मार्ग बता सकें। कोमल स्वभाव वाले गौतम ने जब देखा कि वह भिन्न भिन्न देवी-देवताओं की वेदिकाओं पर निरीह पशुओं की बलि चढाते हैं तो उसका हृदय विद्रोह कर उठा। उस ने उन पण्डे-पुरोहितों को समझाया कि वे न तो प्राणी-हत्या करके अपने पापों का प्राय-श्चित्त कर सकते हैं और न नैतिक जीवन की उपेक्षा करके धार्मिक जीवन बिता सकते हैं।

श्रेष्ठतर जीवन-दर्शन की तलाश में भटकते भटकते सिद्धार्थ वैशाली से मगध में गया के समीप उरुवेला के जंगल में एक ऐसी जगह पहुंचे जहाँ कौण्डञ्ज की प्रमुखता में उद्रक के पांच शिष्य निवास करते थे। उस ने देखा कि वे पांचों जने अपने इंद्रियों को काबू में रखने की कोशिश कर रहे हैं और घोर तपस्या करने

में लगे हैं। उसे उन का उत्साह और ईमानदारी प्रशंसनीय लगी। उस ने उन के जीवन–दर्शन का परीक्षण करने के लिये स्वयं भी तपस्वी का जीवन बिताने का निश्चय किया। छः वर्ष तक लगातार वह घोर तपस्या में रत रहा। यहाँ तक कि उस का शरीर किसी पेड़ की सूखी टहनी के समान हो गया। एक दिन जब वह नेरञ्जरा नदी (आधुनिक फलगु) में स्नान कर चुकने पर पानी से बाहर निकलने के लिये सचेष्ट था, तो वह दुर्बलता के कारण खड़ा तक न रह सकता था तो भी एक पेड़ की झुकी हुई टहनी की सहायता से खड़ा हुआ और नदी के बाहर आया। अपने निवास–स्थान को लौटते समय फिर उस के पैर लड़खड़ा गये और वह जमीन पर गिर पड़ा। उसी अवस्था में उसका प्राणान्त भी हो जा सकता था, यदि जंगल के समीप ही निवास करने वाले एक ग्वाले की सुजाता नाम की ज्येष्ठ कन्या अकस्मात उधरसे न गुजरी होती और उस ने उसे खीर न खिलाई होती। जब उस के बदन में ताजगी आयी तो उस ने अनुभव किया कि तपस्या करने से ज्ञान की प्राप्ति तो होती ही नहीं, इस के विपरीत केवल शरीर और मन का दौर्बल्य ही इस का परिणाम होता है। तदनुसार उसने तपस्या के पथ का परित्याग कर दिया और विचारपूर्वक आत्म–निरीक्षण करने का मार्ग अपनाया। जो बुद्धि हम सभी के अंतर्मन में स्थित है और जो हमें सत्य की ओर अग्रसर करती है, उस ने उसी बुद्धिपर विश्वास किया।

एक रात जब वे एक पीपल वृक्ष के नीचे बैठे ध्यान–मग्न थे, उन्हें बुद्धत्व प्राप्त हो गया। उसे उस समय की प्रचलित मान्यताओं के मिथ्यात्व का बोध हो गया, उसे सांसारिक दुःख के मूल का पता लग गया, उसे दुःख–क्षय के मार्ग की भी जानकारी हो गई। उस ने देखा कि दुःख का मूल कारण है जीवन के प्रति स्वार्थ भरी तृष्णा और कि दुःख–क्षय का उपाय है दस परिमिताओं की पूर्ति। इन आर्यसत्यों का बोध होने से और यथार्थ जीवन में उन के चरितार्थ होने से बोधिसत्व को ज्ञान प्राप्त हो गया। उन्हें सम्बोधि का लाभ हुआ। वे बुद्ध हो गये। संबोधि को जो स्वबोधनम् कहा गया है, वह ठीक ही कहा गया है। उस से यह बात स्पष्ट हो जाती है कि संबोधि की प्राप्ती अपने प्रयास से ही होती है। इस में किसी बाह्य शक्ति, किसी ईश्वर आदि से कुछ भी सहायता नहीं मिलती।

अब भगवान् बुद्ध के जीवन में एक अत्यंत आपत्तिजनक प्रश्न आ उपस्थित हुआ। अनेक संघर्षों के परिणामस्वरूप उन्हें सत्य का अवबोध हुआ था, ऐसे सत्य का जो सार्थक था, किन्तु जो उतना ही बुद्धिगम्य था, ऐसे सत्य का जो कल्याणकारक था, किन्तु जिस को समझना सामान्य पृथक जनों के लिये शक्य न था। सामान्य जन सांसारिक होते हैं और विषयों के पीछे भटकते रहते हैं। यद्यपि उन में सत्य को जानने की और शीलमय जीवन बिताने की सामर्थ्य रहती हैं और वे यथार्थ ज्ञान प्राप्त कर सकते हैं, तो भी वे मिथ्या मान्यताओं के कारण अज्ञान में उलझे रहते हैं। क्या वे कर्म के सिद्धान्त को,

नैतिक जगत में कारण–कार्य के सम्बध को हृदयङ्गम कर सकेंगे ? क्या वे अपने आप को आत्मा की जंगली कल्पना से मुक्त कर सकेंगे और आदमी के वास्तविक स्वरूप को पहचान सकेंगे ? क्या वे ब्राह्मण–पुरोहितों की मध्यस्थता से मुक्त होने की मान्यता से ऊपर उठ सकेंगे ? क्या वे उस अनन्त शान्ति की अवस्था को प्राप्त हो सकेंगे, जो उन्हें निर्वाण तक ले जा सकेगी ? ऐसी अवस्था में क्या उस के लिये यह बुद्धिमानी की बात होगी कि जिन सत्यों का उस ने आविष्कार किया है, वह सभी मानवों को उन का उपदेश देता फिरे ? इस के लिये क्या उसे व्यर्थ का कष्ट सहन करना होगा और पछताना पड़ेगा ? इसी प्रकार के सन्देह और विचार उसे हैरान करने लगे । लेकिन शीघ्र ही मानवीय करुणा के विचार ने उन सभी शंकाओं का समाधान कर दिया। जिस ने अपनी सभी स्वार्थ की भावनाओं का परित्याग कर दिया था, वह परार्थ का जीवन बिताने के अतिरिक्त और क्या कर सकता था ? और दूसरों को निर्वाण का पथ दिखाने से बढ़कर दूसरा परोपकार भी क्या हो सकता था ? संसार में फैले हुए मानवों को उन बेड़ियों से छुटकारा दिलाने के प्रयास से बढ़कर दूसरी कौनसी सेवा भी मानवीय सेवा हो सकती थी ? क्या धर्म का दान सभी दानों से बढ़कर नहीं है ? जब तथागत ने पीड़ित मानवता के कष्टों का विचार किया, उन का दिल करुणा से ओत प्रोत हो गया। उन्हों ने निश्चय किया कि जिन अनादि सत्यों का उन्हों ने आविष्कार किया है, वे सभी मानवों तक उन सत्यों को पहुचायेंगे ।

इस निश्चय को लेकर तथागत ने वाराणसी की ओर प्रस्थान करने का संकल्प किया । वाराणसी सदियों से धार्मिक चिन्तन और धार्मिक जीवन बिताने वालों का मिलन–स्थान माना जाता रहा है । रास्ते में उन की मुलाकात उन के पूर्व-परिचित एक नग्न जैन मुनि से हुई । उस का नाम उपक था । तथागत की तेज- स्विता और शान्त मुद्रा से प्रभावित होकर उपक ने प्रश्न किया – 'वह तुम्हारा कौन सा गुरु है, जिस के कारण तुम ने गृह त्याग किया है ?'

तथागत का उत्तर था – 'मेरा कोई गुरु नहीं है। मेरे समान भी कोई नहींहै। मैं सम्यक् सम्बुद्ध हूँ। मुझे शान्ति मिल गई है। मैं निर्वाण प्राप्त हूँ। धर्म का साम्राज्य स्थापित करने के लिये मैं वाराणसी जा रहा हूँ। वहाँ मैं उन लोगों के लिये धर्म–प्रदीप प्रज्वलित करूँगा, जो अन्धकार आच्छन्न हैं।'

उपक बोला – 'तो क्या तुम विश्वविजयी जिन होने का दावा करते हो ?'

तथागत ने उत्तर दिया, 'जो आत्म–विजयी होते हैं, जिन्हों ने अपनी इन्द्रियों को जित लिया होता है, वे ही जिन कहलाते हैं। मैं ने अपने आप को जीत लिया है और निष्पाप हूँ। इस लिये मैं जिन हूँ।'

बनारस पहुंचने पर मृगदाय वन, इसीपट्टन में उन की भेंट कौण्डञ्ज और उन के चारों साथियों से हुई । उन्हों ने जब तथागत को उन की ओर आते देखा

तो उन्हों ने निश्चय किया कि वे न तो किसी भी तरह तथागत का आदर-सत्कार करेंगे, न उन्हें बैठने के लिये आसन देंगे और न पांवों धोने के लिये पानी तक देंगे । लेकिन जब तथागत समीप आ पहुंचे तो अपने निश्चय के बावजूद वे अपने स्थान से उठ–खड़े हुए, तथागत का स्वागत किया, पादोदक दिया तथा और भी जो कुछ करणीय था किया । लेकिन साथ ही उन्हों ने भगवान बुद्ध को उन के गोत्र के अनुसार 'गौतम' कह कर सम्बोधित किया। तथागत ने कहा –

'मुझे मेरे गोत्र से सम्बोधित मत करो । मैं अब अर्हत हूँ, सम्यक् सम्बुद्ध हूँ ।'

तब तथागत ने धर्म चक्र प्रवर्तन सूत्र का उपदेश दिया । इस सूत्र के माध्यम से उन्हों ने चारों आर्य सत्यों की तथा आर्य अष्टांगिक मार्ग की व्याख्या की । उन्हों ने उन पांचों जनों को भिक्षु की दीक्षा दी । पंच वर्गीय भिक्षुओं ने भिक्षु की दीक्षा ली, जिस से भिक्षु संघ की स्थापना हुई । इस के कुछ ही समय बाद यश नामक श्रेष्ठी–पुत्र से तथागत की भेंट हुई। वह वाराणसी का ही रहने वाला था और दुनिया के दुःखों से त्रस्त हुआ एक पागल आदमी की तरह इधर उधर भटक रहा था । तथागत ने उसे सान्त्वना दी और निर्वाण पथ का पथिक बनाकर उसे भी भिक्षु की दीक्षा दे दी । यह देख कि यश भिक्षु बन गया है उस के पहले के चौवन लंगोटिया यार भी भिक्षु बन गये । जब तथागत को मिलाकर दुनिया में अर्हतों की संख्या अड़सठ हो गई तो उन्होंने उन साठ भिक्षुओं को 'भिक्षुओं, बहुत जनों के हित के लिये, बहुत जनों के सुख के लिये विचरो' कह कर उन्हें नाना दिशाओं में धर्म प्रचारार्थ भेज दिया । कुछ ही समय बाद उरुवेल काश्यप, नदी काश्यप तथा गया काश्यप नाम के तीन जटिलों और उन के अनुयाईयों के दीक्षित होने से बुद्ध के भिक्षुओं की संख्या में एक हजार की और वृद्धि हो गई । इन सब को भगवान बुद्ध ने गया के पास की पहाड़ी पर अपना एक प्रवचन दिया, जिस में कहा, 'भिक्षुओं, सभी कुछ जल रहा है । अविद्या से रागग्नि, द्वेषाग्नि तथा मोहाग्नि की उत्पती होती है, जो सभी को जलाती है। अकुशल कर्मों के त्याग और सदाचार का जीवन बिताने से तीनों प्रकार की अग्नियों का शमन हो जाता है ।'

गया से अपने बहुसंख्यक शिष्यों के साथ तथागत मगध की राजधानी राजगृह पहुंचे । महाभिनिष्क्रमण के अनन्तर भी सिद्धार्थ राजगृह से गुजरे थे । मगध नरेश बिम्बिसार जब उन के बोधि–प्राप्ति के इरादे से उन्हें विमुख न कर सका तो उस ने उन से प्रार्थना की थी कि बुद्धत्व लाभ करने के अनन्तर वे पुनः राजगृह पधारें और उसे अपना अनुयाई स्वीकार करें । अपने उस वचन को पूरा करने के लिये तथागत पुनः राजगह पधारे । मगध–नरेश ने जब भगवान बुद्ध के राजगृह आगमन की बात सुनी तो वह अपने दरबारियों, सेनापतियों, मगध के बहुत से ब्राह्मणों और सेठों को साथ लिये लिये जहाँ भगवान बुद्ध ठहरे थे, वहां पहुंचा । जब मगधनरेश और उस के संगी साथियों ने उरुवेल काश्यप को शाक्यमुनि की

मन्डली में देखा तो उन के मन में सन्देह पैदा हुआ कि कहीं ऐसा तो नहीं है कि शाक्यमुनि ने उरुवेल काश्यप का शिष्यत्व स्वीकार कर लिया हो। लेकिन उरुवेल काश्यप ने भगवान बुद्ध के चरणों में दण्डवत प्रणाम करके शीघ्र ही उन के सन्देह की निवृत्ति कर दी। बाद में उस ने उन्हें समझाया कि निर्वाण का सुख मिल जाने पर उसे यज्ञ–याग तथा बलि–कर्म बेकार लगने लगे, क्यों कि उन के करने के फल–स्वरूप उसे अधिक से अधिक स्वर्ग–सुख तथा स्त्रियों की ही प्राप्ति हो सकती थी। भगवान बुद्ध ने अपने श्रोताओं की मानस–स्थिति का ख्याल कर उन्हें 'आत्मा' के बारे में उपदेश दिया। उन्हों ने समझाया कि यह ज्ञान का तथाकथित अधिष्ठाता समझे जाने वाला 'आत्मा' वेदनाओं और स्मृति से ही उत्पन्न होता है और इस लिये उस का निरोध भी अवश्यम्भावी है। उस प्रवचन को सुनकर स्वयं मगधनरेश और उन के अनेक अनुयाइयों ने बुद्ध, धर्म तथा संघ की शरण ग्रहण की और गृहस्थ शिष्य बन गये। राजा ने तब बुद्ध–प्रमुख भिक्षु–संघ को अपने महल में आने का निमंत्रण दिया। वहाँ उन्हें भोजन कराया और अपना वेळुवन नाम का बगीचा भिक्षु–संघ को रहने के लिये दान कर दिया।

तथागत के राजगृह निवास से जुड़ी हुई एक बहुत अधिक महत्वपूर्ण घटना है सारिपुत्र तथा मौद्गल्यायन का भिक्षु बनना। वे दोनों संजय परिव्राजक के शिष्य थे। एक दिन उन पांच भिक्षुओं में से एक अश्वजित, जो पहली खेप में प्रव्रजित हुआ था, भिक्षाटन के लिये जा रहा था। सारिपुत्र ने अश्वजित की मुद्रा देखी जो बड़ी ही शांत तथा गम्भीर थी। उस से प्रभावित होकर उस ने अश्तजित से पूछा – 'तुम्हारा शास्ता कौन है? उस की शिक्षा क्या है?'

अश्वजित का उत्तर था कि उस के शास्ता स्वयं बुद्ध है और उस ने कहा –

'ये धम्मा हेतुप्पभवा तेसं हेतु तथागतो आह।
तेसं च यो निरोधो, एवं वादी महासमणो॥'

(जितने भी हेतुओं से उत्पन्न होने वाले धर्म (=अस्तित्व) हैं, तथागत ने उन सभी का सही सही हेतु बता दिया है। उतना ही नहीं तथागत ने उन धर्मों का निरोध भी समझाया है। यही महाश्रमण (=बुद्ध) का वाद (=देशना) है।

यह बात सुनी तो सारिपुत्र मौद्गल्यायन के पास पहुंचे और उन्हें सारी वार्ता कह सुनाई। तब अपने सभी अनुयाइयों सहित वे दोनों तथागत के पास पहुंचे और बुद्ध, धर्म तथा संघ की शरण ग्रहण की। तथागत उन की प्रतिभा और विद्वत्ता के लिये दोनों की बड़ी कदर करते थे। त्रिपिटक के दार्शनिक अंश अभिधर्म के कुछ ग्रन्थों की रचना का श्रेय इन दोनों को दिया जाता है। जिस समय भगवान बुद्ध राजगृह के वेळुवन में विराजमान थे, उसी समय ब्राम्हण जाति के महा-काश्यप ने भी प्रव्रज्या ग्रहण की थी। उन का व्यक्तित्व विशेष प्रभावशाली था।

भिक्षु बनने के लिये उन्हों ने अपनी सुन्दर शीलवान् पत्नी का परित्याग किया था और अपनी विशाल धनसम्पत्ति का भी। भगवान् बुद्ध के परिनिर्वाण के के अनन्तर महाकाश्यप ने ही राजा अजात-शत्रु के संरक्षण में राजगृह की प्रथम संगीति की थी। उस संगीति में सभी भिक्षुओं ने मिलकर धर्म-विनय (= त्रिपिटक) का संगोपन किया था। देखा जाय तो महाकाश्यप ही भिक्षु संघ का प्रथम प्राचार्य था।

एक धर्म-संस्थापक के व्यस्त जीवन में तथागत ने बहुतों को धर्म-दीक्षा दी। ऊंचे और नीचे वर्ग के लोग, धनी और निर्धन, शिक्षित और अनपढ़, ब्राह्मण तथा चाण्डाल, जैन और आजीवक, गृहस्थ और जंगलों में रहने वाले तपस्वी, डाकू और मानव-भक्षी, जमीदार और किसान, पुरुष और स्त्रियों – प्रत्येक परिस्थिति और वर्ग के लोगों ने तथागत का श्रावकत्व स्वीकार किया, कोई भिक्षु बने, कोई गृहस्थ रहे। दीक्षा ग्रहण करने वालों में थे कोशल नरेश प्रसेनजित, कपिल का अनुयायी पञ्चशिख, बनारस का महाकात्यायन, कौशाम्बी का राजा उदयन, ज्ञानमति गांव के ब्राह्मणों का मुखिया कूटदन्त, एकनाल ब्राह्मण-ग्राम का मुखिया कृषि भारद्वाज, डाकू और हत्यारा अंगुलिमाल जिस से कोशल-जनपद के सभी लोग कापते थे, अटवी का मानव-भक्षी आलवक, उग्रसेन नाम का बाजीगर, नाई उपाली, जिसे महाकाश्यप द्वारा बुलाई गई प्रथम संगीति में ही विनय का संगायन करने का गौरव प्राप्त हुआ था, और मनुष्य द्वारा घृणा का पात्र समझा जाने वाला सुनीत। शाक्य जाति के कुछ लोग जो सिद्धार्थ के निकट सम्बन्धी थे, वे भी शाक्यमुनि के अनुयायी बन गये। सिद्धार्थ के पिता शुद्धोदन गृहस्थ उपासक बने। उनका पुत्र राहुल भिक्षु बन गया। सिद्धार्थ की पत्नि यशोधरा और उन की मौसी प्रजापति गौतमी दोनों भिक्षुणियां बन गईं। प्रजापति गौतमी के आग्रह और आनन्द की मध्यस्थता के कारण तथागत ने भिक्षुणी संघ की स्थापना तो कर दी थी, लेकिन ऐसा करने में उन के मन में बड़ी झिझक थी। आनन्द जो रात-दिन बुद्ध की सेवा में रहते थे और उनके साथ ही विचरते थे, शाक्यमुनि के रिश्तेदार थे।

उन का एक रिश्तेदार देवदत्त भी था, जो काफी प्रसिद्ध हुआ क्यों कि उस ने आगे चल कर एक दूसरा संघ बनाने की कोशिश की। अपने उस संघ के लिये वह भगवान बुद्ध द्वारा बनाये गये नियमों से भी कड़े नियम बनाना चाहता था। उसे अपने शिष्यों की संख्या बढ़ाने में विशेष सफलता न मिली। बिम्बिसार के पुत्र अजातशत्रु ने उस के लिये एक खास विहार बनवा दिया। तो उसने बुद्ध को मरवा डालने के लिये बहुत से षडयन्त्र रचे। शाक्यमुनि की हत्या करने के लिये हत्यारे नियुक्त किये गये। किन्तु उन हत्यारों ने जब तथागत के दर्शन किये और प्रवचन सुने, वे उन्हीं के हो गये। गृध्रकूट पर्वत पर से एक चट्टान गिराई गई ताकि वह उस के नीचे दब जायें। उस चट्टान के भी दो टुकड़े हो गये और दोनों

टुकड़े उन के पास से गुजर गये और उन्हें कोई विशेष हानी नहीं पहुंची । ठीक उसी समय जब तथागत सड़क पर चले आ रहे थे एक हाथी को शराब पिलाकर उसी रास्तेपर छोड़ा गया । वह हाथी भी जब उन के समीप आया तो शान्त हो गया । इन असफलताओं के बाह देवदत्त को अत्यधिक पछतावा होने लगा और वह अत्यन्त दुःखी मन से तथागत के पास पहुंचा, क्षमा याचना की और मार्ग–दर्शन चाहा ।

भगवान बुद्ध के शिष्यों में बारह शिष्य ऐसे थे जो धर्मोपदेशक के रूप में बहुत प्रसिद्ध हुए । ये थे अजात कौणडिन्य, अश्वजित्, सारिपुत्र, मौद्गल्यायन, महा-काश्यप, महाकात्यायन, अनुरुद्ध, उपालि, पिण्डोल भारद्वाज, कौस्थिल, राहुल तथा पूर्ण मैत्रायणीपुत्र । निर्वृत्त होने से कुछ ही समय पहले सुभद्र से बातचीत करते हुए तथागत ने कहा था कि मेरे धर्म–विनय से बाहर इन बारह धर्मो-पदेशकों के सदृश ऐसे उपदेशक जो लोगों में जागृति पैदा कर सकें, लोगों को उत्साहित कर सकें अन्यत्र कहीं नहीं हैं ।

जो बुद्ध शासन के संरक्षक थे और सेवक थे ऐसे लोगों में कोई भी इतने प्रसिद्ध नहीं हैं जितने प्रसिद्ध हैं अनाथपिण्डक, अनाथों का संरक्षक, वैद्यराज जीवक, मिगार की 'माता' विशाखा, वैशाली की जनपदकल्याणि अम्बपाली । सुदत्त जो अनाथों का संरक्षक होने के कारण अनाथ पिण्डक के नाम से मशहूर था श्रावस्ती का एक बहुत धनाढ्य व्योपारी था । उस ने जेत राजकुमार को बहुत सा धन देकर उस का बगीचा खरीदा और भगवान बुद्ध और उन के भिक्षुओं के रहने के लिये 'जेत-वनाराम' का निर्माण कराया । जीवक बिम्बिसार का राजवैद्य था । बिम्बिसार ने भगवान बुद्ध और उन के शिष्यों की भी चिकित्सा करने के लिये उस की नियुक्ति की थी । उसी के सुझाव पर भिक्षुओं को जो पहले फटे पुराने चीथड़े ही धारण करते थे गृहस्थ उपासकों द्वारा दिये गये चीवरों को पहनने की अनुमति मिली थी । विशाखा मिगार नाम के एक धनी सेठ की पुत्र–वधु थी । लेकिन वह मिगार की माता कहलाती थी, क्यों कि वह ही मिगार को बुद्ध के समीप लाई थी औस उस के शिष्यत्व का निमित्त कारण बनी थी । वह ही सर्वप्रथम गृहस्थ उपासिकाओं की संरक्षिका बनी थी और उसी ने भगवान बुद्ध से यह अनुमति प्राप्त की थी कि वह सभी भिक्षुओं तथा भिक्षुणियों को उन की चीवर आदि चारों आवश्यकताएं प्रदान कर सके । उसी की बुद्ध–शासन के प्रति एक दूसरी बड़ी सेवा थी श्रावस्ती के पास ही पूर्वारामविहार का निर्माण । अनाथ पिण्डक द्वारा बनवाया हुआ अकेला जेतवनाराम ही शान शौकत में पूर्वाराम से बढ़कर था । और अम्बपाली ? अम्बपाली सुन्दर थी, आकर्षक थी, मनोरम थी, नृत्य तथा संगीतकला में दक्ष थी, बांसुरी बजाती थी और उसी के कारण वैशाली की समृद्धि बढ़ती गई । उस ने भगवान बुद्ध को अपना राजकीय भवन और आम्र-वन समर्पित कर दिया और भिक्षुणी बन गई ।

शाक्यमुनि गौतम बुद्ध के समय में भारत में चिन्तन का एक तुफान सा आया था। गौतम बुद्ध के जितने प्रसिद्ध तो वे नहीं ही थे, तो भी अनेक बहुत से चिन्तक थे। बौद्ध ग्रन्थों में कम से कम छह नास्तिक चिन्तकों की चर्चा है। उन में से एक था संजय वेलट्ठिपुत्र, जो 'आत्मा' के सम्बन्ध में किसी भी प्रकार के ज्ञान की प्राप्ति की संभावना का सर्वथा निषेध करता था। वह नास्तिक था। अजित केस-कम्बली का कहना था कि किसी ध्यान आदि से ज्ञान प्राप्त नहीं हो सकता और आदमी पृथ्वी, जल, वायु तथा अग्नि के समूह के अतिरिक्त कुछ नहीं और मृत्यु होने पर ये धातु बिखर जाते हैं। पूर्ण काश्यप उपेक्षावादी था। वह न किसी आचरण को नैतिक मानता था, न अनैतिक, न पुण्य और पाप। संभवत: आजीवक सम्प्रदाय का संस्थापक मक्खली गोसाल भाग्यवादी था। वह किसी भी स्वतंत्र कर्म कर सकने की संभावना को स्वीकार नहीं करता था। उस के मतानुसार सभी कुछ 'नियति' पर निर्भर करता है। आदमी अपने जीवन को जैसा चाहे वैसा बनाने की कुछ भी शक्ति नहीं रखता। सभी को निश्चित संख्या में जन्म धारण करने पड़ते हैं और मृत्यु होने पर जानी अजानी सभी के दु:खों का समान रूप से अन्त हो जाता है। तथागत ने गोशाल के धर्म को सर्वाधिक निन्दनीय ठहराया है। जैनों में जिन्हें महावीर के नाम से पूजा जाता है, वह निर्ग्रन्थ नाथपुत्र जैन-धर्म के उद्धारक थे। वे व्यक्तिगत आत्मा की यथार्थता का प्रतिपादन करते थे और मानते थे कि मरणान्तर भी व्यक्तित्व बना रहता है। वे इतना ही नहीं कि आत्मा का संसरण मानते थे, बल्कि वे यह भी मानते थे कि पशुओं में तो 'जीव' होता ही है, बल्कि, निर्जीव माने जाने वाले पदार्थों में भी जीव होता है। उन के मुक्ति के मार्ग का आधार था तपस्या तथा अक्रियावाद। उनके मत के अनुसार आत्म-हत्या करना 'अच्छा था, हितकर था, ठीक था, कल्याणकर था और पुण्य था।' जैनों का कहना है कि महावीर के समय में भिक्षु, भिक्षुणियों और उपासक मिलाकर दो लाख अनुयायी थे।

तथागत की लोकप्रियता ने तथा उपासक मण्डली के भिक्षुओं को नानाविध परिष्कार प्रदान करने से बुद्धधर्म को न मानने वाले सम्प्रदायों के नेताओं में ईर्षा पैदा हो गई। उन्हों ने ऐसे षड़यन्त्र रचे कि शाक्यमुनि बदनाम हों और लोगों की नजर से गिर जायें। उन्हों ने चिंचा नाम की अपनी एक शिष्या को तैयार किया कि वह भरी सभा में शाक्यमुनि पर यह आरोप लगाये कि उन्हों ने उस के साथ सम्भोग किया है। उस की काली करतूत प्रकट हो गई और उसे अपने दुष्कर्म के लिये बहुत कष्ट भोगना पड़ा। इस विफलता से भी निराश न हो उन विधर्मियों ने तथागत के चरित्र को कलङ्कित करने के लिये एक और प्रयास किया। इस बार उन्हों ने अपनी एक उपासिका सुन्दरी को तैयार किया कि वह यह झूठी खबर फैला दे कि उस ने एक रात शाक्यमुनि के पास गुजारी थी। जब यह झूठी खबर फैल गई तो उन विधर्मियों ने शराबियों की एक मण्डली को सुन्दरी की हत्या करने के

लिये राजी किया। इन दुष्टों ने उस की हत्या कर दी और जेतवन विहार के पास की झाड़ियों में उस की लाश फेंक दी। तब वे विधर्मी चिल्ला चिल्ला कर मांग करने लगे कि शाक्य मुनि के विरुद्ध कानूनी कार्रवाई की जाय । सौभाग्य से उन की योजना चौपट हो गई। जिन हत्यारों ने सुन्दरी की हत्या की थी, अपना कुकर्म करने के अनन्तर वे एक शराबखाने में इकट्ठे हुए और शराब के नशे में आपस में झगड़ने लगे और एक दूसरे पर यह जुर्म करने का इलजाम लगाने लगे। पुलिस ने उन्हें तुरन्त पकड़ लिया और अदालत के सामने पेश किया। जब अदालत में उन से पूछताछ की गई तो हत्यारों ने न केवल हत्यारों के नामों की खुली घोषणा की बल्कि उन के नाम भी बताये, जिन्हों ने उन्हें ऐसा करने के लिये उकसाया था। राजा ने न केवल हत्यारों को बल्कि उन्हें भड़काने वालों को भी प्राण–दन्ड दिलवाया । एक दूसरे अवसर पर इन विधर्मियों ने श्रीगुप्त नाम के एक व्यक्ति को इस के लिये तैयार किया कि वह भगवान बुद्ध को विष–मिला भोजन खिला दे और उन्हें जलती आग के खड्डे में धकेल दे। तथागत ने ऐसे श्रीगुप्त को भी क्षमादान ही दिया था ।

तथागत की दैनिक चर्या अत्यन्त सरल थी । वे जल्दी उठते थे और बिना किसी की सहायता के अपना हाथमुँह–धोना और कपड़े पहनना कर लेते थे। इस के बाद वह एकांत में ध्यान करते थे और यह ध्यान करना भिक्षाटन के लिये निकलने के समय तक जारी रहता था । जब भिक्षाटन का समय हो जाता था, वह ठीक ढंग से चीवर धारण कर लेते थे, हाथ में भिक्षापात्र लेते और कभी अकेले, कभी कुछ भिक्षुओं के साथ पडोस के गाँव या कस्बे में चले जाते । किसी न किसी घर में भोजन कर चुकने के वाद, वे उस घर के मालिक और उस के परिवार के लोगों को उन की ग्रहण करने की सामर्थ्य के अनुसार धर्म–देशना करते थे। उस के बाद वे अपने निवासस्थान पर लौट आते थे और जब तक उन के सभी अनुयाइयों का खाना–पीना समाप्त न हो जाय बरामदे में प्रतीक्षा करते थे। उस के बाद वे अपने निजी कमरे में चले जाते थे और अपने कुछ शिष्यों को ध्यान करने के लिये कोई आलम्बन बताकर दोपहर की गरमी में थोडी देर आराम करते थे। अपराह्न में वे उस पडौसी गाँव या कस्बे के उन लोगों को जो सभागृह में एकत्र हुए रहते थे, उन की योग्यता के अनुसार देशकालानुरूप प्रवचन सुनाते थे । इस के बाद शाम होने पर, आवश्यकतानुसार स्नान करते थे और उस के अनन्तर अपने कुछ शिष्यों को उपदेश देते थे और उन का शङ्का–समाधान करते थे । रात्रि के प्रथम याम का उन का यही कार्यक्रम होता था । रात का बाकी समय या तो वह चन्क्रमण करते हुए ध्यान–भावना करने में बिताते थे या अपने कमरे में लेटकर सोते थे। अच्छी ऋतु के नौ महीनों में भगवान बुद्ध एक गांव से दूसरे गाँव चारिका ही करते रहते थे। वे एक एक दिन में पन्द्रह से बीस मील तक चलते थे। वर्षा ऋतु में वे या तो जेतवन में रहते थे या पूर्वाराम में ।

भगवान बुद्ध का अपने विषय को प्रतिपादन करने का ढंग ब्राह्मणों के ढंग से सर्वथा भिन्न था। अपने विचारों को ब्राह्मणों की तरह संक्षिप्त सूत्रों में उपस्थित करने की बजाय वे अपनी शिक्षाओं को प्रवचनों के माध्यम से उपस्थित करते थे। कुछ थोड़े से लोगों तक रहस्यवादी ढंग से अपनी बात पहुंचाने का प्रयत्न करने की बजाय वे उन बहुसंख्यक लोगों की उपस्थिति में जो उन्हें सुनना चाहते थे, प्रवचन देते थे। वे ऐसे ढंग से बोलते थे कि उन की बात सब की समझ में आ जाय। वे अपनी बात बार बार दोहराते भी थे ताकि ऐसे लोग भी उन की बात हृदयङ्गम कर सकें जो ध्यान से नहीं सुनते या जिन के चित्त में संकल्प–विकल्पों का तांता लगा रहता है। वे अपने श्रोताओं की सामर्थ्य के अनुरूप देशना करते थे। वे सर्व-प्रथम दान का महत्त्व समझाते थे, सदाचार की प्रशंसा करते थे, भावी सुख की बातें करते थे, कामुकता से उत्पन्न होने वाले खतरों से सावधान करते थे और कामुकता के त्याग से उत्पन्न होने वाली प्रीति की तारीफ करते थे। जब वे देखते थे कि उन के श्रोताओं का चित्त उन क्लेशों से ऊपर उठ गया है, जो किसी सूक्ष्म विषय को हृदयङ्गम होने नहीं देते तो वह बृद्धों की जो विशेष देशना है, दु:ख, दु:ख–समुदय, दु:ख निरोध तथा दु:ख–निरोध के मार्ग का उपदेश देते थे। यह जो भगवान बुद्ध के देशना–क्रम और ब्राह्मणों की पद्धति में बारीक भेद था, वह बुद्ध धर्म के सार की एकदम गहराई तक जाता है। बुद्ध धर्म लोगों का धर्मान्तिर करने वाला धर्म है।

विद्वानों से जब उन की चर्चा होती थी तो अनेक बार औपचारिक और तर्क–प्रधान, लेकिन जब वे सामान्य लोगों से बातचीत करते थे तो वे उपमाओं का, कथाओं का, मुहावरों का, ऐतिहासिक तथा पौराणिक घटनाओं का उपयोग करते थे। अगले परिच्छेद में जो सरसों के दानों की कथा दी गई है वह बताती है कि भगवान बुद्ध कुछ गम्भीर से गम्भीर विषय को भी किस प्रकार सामान्य लोगों को हृदयङ्गम करा देते थे। कृषि भारद्वाज के साथ हुई बातचीत में उन्हों ने अपनी खेती को एक विस्तृत रूपक का रूप दे दिया था। एक बार मगध के दक्षिणागिरि प्रदेश में विचरते समय भगवान बुद्ध ब्राह्मणों के एकनाल गाँव में पहुंचे। उस समय भारद्वाज ब्राह्मण अपनी खेती का निरीक्षण कर रहा था। भिक्षापात्र हात में लिये शाक्यमुनि भारद्वाज ब्राम्हण के समीप गये। खेती में लगे लोगों ने तथागत को प्रणाम किया, किन्तु उस ब्राह्मण ने तथागत को भली-बुरी सुनाई। बोला – 'अरे श्रमण ! मैं हल चलाता हूँ और बीज बोता हूँ और तब खाता हूँ। अच्छा होगा कि तू भी हल जोते, बीज बोये और तब खाये।' तथागत का उत्तर था – 'अरे ब्राह्मण ! मैं भी हल जोतता हूँ, बीज बोता हूँ और तभी खाता हूँ।' ब्राह्मण की जिज्ञासा थी, 'यदि तुम भी किसान हो, तो तुम्हारा खेती का साजोसामान कहाँ है? तुम्हारे बैल कहाँ है? बीज कहाँ है? हल कहाँ है?' तब तथागत ने प्रत्युत्तर दिया – 'मैं श्रद्धा का बीज बोता हूँ, भक्ति वह पाणी है जो

खेतों को सींचती है, विनम्रता हल की नाल है, चित्त जुए की रस्सी है, स्मृति काल है और अंकुश है, सच्चाई रस्सी है, और कोमलता गाण्ठ खोलना है। मेरी सामर्थ्य ही मेरे बैल है। इस प्रकार अविद्या के खर-पतवार को नष्ट करती हुई मेरी यह खेती होती है। इस से जो फसल होती है, वह अमृतरूपी निर्वाण की और इस खेती से दु:ख का समूल नाश हो जाता है।'

तब ब्राह्मण ने एक स्वर्ण-पात्र में खीर परोसी और कहा – 'गौतम ! खीर ग्रहण करें। आप सचमुच एक किसान हैं। आप की खेती से अमृत की फसल पैदा होती है।'

जब तथागत को किसी को कोई उपदेश देना होता था या किसी की भर्तसना करनी होती थी तो वे एक कहानी सुनाते थे। उस कथा के पात्रों का उन के पूर्वजन्मों से सम्बन्ध होता था। ऐसी सभी कथायें जातक-कथा कहलाती हैं।

उन के व्याख्यानों और उनके भाषणों से भी कहीं अधिक प्रभावशाली था उन का अद्भुत व्यक्तित्व। जब वे आदमियों से बातचीत करते थे तो उन की गम्भीर मुद्रा लोगों के मन में आदरसम्मान की भावना को जन्म देती थी और उन का मीठा स्वर लोगों को आश्चर्य में डाल देता था। क्या शब्द मात्र से डाकू अंगुलि-माल और अटवी के मानव-भक्षी में परिवर्तन आ सकता था ? जिस पर तथा-गत का जादू चल जाता था, वह सदैव के लिये उन्हीं का होकर रह जाता था। वे लोगों के दिल जीतने वाले थे। उन के श्रोता उन के वचनों पर विश्वास करते थे, वह इस लिये नहीं के वे सत्य-प्रचार करते थे, बल्कि इस लिये क्योंकि उन्हों ने लोगों के दिलों को जीत लिया था, इस लिये लोगों को उन के वचन सत्य प्रतीत होते थे। राजा प्रसेनजित और मल्लिका में जब झगड़ा होता था, तो उन के एक शब्द से ही उन दोनों में मेल-मिलाप हो जाता था। उन का दिल करुणा का सागर था। क्या यह तथागत की मैत्री का ही तुफान न था जिसने रोज को उन के पीछे पीछे चलने पर मजबूर किया जैसे बछड़ा गौ का पीछा करता है। उन से मिलने से आदमी उन की मैत्री से बिंध जाता था। जो उन्हें एक बार जान लेता था, वह हमेशा के लिये उन्हीं का हो जाता था।

चारिका करते करते अन्तिम दिनों में शाक्य-मुनि पावा पहुंचे। वहाँ उन्हों ने चुन्ड नाम के एक लोहार या सुतार के घर में अन्तिम भोजन किया। इस के बाद वे बीमार पड़ गये। तब वे नैपाली तराई के पूर्वाञ्चल में स्थित कुसीनारा नगरी जा पहुंचे। वहाँ वे अस्सी वर्ष की पकी आयु में ४८३ ई. पूर्व में परिनिर्वृत्त हो गये। अपने अन्तिम समय में भी उन्हों ने सुभद्र नामके एक श्रमण को अपने पास आने दिया, उस के सामने आर्य अष्टांगिक मार्ग की व्याख्या की और उसे दीक्षित किया। अपने शिष्यों को जो अन्तिम उपदेश उन्हों ने दिया वह था 'सभी संस्कार अनित्य हैं। अप्रमादपूर्वक अपने उद्देश की सिद्धि में लगे रहो।'

कुसीनगर के मल्लों ने तथागत की अन्त्येष्टि उसी ठाटबाट से की जैसी किसी सम्राट की होती है। अन्त्येष्टि के अनन्तर उन के शरीर के पवित्र–धातु बल्लमों के एक गुंबछ के नीचे रखे गये, जो चारों ओर से तीरकमानों से घिरा था। उन धातुओं की फूल मालाओं से सुगन्धित द्रव्यों से, संगीत और नृत्यों से पूजा की गई। मगध नरेश अजातशत्रु ने जब यह सुना कि कुशीनगर में भगवान बुद्ध का परिनिर्वाण हो गया है, उस ने कुसीनारा के मल्लों के पास अपना एक राजदूत भेजा और मांग की कि उसे तथागत के शरीर–धातुओं का एक हिसा दे दिया जाय क्यों कि वह उन पर एक स्तूप बनवाकर उन की पूजा करना चाहता था। वैशाली के लिच्छवियों ने भी यही मांग की, कपिलवस्तु के शाक्यों ने भी की, अल्हप्प के बुल्लियों ने भी की, रामग्राम के कोलियों ने भी की, और पावा के मल्लों ने तो की ही। वेठ्ठद्वीप के एक ब्राह्मण ने भी मांग की कि उसे भी अस्थियों का एक हिस्सा मिलना चाहिये क्योंकि वह ब्राह्मण है। आरम्भ में कुशीनगर के मल्लों का इरादा नहीं था कि किसी की भी मांग पूरी करें। वे इसके लिये झगड़ा करने को तैयार थे। उन का कहना था कि तथागत का परिनिर्वाण हमारे जनपद में हुआ है, हम किसी को कुछ भी नहीं देंगे। लेकिन जब द्रोण ब्राह्मण ने उन्हें समझाया कि जो भगवान् बुद्ध सभी के साथ भाई–चारे का उपदेश देते रहे हैं, उन की अस्थियों को लेकर आपस में झगड़ना ठीक नहीं तो उन्हों ने अपना विचार बदल दिया।

द्रोण पर ही तब बंटवारे का काम सौंपा गया। जिस बरतन से उस ने उन धातुओं का बटवारा किया था, वह बरतन उस ने स्वयं ले लिया। उस की इच्छा थी उस बरतन पर एक स्तूप बनवाने की। बंटवारा हो चुका तो विप्पलवन के मौर्यों का भी एक दूत आया। उन्हों ने भी अस्थियों की मांग की थी। उन्हें केवल चिता के अंगारों से संतोष करना पड़ा। जिन जिन को धातुओं (=अस्थियों) के हिस्से मिले थे, उन सभी ने अपने अपने यहाँ उन अस्थियों पर स्तूप (धातुगर्भ) बनाये। कहा जाता है कि सम्राट अशोक ने उन सभी प्राचीन स्तूपों को उधड़-वाया और उन में जो धातु रखे थे उन्हें देशभर में बंटवाया और उन पर अस्सी हजार से भी अधिक स्तूप बनवाये।

श्रद्धालु जनों की काल्पनिक अतिशयोक्तियों से मुक्त बुद्ध चरित्र की यही रूपरेखा है। इस में कितना अंश वास्तविक इतिहास है, कहना जरा कठिन है। लेकिन शाक्यमुनि गौतम बुद्ध के एक ऐतिहासिक व्यक्तित्व होने के बारे में सन्देह नहीं किया जा सकता। *

---

* यहाँ बुद्ध की ऐतिहासिकता के बारे में थोडासा शास्त्रीय विवाद है, जो हिंदी पाठकों के किसी उपयोग का नहीं। – (अनुवादक)

शाक्यमुनि गौतम के जीवन चरित्र के सम्बध में ब्योरे की बातों को लेकर कितनी ही शास्त्रीय चर्चा की जाती रहे, इस में संदेह नहीं कि धर्मों के संस्थापकों में उन का अपना स्थान है । उन की गम्भीर मुद्रा, उन की ऊंची चिन्तन सामर्थ्य, उन की बींधने वाली दृष्टि, उन की असाधारण भाषण शक्ति, उन की मान्यताओं की दृढता, उन की कोमलता, उन की कृपा, उन की उदारता तथा उन के चरित्र की आकर्षणशीलता – सभी उन के महान व्यक्तित्व की साक्षी देते हैं । 'जो पूर्वकालीन काफिर सत्य शोधक रहे हैं' बिशप मिलमैन का कहना था, 'मुझे लगता है कि चरित्र की दृष्टि से, प्रभाव की दृष्टि से, उन में से शाक्य-मुनि ही उस के समीपतम थे, जो मार्ग था, जो सत्य था ओर जो जीवन भी था।' इसी प्रकार बारथेलेमी सेन्ट हिलेअर (जो बुद्ध धर्म का भयानक टीकाकार था) ने भी लिखा है – 'ईसा मसीह को छोड़कर किसी भी धर्म का कोई भी दूसरा संस्थापक ऐसा नहीं हुआ है जो बुद्ध से बढ़कर पवित्र हो, जो बुद्ध से बढ़कर मर्मस्पर्शी हो । उन के जीवन चरित्र पर कहीं कोई धब्बा नहीं हैं, वह वीरता की साकार मूर्ति थे, आत्म त्याग की भी, प्रेम की भी तथा माधुर्य की भी। ' लेकिन एक निष्पक्ष दार्शनिक आलोचक का तो कहना है कि सभी धर्मों के संस्थापकों से शाक्यमुनि गौतम बुद्ध बढ़कर हैं, चाहे उन के जीवन की तुलना करो, चाहे व्यक्तिगत चरित्र की, चाहे उन के प्रचार के ढंग की और चाहे उन की सफलता की। उन के चरित्र में एक राजा की तेजस्विता थी, एक ऋषि की बुद्धिमत्ता थी और थी एक शहीद की उग्र भक्ति। यद्यपि उन का जन्म एक ऊंचे घराने और शासक वर्ग में हुआ था, गौतम बुद्ध ने एक सामान्य आदमी का जीवन बिताया। उन्हों ने अपनी जाति, अपने पद और अपने धन से मिली प्रतिष्ठा को भुला दिया। वे संसार को समझते थे। वे पुत्र भी थे, पति भी थे, पिता भी थे और एक समर्पित मित्र भी थे । वे न केवल एक मनुष्य थे, किन्तु उन्हों ने कभी भी एक मनुष्य से अधिक कुछ भी होने का दावा नहीं किया। उन्होंने अपने पूर्वजों के जीवन दर्शन को स्वीकारा, लेकिन बाद में स्वयं एक श्रेष्ठतर जीवन–दर्शन अपनाया। उन की शिक्षाओं में किसी भी बात की कमी न थी, लेकिन उन्हों ने उन के कभी भी 'इल्हामी' होने का दावा नहीं किया । उन्हों ने आदमी की सत्य को समझने की शक्ति में कभी अविश्वास नहीं किया और कभी भी जादू–टोने या मन्त्र–तंत्र का सहारा नहीं लिया। उन्हों ने अपना सारा दर्शन मनुष्य के अस्तित्व को आधार मानकर रचा और अपने उस दर्शन को मानवप्रकृति के सूक्ष्म निरीक्षण से विकसित किया । जिस समय लोग विज्ञान से अपरिचित थे, उन्हों ने कहाँ से, किधर और क्यों की समस्याओं के ऐसे समाधान उपस्थित किये जो आज के वैज्ञानिक युग के लिये भी कम गौरव की बात नहीं है। उन का उद्देश था मानवता को राग–द्वेष के बन्धनों से मुक्त करना और उन को सामान्य मानवी जीवन से श्रेष्ठतर आदर्शों में प्रतिष्ठित करना। उन्हों ने ध्यान के द्वारा प्राप्य स्वार्थ–त्याग की भावना

का प्रचार किया, ऐसा स्वार्थ–त्याग जो किसी को भी बहुदेववाद अथवा उच्छेद-वाद की स्वप्निल निष्क्रियता की ओर नहीं ले जाता। वह किसी को भी मानसिक तथा नैतिक प्रयास से जीवन–शुद्धि की ओर ही अग्रसर करता है। ऐसा होने से आदमी सभी प्राणियों से प्रेम करने लगता है और अनन्त धर्मकाय में उस की आस्था दृढ़ हो जाती है।

संसार के धर्मों के संस्थापकों में अकेले शाक्यमुनि गौतम को ही यह गौरव प्राप्त है कि उन्हों ने बिना किसी बाह्य सहायता के अपनी मुक्ति प्राप्त कर सकने की आदमी की अन्तर्भूत महानता को पहचाना। यदि किसी भी आदमी की यथार्थ महानता इसी बात में निहित है कि वह कितनी मात्रा में मानवता की महानता की ओर अग्रसर करता है तो शाक्यमुनि गौतम बुद्ध से बढ़कर दूसरा कौनसा महान आदमी हुआ है? उन्हों ने किसी दूसरे को आदमी के सिर पर बिठा कर उसे पतनोन्मुख नहीं बनाया, बल्कि उसे ऊपर उठाकर प्रज्ञा और मैत्री के ऊंचे से ऊंचे शिखर पर विराजमान कर दिया। उन की मूर्ति सर्वश्रेष्ठ है, सम्पूर्ण है और आदमी उसे साकार कर सकता है। यह मानवों के हृदय में उत्पन्न ऐसी प्रतिभा थी, जिस की किसी से बराबरी नहीं की जा सकती कि जिस से बुद्ध–धर्म की उत्पत्ति हुई। यह उन की अनुशासनात्मक प्रतिभा थी, जिस ने उन के संघ को संगठित बनाये रखा। और यह भी प्रथम और अन्तिम बार उत्पन्न हुई प्रतिभा ही थी जो भारत में उत्पन्न हुई और जिस के माध्यम से लोगों के एक महान राष्ट्र के रूप में संगठित होने की, यदि कभी ऐसा संभव हुआ, संभावना उत्पन्न हुई। इस में कोई सन्देह नहीं कि तथा-गत 'विश्वभर के प्रकाश' हैं। इस में कौनसा आश्चर्य है कि जिन लोगों ने पहले उन की शिक्षाओं को त्याज्य ठहराया उन्हीं लोगों ने उन्हें उस विष्णु का औतार बनाकर, जिस विष्णु को उन्हों ने स्वयं ठुकराया था, अपने पूज्य देवताओं की श्रेणी में ला बिठाया।*

कोई भी महान उपदेशक इतने अनीश्वरवादी नहीं हुए जितने भगवान बुद्ध और कोई भी महान उपदेशक इतने ईश्वर सदृश नहीं हुए जितने भगवान बुद्ध। यद्यपि सभी के स्वामी थे, तो भी वे सभी के भ्राता भी थे। दुनिया के लोगों की मूर्खताओं की आलोचना करते हुए वे दुनिया में विचरते थे, लेकिन साथ ही प्रज्ञा और मैत्री का जीवन जीते थे। जब वे अपने अनुयाइयों से घिरे रहते थे और सारी दुनिया उन का यशोगान करती थी, तब भी वे एक पल के लिये भी न सोचते थे कि यह सब उन का ऐश्वर्य हैं। वे कुशल–कर्म करते चले जाते थे, ठीक वैसे ही जैसा वर्षा होती है, उस से लोगों को खुशी होती है, लेकिन वर्षा इस के बारे में कुछ भी सोचविचार नहीं करती है। यद्यपि वे बहुत सत्कृत थे और पूजित थे, तब भी उन्हों ने 'देवत्व' को नहीं ओढ़ा। बर्मा के लोग कहते हैं कि एक बार

*क्या हिन्दुधर्म, ईसाइयत, क्या इस्लाम, क्या जापान के ताओ और शिन्तो धर्म, सभी किसी न किसी मात्रा में बौद्ध धर्म से प्रभावित हैं। (अनुवादक)

जब भगवान बुद्ध ने लोगों को उन की प्रशंसा के गीत गाते सुना, उन्हों ने आनन्द को बुलाकर कहा – 'यह सब मुझे नहीं चाहिये । इन गीतों से धर्म का पालन नहीं होता । जो लोग कुशल–कर्मों के करने में लगे रहते हैं वे ही मेरा अधिक से अधिक सत्कार करते हैं और मुझे अधिक से अधिक प्रसन्न करते हैं । जो पक्षपात रहित चिन्तक है, उस के लिये जिन पौराणिक कथाओं से बुद्ध का चरित्र घिरा हुआ है, वे कथायें भी सार्थ हैं । वे उस के सामने एक सचमुच प्रशंसनीय व्यक्तित्व ला उपस्थित करती हैं, एक गंभीर मुद्रा, प्रज्ञा और सुकोमल विनोद, विचार, वाणी तथा कर्मों में एकरूपता, सम्पूर्ण सम–भाव, शीलसम्पन्नता, हर प्रकार के पक्षपात से रहित, बुराई पर भलाई से विजय और सभी प्राणियों के प्रति असीम कृपालुता । ऐसी कथाओं में से कुछ तथाकथित जातककथाओं में बताया गया है कि भगवान बुद्ध ने अनन्त जन्मों में असीम कष्ट सहन किये कि वे मानवता का उद्धार कर सकें । उन्होंने अपने निर्वाण–प्रवेश के अवसरों को त्याग दिया, वे बार बार संसार में जन्म धारण करते रहे ताकि वे लोगों को दुःख–दर्द से मुक्ति का मार्ग सिखा सकें । शिष्य के सामने सतत अप्रमाद में लगे रहने का यह आदर्श अत्यंत मानवीय है । यदि यह माना जाय कि सामान्य मानव की अपेक्षा तथागत के गुण पराकाष्ठा पर पहुंचे हुए हैं तो भी वे गुण आदमी के लिये एक जीवन–आदर्श उपस्थित करते ही हैं । शिष्य बुद्ध के चरित्र को हमेशा एक आदर्श की तरह अपने सामने रख सकता है ताकि वह उसे तथागत के वीरता–पूर्ण और साधुता–युक्त जीवन की एक साथ याद दिलाता रहे । इस में वह स्वयं भी एक वीर योधा और एक सत्पुरुष साथ साथ बना रह सके । सभी प्राणियों के लिये असीम अनुकम्पा की दृष्टि से नाप–जोख की जाय तो तथागत की कोई तुलना ही नहीं और यह कवि की उड़ान नही है, बल्कि गम्भीर दार्शनिक सत्य है जो तथागत को सर्व श्रेष्ठ सिद्ध करता है ।

'छोटे बड़े सभी से जो असीम प्रेम करते थे ।'

दूसरा परिच्छेद

बौद्ध धर्म का बुद्धिवाद

क्या बौद्धधर्म एक जीवन–दर्शन और व्यावहारिक नीतिशास्त्र है, अथवा एक मजहब है ? इस प्रश्न का उत्तर मजहब की परिभाषा पर निर्भर करेगा। यदि मजहब का मतलब है कुछ ऐसा श्रोत जो आदमी के मन को उत्साह और प्रेरणा से भर दे, जो आदमी को जो सर्व श्रेष्ठ है उस की ओर झुका दे, जो आदमी के सामने सम्पूर्ण मानव बनने के सर्वोत्तम आदर्श को उपस्थित करे और उसे सामान्य आदमी के स्तर से ऊपर की ओर उठाये और उस के मन में ऊंचा और श्रेष्ठतर जीवन बिताने की ललक पैदा करे, जो जब आदमी के मन में एक आकांक्षा बनकर उदय होती है तो वह आदमी आत्मार्थ को भूल जाता है और दूसरे दूसरे प्राणियों का हित साधने में लग जाता है, तो बौद्ध धर्म भी निश्चयात्मक रूप से एक मजहब है। इस ने पृथ्वी के कम से कम पचास करोड़ मानवों को नैतिक जीवन बिताने और आध्यात्मिक आनन्द मनाने की प्रेरणा दी है, इस ने आदमियों को भौतिक कष्ट उठाने और बुरे दिन काटने की सामर्थ्य दी है, इसने आदमियों को भला, दयालु, उदार, पवित्र और मैत्री युक्त बनाया है। लेकिन यदि हम मजहब का आरम्भ ही किसी अदृश्य, बुद्धि से अगोचर तत्व की तलाश से शुरु करें, या अनन्त के फेर में पड़े, या जिसे सभी वस्तुओं और व्यक्तियों का कारण तथा नियामक माना जाता है ऐसे किसी पराप्राकृतिक अस्तित्व से डरने की बात करें, जिस पर आदमी अपने को निर्भर मानता है और अपने पूजा–पाठ में जिस से याचना तथा प्रार्थना करता है तो बौद्धधर्म निश्चयात्मक रूप से मजहब नहीं। क्योंकि बौद्धधर्म तो पराप्राकृतिक पर थोड़ी मात्रा में भी निर्भर नहीं करता और आदमी से यही आशा करता है कि वह दुःख से मुक्ति के लिये अपने ऊपर ही निर्भर करे। बौद्ध धर्म की जो बात सब से अधिक हमारा ध्यान आकर्षित करती है वह यह है कि यह अज्ञात को लेकर जितनी भी मान्यतायें हैं उन सभी की उपेक्षा करता है और जो दैनन्दिन की घटनायें हैं उन्हीं को विचारणीय ठहराता है। एक बार तथागत ने एक ब्राह्मण को कहा था, 'हे ब्राह्मण ! बहुत से श्रमण–ब्राह्मण हैं जो दिन को रात कहते हैं और रात को दिन कहते हैं। लेकिन हे ब्राह्मण ! मैं दिन को ही दिन कहता हूं और रात को ही रात कहता हूं।' एक दूसरे ब्राह्मण को उन्हों ने स्पष्टतया कहा,

'तथागत सभी मान्यताओं से ऊपर हैं ।' बौद्ध धर्म का क, ख, ग किसी परा-प्राकृतिक के सम्बन्ध में कोई मान्यता या विश्वास नहीं है, लेकिन यह जो दुःख और कष्ट का होना है, वह है । दुःख और कष्ट भी केवल गरीब और दरिद्र लोगों का नहीं, बल्कि उन का भी जो ऐशोआराम में पड़े रहते हैं । बौद्ध धर्म का आदर्श न स्वर्ग है और न किसी परमात्मा या ब्रह्म में लीन होना है । उस का आदर्श है आदमी के लिये, अपने मानसिक तथा नैतिक जीवन को लेकर आत्म संयम और आत्म-विकास के माध्यम से एक आश्रयस्थान का निर्माण कर लेना । बौद्ध को संसार की प्रकृति की उतनी चिन्ता नहीं जितनी उस के व्यावहारिक पक्ष की । हाँ, जहाँ तक उस का यह विश्वास है कि कुछ नैतिक शक्तियां एक तरह के जीवन पर असर डालती हैं वह धार्मिक है । यदि वह किसी बाह्य पराप्राकृतिक शक्ति में विश्वास नहीं करता तो भी वह धर्मकाय में तो विश्वास करता है । यह एक ऐसी वास्तविकता है जो उस के आदर्शों के प्रति उस के दृष्टिकोण को मान्य ठहराती है और यह विश्वास जीवन के मूल्यों को वैसे ही बनाये रखता है जैसे किसी साकार परमात्मा में विश्वास ।

तथ्यों की दृढ़ चट्टान पर खड़े होकर, तथाकथित इलहामी धर्मों की तरह बौद्ध धर्म ने कभी भी इस बात से इनकार नहीं किया कि बुद्धि ही सत्य का अन्तिम निर्णायक है। भगवान् बुद्ध जब विचरते विचरते कालामा क्षत्रियों के गाँव में पहुंचे, तो वे बोले - 'भगवन् ! कुछ श्रमण-ब्राह्मण हमारे गाँव में आते हैं और अपने अपने मत की स्थापना करते हैं, हर कोई आग्रहपूर्वक कहता है कि उस का जो मत है वही अन्तिम सत्य है, शेष सभी कुछ मिथ्या है । भगवन् ! इस कारण हमारे मन में सन्देह उत्पन्न हो गया है और हम यह नहीं जानते कि हम इस मत को अंगीकार करें।' तथागत का समाधान था,* 'कालामों ! सन्देह का उत्पन्न होना स्वाभाविक है। किन्तु पुराने समय से चली आ रही होने के कारण ही किसी बात में विश्वास मत करो, किसी बात को इस लिये भी स्वीकार मत करो कि उसे बहुसंख्यक लोग मानते है, किसी बात को इस लिये भी मत स्वीकार करो कि वह किसी धर्म ग्रन्थ में लिखी हैं। किसी बात को इस लिये भी स्वीकार न करो कि वह असाधारण प्रतीत हो, बल्कि उसे अपनी बुद्धि की कसौटी पर कसो और जब ऐसा लगा कि वह तुम्हारे लिये और सभी के लिये हितकर है तो उसे स्वीकार करो और अपने जीवन में उतारों।' इस प्रकार बौद्ध धर्म किसी भी बात को बिना छान-बीन किये स्वीकार करने के लिये नहीं कहता। यह नहीं कहता कि किसी बात के समझ में आने के लिये उस में विश्वास करो। यह किसी भी प्रश्न को लेकर ऐसा नहीं कहता कि 'यह विश्वसनीय है, क्यों कि इतनी बेहुदा है, यह सत्य है क्यों कि यह इतनी अधिक असम्भव है।' कभी कभी यह कहा जाता है कि जीवन में तर्क की अपेक्षा विश्वास ही अधिक फलदायक होता है। यदि हम

* कालामा सुत्त, अंगुत्तर निकाय ।

एक बार विश्वास करने की सार्थकता को स्वीकार करें तो हमें अविश्वास करने की सार्थकता को भी स्वीकार करना चाहिये। और यह विश्वास करने की चेतना अन्ततः है क्या? जिस बात को तुम जानते हो कि अनहोनी है, उसे सत्य मानना, अपने आप को इतना मति–भ्रष्ट और सम्मोहित कर लेना कि जो बात स्पष्ट रूप से गलत है, उसे सही स्वीकार कर लेना! यह विश्वास करने की चेतना पहले अपने आप को धोका देने और बाद में दूसरों को धोका देने के अतिरिक्त और कुछ नहीं है। यह ढोंग के लिये केवल एक श्रुति–मधुर शब्द है, जो किसी सम्प्रदाय-विशेष या किसी ईसानुयायी के हित में हो सकता है, किन्तु वास्तविक धर्म या सत्यान्वेषी के हित में नहीं। यह कल्पना–मात्र के लिये आनन्द–प्रद हो सकता है किन्तु यह न तो स्थायी सुख दे सकता है और न अन्धकार से संघर्ष करने की सामर्थ्य। यदि धर्म एक मान्यता मात्र न होकर एक ज्ञान है, एक सन्देह न होकर एक निश्चय है, मृत्यु में भी एक आशा की किरण है और व्यर्थ का भावोन्माद नहीं है, जीवन का एक नियम है और एक अस्पष्ट हर्षोन्माद नहीं है, एक निश्चित स्वीकार करने योग्य, मेल–मिलाप युक्त तर्क–शुद्ध पद्धति है और भावनाओं का गैरजिम्मेदार उछाल मात्र नहीं है तो इस का आधार मिथ्या विश्वास न होकर, परम्परा न होकर, विश्वास करने की चेतना न होकर और व्यवहारिक उपयोगिता मात्र भी न होकर, यथार्थ बुद्धिवाद होना चाहिये। जातक माला में आया है जो तर्कों का आश्रय लेकर तर्कों का ही खण्डन करता है, वह अपने पाँव पर आप कुल्हाडी मारता है।

सभी धर्मों में बौद्ध धर्म ही आदमी को सब से अधिक मानसिक तौर पर क्रिया-शील रहने के लिये कहता है। तथागत चाहते थे कि हर आदमी सन्देह से आरम्भ करे, पूछे और इस से पहले कि वह उन के बताये हुए पथ पर चले, पूरी पूरी तरह अपना समाधान कर ले। 'किसी को भी मेरी बात, केवल मेरे प्रति गौरव का भाव होने के कारण स्वीकार नहीं करनी चाहिये' बुद्ध का आदेश था, 'बल्कि जिस प्रकार सुनार सोने को आग में तपाकर देखता है उसी प्रकार मेरी बात को अपने अनुभव की कसौटी पर कसना चाहिये।' इस लिये शाक्यमुनि यथार्थ और गलत का निर्णय करने के लिये किसी शब्द–प्रमाण को, किसी इलहाम को एकदम बेकार मानते थे। बुद्ध मानते थे कि "पवित्र" समझे जाने वाले वेद–मन्त्रों का जाप दूसरों के शब्दों की पुनरुक्ति मात्र है। उसे सत्य से कुछ लेना–देना नहीं। 'यह ठीक वैसा ही है, जैसे एक अन्धा दूसरे का अनुकरण कर रहा हो, न पहले अन्धे को दिखाई देता हो, न बीच वाले को और न सब से आखीर वाले को।' तथागत मात्र सत्य की स्वीकृति और सत्य के ज्ञान में स्पष्ट तौर पर भेद करते थे। श्रद्धा से ही यदि किसी आदमी ने सत्य को स्वीकार कर लिया हो, तो वह ऐसा ही होता है जैसे किसी चम्मच में शहद हो, किन्तु वह चम्मच उस शहद की मिठास से सर्वथा अपरिचित हो। जैसे कोई गुलाम ऐसे ऊंचे स्थान पर जा पहुंचे

जहाँ से किसी राजा ने अपनी प्रजा को सम्बोधित किया हो और राजा के शब्दों को ही दोहराने लगे तो इस से वह राजा नहीं हो सकता, या जैसे कोई दरिया के किनारे के बालू पर लिखे, 'इधर आ जाओ' तो इस से दरिया का दूसरा किनारा इधर नहीं आ सकता, इसी प्रकार किसी दूसरे की बात को प्रमाण मानकर किसी मत को स्वीकार करने मात्र से आदमी को बोध प्राप्त नहीं हो सकता, उसे वह ज्ञान प्राप्त नहीं हो सकता जो उस के दुःखों का अन्त कर सके। बोधिसत्व भूमि का कथन है कि आदमी को किसी दूसरे के मत पर निर्भर नहीं होना चाहिये। उसे यह नहीं कहना चाहिये कि यह किसी स्थविर का मत है, या बुद्ध का ही मत है, या संघ का मत है, उसे सत्य का ही आश्रय ग्रहण करना चाहिये, उसे सर्वथा स्वतन्त्र होना चाहिये। किसी परम्परा के सामने सिर झुकाने का, किसी अधिकार वाणी के अन्धे अनुकरण का वास्तविक मूल्य कुछ भी नहीं है । ज्ञान प्राप्ति के लिये शिक्षा आवश्यक है, किन्तु यह शिक्षा आत्मानुभव द्वारा समर्थित होनी चाहिये । सत्य के ज्ञान के दो पहलू होते हैं, एक भीतरी दूसरा बाह्य। इसलिये उस के दो माप–दण्ड हैं । पहली बात तो यह है कि सत्यावबोध ऐसे ही नहीं होता। राग–द्वेष से मुक्त पुरुष ही सत्य का सामीप्य प्राप्त कर सकता है। दूसरे, सत्य सतह पर ही उपलब्ध नहीं होता। इस के लिये गहराई में जाना पड़ता है। सत्य के ज्ञानमात्र से भी श्रेष्ठतर बात है, सत्य का व्यवहारिक साक्षात्कार। इस के लिये योग्य अभ्यास चाहिये और चाहिये आदमी के मानसिक तथा नैतिक बल का विकास। बोधि-प्राप्ति तभी होती है, जब आदमी चिन्तन करता है, खोज करता है, ध्यान लगाता है और साथ साथ सभी प्राणियों के प्रति मैत्री–भावना युक्त नैतिक जीवन बिताता है।

जिन किन्हीं बातों को भी बौद्धधर्म में स्वीकार करने के लिये कहा गया है, वे सभी ज्ञान की उपज हैं। यह धर्म बुद्धिवादी मानवीय मस्तिष्क पर ऐसे प्रश्नों को सुलझाने का प्रयास करने का बोझ नहीं डालता, जो सुलझाये ही नहीं जा सकते। क्या विश्व अनादि है? अथवा क्या विश्व अनादि नहीं है? क्या विश्व ससीम है? अथवा क्या विश्व असीम है? इन प्रश्नों का बौद्ध दृष्टि में कोई मूल्य ही नहीं है। 'ये जिज्ञासायें', तथागत ने पोट्ठपाद सूत्र में स्पष्ट किया, 'वस्तुओं के यथार्थ स्वरूप से किसी भी तरह संबंधित नहीं है । जिन वास्तविकताओं से हम सुपरिचित है उन से भी संबंधित नहीं हैं, ये जीवन के नियमों से भी संबंधित नहीं है, इन से सदाचरण में भी मदद नहीं मिलती, ये कामुकता से छुटकारे की ओर भी नहीं ले जातीं, ये सम्यक् प्रयास में भी सहायक नहीं होती, ये अन्तर्दृष्टि अथवा भीतरी शान्ति की प्राप्ति में भी सहायक नहीं होतीं।' बौद्ध धर्म में कोई भी बात गोपनीय अथवा रहस्यमय नहीं है। अपने अन्तिम समय में तथागत ने आनन्द को संबोधित किया – 'आनन्द! मैं ने धर्म का उपदेश करते समय न कोई बात अन्दर छिपा कर रखी न बाहर छिपा कर रखी। क्यों कि आनन्द! धर्म के विषय में तथागत

की कोई आचार्य–मुट्ठी नहीं होती जिसे कुछ ही लोगों के सामने खोला जायें । ' एक दूसरे अवसर पर तथागत ने ही कहा , ' तीन बातें छिपा कर रखी जाती हैं, एक तो जो स्त्रियां पर–पुरुषों से प्रेम करती हैं, वे इस बात को छिपाकर रखती हैं, इसी तरह से वे पण्डे–पुरोहित जो कहते हैं कि उन के पास विशिष्ट इलहाम हैं, इस बात को छिपाकर रखते हैं और वे सभी लोग जो कुमार्ग गामी होते हैं, वे भी अपने कुकर्मों को छिपाकर रखते हैं । दूसरी ओर तीन चीजें चमकती हैं और छिपी रह ही नहीं सकती । वे हैं चन्द्रमा, सूर्य और तथागत की धर्म–देशना । उन को लेकर कोई लुकाव–छिपाव की बात ही नहीं हो सकती थी । ' इस तरह का उल्लेख स्पष्ट तौर पर इस बात का खण्डन करता है जो बहुधा दोहराई जाती है कि भगवान बुद्ध ने अपने जीवन–काल में अपने कुछ विशेष शिष्यों को रहस्यपूर्ण बातें बताई, या कुछ ऐसे ' रहस्यपूर्ण सिद्धान्त ' का भी उपदेश दिया था, जो आचार्य परम्परा से कुछ ही खास लोगों को प्राप्त होता है और दूसरे सामान्य लोग उस से वंचित रहते हैं। और इस के लिये भी तनिक भी गुंजायश नहीं है कि बुद्ध धर्म की गिनती अनेक पूर्वात्य रहस्यवादी मान्यताओं में की जाय । बौद्ध धर्म तो धर्म और दर्शन दोनों क्षेत्रों में रहस्यवाद का सम्पूर्ण निषेध है । यह ही एकमात्र ऐसा धर्म है जो अपने अस्तित्व के लिये ' अज्ञेय ' की चकाचौन्ध पर आश्रित नहीं है । यह ही एक ऐसा धर्म है जो सिद्धान्तवादी स्पष्ट रूप से अबुद्धिवादी बात को ऊपरी दृष्टि से बुद्धिवाद का रूप देने की कला का आश्रय ग्रहण नहीं करता । यह तुम्हें नहीं कहता कि तुम तीन को एक मानो और एक को तीन मानो । यह तुम्हें नहीं कहता कि तुम यह मानो कि पिता पुत्र से बड़ा नहीं होता और या पुत्र पिता के समान ही बड़ा होता है और जो दोनों की सन्तान हो, वह भी दोनों के बराबर का होता है । यह इस बात पर भी जोर नहीं देता कि कंवारी के माँ बनने की बात को मानो, या मृत्यु के अनन्तर शारीरिक दृष्टि से पुनः जी उठने की बात को मानो, या तुम्हारी बजाय कष्ट सहन करने की बात को सही मानो या किसी क्रुद्ध हुए देवता को संतुष्ट करने की संभावना को स्वीकार करो । ये किन्हीं सामाजिक या सांप्रदायिक ऐसी मान्यताओं से भी बन्धा नहीं है, जो बौद्धधर्म के अनुयाइयों को अपने विश्वासों का खुल्लमखुल्ला उल्लेख न करने दें । यही एक मात्र ऐसा धर्म है जिस ने प्रयोगों को किये बिना भी विज्ञान के अविष्कारों अथवा वैज्ञानिक पद्धति का विरोध नहीं किया, जैसा अन्य धर्मों में हुवा है । बौद्ध धर्म कभी भी विज्ञान के विरुद्ध जायगा ही नहीं, इन दोनों में कभी भी तलाक नहीं होगा । यद्यपि भगवान बुद्ध के पास उतना वैज्ञानिक ब्योरा नही था जैसा आज हमारे पास है तो भी वे मानस–शास्त्र, दर्शन और धर्म की आवश्यक समस्याओं से सुपरिचित थे । उन्होंने धर्म की समस्याओं के सही समाधान की रूप–रेखा को जान लिया था । उन्हों ने एक ऐसे धर्म के स्थान पर जो मनमानी मान्यताओं पर आश्रित था एक ऐसा धर्म दिया जो यथार्थता पर आधारित था ।

यद्यपि धर्म तुम्हें अन्धा विश्वास करने के लिये नहीं कहता, तो भी वह श्रद्धा पर बहुत जोर देता है। श्रद्धा का यह अभिप्राय नहीं है कि तुम किसी ऐसी बात को स्वीकार करो जो बुद्धि से परे हो और बेहुदा हो, या किसी हठमत को अंगीकार करो, या अनिश्चित तथा अप्रामाणित बातों को लेकर सन्तुष्ट रहने का निश्चय करो, बल्कि उतना भरोसा ही कि सत्य तक पहुंचा जा सकता है। जहां तक तर्क की बात है यह आदमी के ज्ञान को व्यवस्थित करने में सहायक होता है ताकि वह सत्य की रचना कर सके, और श्रद्धा आदमी को अपनी मान्यताओं और अपने आदर्शों के प्रति दृढ होने की सामर्थ्य प्रदान करती है। जब श्रद्धा तर्क का साथ छोड़ देती है, तब यह मिथ्या विश्वास बन जाती है और इस से भी बढ़कर बुराई तब पैदा होती है जब श्रद्धा स्पष्ट तौर पर विरोधी बातों का पक्ष ग्रहण करती है। लेकिन साथ ही बिना श्रद्धा का बुद्धिवाद भी आदमी को एक मशीन बना देगा, जिस में उस के मन में अपने आदर्शों के लिये कोई उत्साह न रहेगा। बुद्धि का काम है जहाँ व्यवस्था नहीं है वहाँ बिना किसी पक्षपात के व्यवस्था स्थापित करना, लेकिन यह श्रद्धा ही है जो आदमी को प्रमाद, कामुकता, ईर्षा आदि पांच बन्धनों को तोड़ने की सामर्थ्य देती है। जिन सत्यों को आदमी ने हस्तगत कर लिया है उन्हें लेकर बुद्धिवाद आनन्दित होता है। श्रद्धा आदमी को जो अभी प्राप्त नहीं किया जा सका, उसे प्राप्त करने की आशा और उत्साह प्रदान करती है। यह अभी तक जिस का साक्षात्कार नहीं हुआ, उस का साक्षात्कार करने के लिये अप्रमाद पूर्वक अपने प्रयास में लगे रहने के लिये उत्साहित करती है। यह श्रद्धा ही है जो तर्क के सूखे धर्म को आशा और प्रेम के धर्म में परिणित कर देती है।

इतना ही नहीं कि बौद्ध धर्म में ऐसी श्रद्धा के विरुद्ध, जो विश्वास पर आश्रित हो कुछ नहीं, बल्कि यह बौद्ध–धर्म ही था, जिस ने भक्ति की भावना को जन्म दिया, उस भक्ति को जो तथागत के प्रति यथार्थ श्रद्धा की अभिव्यक्ति थी। शाक्य मुनि गौतम बुद्ध एक यथार्थ ऐतिहासिक व्यक्तित्व थे। पुरा बुद्ध–काल में किसी भी धर्म–परम्परा के पास इस जैसी कोई चीज न थी। रामायण–महाभारत के काल से पहले शायद ही कहीं 'भक्ति' शब्द का प्रयोग हुआ है। बाद के एक उपनिषद् में भक्ति शब्द का प्रयोग हुआ है, लेकिन वहाँ भक्ति श्रद्धा या प्रेम की भावना का परिचायक नहीं है, लेकिन वह किसी डरावने देव के प्रति भय की भावना का द्योतक है। दूसरे उपनिषदों में भी ऐसा ही कुछ है। भक्ति शब्द का प्रथम उपयोग चौथी शती के बौद्ध ग्रन्थों में हुआ है। मज्झिम निकाय में एक जगह एक बुद्ध–वचन आया है कि जिन्हों ने मार्ग–फल प्राप्त नहीं किया है, उन के मन में भी यदि मेरे प्रति यथार्थ श्रद्धा और प्रेम की भावना होगी तो वे भी अपने परमार्थ को प्राप्त कर सकेंगे। बिम्बिसार की भार्य्या वैदेही को श्रद्धा सम्पन्न होने से ही सान्त्वना मिली थी। भगवान बुद्ध

के प्रति श्रद्धा होने के ही कारण एक जापानी बौद्ध भविष्य में मुक्त होने के लिए पूरी तरह अमित बुद्ध की शरण ग्रहण करता है। वह कर्म–काण्ड की उपेक्षा करता है, लेकिन धार्मिक जीवन के नियमों का पालन करता है। विश्वास और भरोसे के अर्थ में जो श्रद्धा है उसी से आदमी के उन सभी कुशल कर्मों को प्रेरणा मिलती है, जिन से आदर्श की प्राप्ति होती है।

लोग सोचते हैं कि पुस्तकों और ग्रन्थों से ही बौद्ध धर्म ग्रहण किया जा सकता है। इस में सन्देह नहीं कि दुनिया भर के बौद्धों के बौद्धग्रन्थ हैं, जो त्रिपिटक कहलाते हैं। ये सूत्र, विनय और अभिधर्म में विभक्त हैं। सूत्र पिटक में भगवान बुद्ध की श्रोताओं से बातचीत का वर्णन है, दूसरे में बौद्ध भिक्षुओं के लिये बनाये गये नियम – उपनियम हैं और अन्तिम में दार्शनिक तत्वचिन्तन है। लेकिन आरम्भिक समय से ही भिक्षु संघ में भिन्न भिन्न मतों के लोग रहे हैं। चार निकाय और अठ्ठारह सम्प्रदाय रहे हैं। चारों निकायों के अनुयाइयों का परस्पर भी मतभेद रहा है और दूसरों से तो रहा ही है। एक आचार्य परम्परा ने दूसरी आचार्य परम्परा का विरोध किया है। हर आचार्य परम्परा में सूत्र–पिटक को मानने वाले, विनय–पिटक को मानने वाले तथा अभिधर्म को मानने वाले रहे हैं। एक ही आचार्य–परम्परा के सौत्रान्तिक तथा अभिधार्मिक परस्पर एक मत के नहीं रहे हैं और एक आचार्य–परम्परा के सौत्रान्तिक दूसरी आचार्य–परम्परा से मतभेद रखते रहे हैं। वर्तमान काल में बौद्धों को तीन विभागों में विभक्त किया जा सकता है, दाक्षिणात्य, जो श्रीलंका, बर्मा, थाईलैण्ड और अनाम में रहते है, उत्तरीय, जो तिब्बत, चीन, मंचोरिया, मंगोलिया और साइबेरिया में रहते हैं। और पूर्वात्य, जो जापान और फारमसा के निवासी हैं। दक्षिण के बौद्ध हीन–यान के अनुयायी हैं, उत्तर के लामा–धर्म को मानने वाले हैं और बड़े ही कर्मकाण्डी हैं और पूर्व के बौद्ध महायानी है। अब हीन यानियों का त्रिपिटक ठीक वही नहीं है जो महायानियों का त्रिपिटक है। जिस भाषा में, कोसल जनपद की बोली में, जहाँ भगवान बुद्ध का जीवन बीता, और भगवान बुद्ध ने अपने उपदेश दिये उस भाषा को न महायानी बोलते हैं और न हीन यानी। प्रश्न पैदा होता है कि उक्त सम्प्रदायों अथवा आचार्य–परम्पराओं में से किस परम्परा ने अक्षरश: बुद्धवचन को सुरक्षित रखा है। कोई भी यह दावा नहीं कर सकता कि भगवान बुद्ध के परिनिर्वाण के अनन्तर ही जो प्रथम संगीति हुई, उसी में सम्पूर्ण सूत्र–पिटक का सम्पादन हो गया था। अनेक ऐसी बातें है जो त्रिपिटक की क्रमश: रचना की ओर अंगुलि–निर्देश करती है, चाहे वह पालिका त्रिपिटक हो, चाहे वह चीनी का त्रिपिटक हो। हमारे पास यह मानने का भी कोई पर्याप्त कारण नहीं है कि पालिका त्रिपिटक ही मूल वास्तविक त्रिपिटक है। चीनी त्रिपिटक को लेकर जो छान–बीन का कार्य हुआ है उस से यह सिद्ध हो गया है कि पालि त्रिपिटक का जो अपने को श्रेष्ठतर मानने का दावा हैं, वह तर्क की कसौटी पर टिक नहीं सकता है। इस

घपले में हम करें तो क्या करें ? इस कठिन परिस्थिति में से बच निकलने का एक ही रास्ता है और वह वही है जो शिक्षा–समुच्चय ने बताया है – जो कुछ भी सुभाषित है, वह सभी कुछ बुद्ध भाषित है,* अर्थात् जो कुछ भी ठीक ठीक कहा गया है, जो कुछ भी दोषरहित है, वह सभी कुछ बुद्ध–वचन है । जिस का तर्क और अनुभव से मेल नहीं बैठता, ऐसी कोई भी बात बुद्ध–वचन नहीं हो सकती । भगवान बुद्ध के परिनिर्वाण के एक सौ वर्ष बाद वैशाली में जो संगीति हुई थी उस में भी भिक्षुओं का आपसी मत–भेद मिटाने के लिये इसी कसौटी को स्वीकार किया गया था । एक बौद्ध का मन हमेशा प्रगतिशील बना रहना चाहिये, जिज्ञासु, सोच विचार करने वाला, तथा शास्त्र चर्चा करने वाला । उसे यह मान कर कि वर्षों पूर्व किसी ने सत्य को लेकर अन्तिम शब्द कह दिये हैं, चाहे वह अश्वघोष हो, चाहे बुद्धघोष हो या चाहे कोई संगीति ही हो, जड़भरत बनकर बैठना नहीं चाहिये। उसे अपने ज्ञान के क्षेत्र को लगातार विस्तृत करने में लगा रहना चाहिये और जो मान्यताएँ अनुपयोगी सिद्ध हो चुकी हैं उन्हें असम्बन्धित, अप्रमाणित मानकर त्याग देना चाहिये । नये नये ज्ञान की सहायता से लगातार ऐसे सत्य तक पहुंचने का प्रयास जारी रखना चाहिये जो तर्क सिद्ध हो और आदमी के सम्पूर्ण व्यक्तित्व को संतुष्ट कर सके । भगवान बुद्ध का यही मार्ग था । इस में किसी भी ग्रंथ के शब्द-प्रमाण को कोई स्थान न था । जो बडे बड़े बौद्ध चिन्तक हुए हैं, उन्हों ने भी यही मार्ग अपनाया है । उन्हों ने हमेशा अपने विचारों की रूप–रेखा उपस्थित की है और उस की व्याख्या की है । उन्हों ने अपने मत के प्रतिपादन में अपने धर्म का आधार माने जाने वाले सूत्रों को प्रमाण रूप से उपस्थित नहीं किया है, उन्होंने विचारों ही की सामान्य प्रामाणिकता, तर्क-शुद्धता और मानसशास्त्र के नियमों का आश्रय लिया है । चीनी बौद्ध सुधारक लोत्सुने भी कहा है – 'जो अलिखित सत्य पुस्तक है, वह निरन्तर गतिशील है । आकाश और पृथ्वी सभी सत्यवचनों को दोहरा रहे हैं । सत्य पुस्तक मानव के जीवन में ही निहित है । अनृश्य धर्म अपने से ही अपने आप को प्रकट करता है । इसे पुस्तक–पन्ने की आवश्यकता नहीं होती ।'

प्रकट रूप से तो ऐसा लगता है कि भगवान बुद्ध ने निःश्रेयस की प्राप्ति के लिये कई मार्ग बताये हैं । लेकिन वास्तव में देखा जाय तो एक ही मार्ग है और वह मार्ग है तत्वचिन्तन का । व्यवहार की दृष्टि से तीन रास्तों की भी चर्चा की जा सकती है । सरल भाषा में कहना हो तो पवित्रता का जीवन (श्रावकयान), दार्शनिकता का जीवन (प्रत्येकबुद्ध यान) और परमार्थ का जीवन (बोधिसत्व यान) । श्रावक या उपासक के सामान्य पवित्र जीवन से, जो बुद्ध के मार्ग–दर्शन में अर्हत्व का लाभ करता है, श्रेष्ठतर है, प्रत्येकबुद्ध का स्वयं प्राप्त ज्ञान । मात्र आत्म–कल्याण के लिये प्राप्त ज्ञान से भी श्रेष्ठतर है बोधिसत्व की निस्वार्थ साधना, जो दूसरों के प्रति अपार करुणा की भावना रखने से परोपकार का जीवन व्यतीत करता है

---

* "यत्किञ्चित् सुभाषितं तत् सर्वं बुद्धभाषितम् ।"

और व्यक्तिगत मोक्ष अथवा निर्वाण प्राप्त करने की ओर से भी लापरवाह रहता है । जिस में इन तीनों का समावेश हो जाता है, ऐसा उच्चतम एकत्व है सम्यक् सम्बुद्ध का । शाक्य मुनि गौतम बुद्ध ने निर्वाण में प्रवेश किया और इस प्रकार वे जगत् गुरु और समस्त लोक के उद्धारक हो गये । इन तथाकथित तीनों यानों का भावार्थ इसी दृष्टि से हृदयङ्गम करना चाहिये यह सद्धर्म पुण्डरीक में आये इस एक दृष्टांत से भी स्पष्ट है । एक आदमी का घर जल रहा है । उस के अबोध बच्चों को इस का पता ही नहीं । वे घर के अन्दर खेल रहे हैं । वह अपने बच्चों को खिलोने देने का वचन देता है और इस तरह किसी प्रकार उन को बाहर सुरक्षित निकाल लेता है । इस दृष्टांत में तथागत ही वह पिता है । वे अपने बच्चों को संसार की जलती हुई आग से घिरा हुआ देखते हैं । वे उन्हें उस जलते हुए घर से बाहर निकालने के लिये नाना उपायों का उपयोग करते हैं और उन्हें निर्वाण की सुरक्षित भूमिपर ला खड़ा करते हैं । यह भिन्न भिन्न यान इस बात को प्रमाणित करते हैं कि बुद्धधर्म सभी के लिये है, अधिक से अधिक बुद्धिमान आदमी के लिये भी और साधारण समझ के इनसान के लिये भी । प्रथम कोटि के प्रतिभासम्पन्न व्यक्तियों के लिये प्रज्ञा का धर्म है और दूसरी कोटि के लिये भावुकता का बौद्धधर्म ।

सामान्य जनों में प्रचलित बौद्धधर्म में कुछ ऐसी बातें हैं, जिनका बुद्धिवादी बौद्ध धर्म से ठीक ठीक ताल मेल नहीं बैठता । उदाहरण के लिये शाक्यमुनि गौतम बुद्ध के शरीर के धातुओं और उन की मूर्तियों की की जानेवाली पूजा और अमिताभ बुद्ध के नाम का जाप । यह नहीं भूलना चाहिये कि सर्व सामान्यजन जिस धर्म को अपना कहने की बात करते हैं, उस धर्म का उन का अपना आचरण उस धर्म की सही तस्वीर नहीं होता । प्रत्येक बौद्ध के लिये धर्मकाय में आस्था बनाये रखना ही उस के जीवन का मूलाधार है । धर्मकाय ही वह अन्तिम भौतिक निःश्रेयस है, जिस की ओर अग्रसर होने की सभी आकांक्षा रखते हैं ।

बौद्ध धर्म के जितने भी प्रकार हैं, उन सभी में निःश्रेयस की प्राप्ति चार आर्य-सत्यों के बारे में गम्भीर चिन्तन करने और आर्य अष्टांगिक मार्ग का आचरण करने से ही होती है लेकिन जैसा चीनी यात्री इत्सिंग ने कहा है, 'चारों आर्य सत्यों का यथार्थ भावार्थ सामान्य जनों के लिये हृदयङ्गम करना कठिन है, किन्तु पवित्र बुद्ध–मूर्ति का स्नान कराना सभी के लिये सहज है । यद्यपि तथागत का परिनिर्वाण हो चुका है, तो भी बुद्ध–मूर्ति तो विद्यमान है । हमें उत्साहपूर्वक उस की पूजा–अर्चना करनी चाहिये, मानो स्वयं बुद्ध की पूजा की जा रही हो । जो धूप–बत्ती और फूलों से इस की निरन्तर पूजा करते रहते हैं वे अपने विचारों को पवित्रता प्रदान करने में सफल होते हैं । जो इन बुद्ध–मूर्ति को प्रायः स्नान कराते रहते हैं, वे अज्ञानवश किये गये अपने पापों से मुक्त हो जाते हैं । इसी स्वर में तिब्बत के एक शासक ने करनैल यंगहस्बैण्ड को कहा था, 'जिस समय बौद्ध बुद्ध–मूर्ति की ओर देखते हैं तो उन के मन से झगड़े झंझट की बातें दूर हो जाती

हैं।' यदि तथागत के जीवन से सर्व सामान्य को उस से कुछ अधिक प्राप्त होता है, तो वे उन की मूर्ति की पूजा क्यों न करें ? बुद्ध की मूर्ति प्रज्ञा, करुणा और विजय का सम्मिश्रण है, एक दार्शनिक की प्रज्ञा, एक उद्धारक की करुणा और एक वीर की विजय । इस पवित्र बुद्ध-मूर्ति में सभी सम्पूर्णताओं का संग्रह हुआ है – सम्पूर्ण शक्ति, सम्पूर्ण शील, अनन्त करुणा, अनन्त साहस तथा अनन्त ज्ञान। जो पूजा होती है, वह मूर्ति या बुद्ध के धातुओं की नहीं होती बल्कि धर्मकाय की होती है । दुर्बल मानव ने धर्मकाय को ही मूर्ति तथा धातुओं के रूप में साकार किया है । लेकिन तथागत की मूर्ति या उन के शरीर के धातुओं की पूजा में किसी ईश्वर की दया, करुणा, कृपा अभिप्रेत नहीं है । बौद्ध लोग इस तरह की किसी भी मान्यता का सर्वांश में निषेध करते हैं । बोधिचर्यावतार के टीकाकार का कथन है, कोई भी सुख-दुःख का दाता नहीं है । कोई दूसरा देता है, यह मनुष्य की कुबुद्धि मात्र है* । यथार्थ भक्ति को उस पदार्थ से कुछ भी लेना-देना नहीं रहता, जिस की पूजा की जाती है । भक्ति व्यक्ति का एक चैतसिक धर्म-मात्र है । मिलिन्द प्रश्न में नागसेन ने कहा है, 'जो लोग त्रिरत्न के धातुओं की पूजा करते हैं, वे तथागत की पूजा का संग्रह करते हैं । इस में कोई सन्देह नहीं कि अब तथागत का परिनिर्वाण हो गया है और वे किसी भी पूजा-सामग्री को स्वीकार नहीं करते। इस पूजा से पूजा करने वालों में गुणों की वृद्धि होती है और उन के त्रिविध ताप शान्त होते हैं।' आदमी किस की पूजा करता है, किस की अर्चना करता है, इस का विशेष महत्व नहीं । महत्व उस हृदय का है और उस भक्ति-भाव का है, जिस से पूजा की जाती है । भक्ति से लाभ होता है, वह हितकर होती है, क्योंकि उस से विनम्रता होती है और अहंकार का नाश होता है।

एक बौद्ध की श्रद्धा में और एक हिन्दु की पूजा-विधि में कितना बड़ा अन्तर है, यह किसी भी बर्मी विहार और हिन्दु मन्दिर की तुलना करने से स्पष्ट हो जाता है। एक जगह बुद्ध-मूर्तिया हैं गम्भीर और शान्त मुद्रा में । अनेक विहारों में स्थापित बहुसंख्यक बुद्ध मूर्तियां, मानों इस जीवन के भ्रमों पर विचार कर रही हैं और चिल्ला चिल्ला कर कह रही हैं – 'ज़ख्मी लोगो, अपने जख्मों को अच्छा कर लो; भूखे लोगो, पेटभर भोजन कर लो; थके हुए लोगो, विश्राम कर लो; प्यासे लोगो, प्यास बुझा लो; अन्धेरे में बैठे लोगो, ऊपर प्रकाश की ओर देखो; और निराश लोगो, प्रसन्न हो जाओ।' दूसरे (हिन्दु) मन्दिरों में अश्लील मूर्तियां हैं, भयानक बुत हैं, कामुकता और बुराई, शारीरिक औतार, जिन की तुष्टि रक्त चढ़ाने मात्र से होती है । कलकत्ते के काली मन्दिर को देखो और रंगून के बुद्ध-मन्दिर की ओर देखो। जमीन आसमान का फर्क है। हिन्दु दिमाग का सारा सूक्ष्म दार्शनिक चिन्तन किसी भी तरह इस भेद को अनदेखा नहीं कर सकता । काली मन्दिर की ओर पैर बढ़ाते ही तो तुम्हें बदबू ही बदबू आयेगी,

* "सुखस्य दुःक्खस्य न कोपि दाता, परो ददातिति कुबुद्धिरेषा।"

घृणा ही घृणा उत्पन्न होगी। वहां तुम्हें एक गड्ढा दिखाई देगा, जिस में से अनगिनत नग्न लोग बाहर की ओर उमड़ते दिखाई देंगे। काले कलूटे आदमियों की एक भीड़, जिन के सिर और बदन से सड़ा हुआ नारियल का तेल चूता है, ऐसा लगता है जैसे उन्हें नरक ने भी उगल दिया हो और जैसे वह किसी भयानक देवता के क्रोध से बचने के लिये भागे जा रहे हों। और बुद्ध मन्दिर पर आप चढ़ते हैं संगमरमर की सीढ़ियों पर पैर रखकर। वहाँ पर आप एक सुनहरी मीनार देखते हैं जो रतन-जड़ित है और सुनहरी घण्टियां भी जो सूर्य के प्रकाश में टनटन बजती हैं। दर्शनार्थी चमकते हुए रेशमी वस्त्र पहने हैं और पंक्ति-बद्ध खड़े हैं। उपासक गण फूल और मोमबत्तियां लाते हैं, वेदिका पर चढ़ाने के लिये। वे बकरी का खून नहीं ही चढ़ाते हैं। यह भेद है जो धार्मिक-विश्वास और और पूजा पद्धति में है। और यह न केवल बर्मा और भारत की सारी भूमि पर ही विद्यमान है, बल्कि वहां के निवासियों के चेहरों पर भी अंकित है।

इन दिनों जब विज्ञान का वायु-मण्डल है तो वस्तुवादियों ने भी अपने गिरजों में मानवता के आदर्श को साकार करने के लिये गोद में बच्चे को लिये हुए मां की मूर्ति की स्थापना करना आवश्यक समझा है। इसी प्रकार पुराने समय के बौद्धों ने बर्बर लोगों तक बोधि का सन्देश पहुंचाने के लिये दान, करुणा, कृपा, प्रेम तथा प्रज्ञा की मूर्तियों का निर्माण आवश्यक समझा। जैसे वस्तु-वादी मानवता की मूर्ति को अभिवादन करते है, ठीक उसी दृष्टि से बौद्ध भी मञ्जुश्री, अवलोकितेश्वर तथा तारा की भूमिका के सामने झुकते हैं। यदि वस्तु-वादियों की पूजा-विधि में आगस्त कोम्ट के साहित्य में से उस का कोई अंश पढना शामिल रह सकता है और उस के बाद मानवता की आराधना की जा सकती है, तो इस से भी कहीं अधिक तर्क-संगत है अश्वघोष की त्रिदलीय पूजा, जिसका आरम्भ त्रिरत्न की स्तुति से होता है, उस के बाद बुद्ध-वचन का कोई भाग पढ़ा जाता है और जिसका अवसान होता है इस कामना से कि उस के अर्जित पुण्यों में परिपक्वता आये। जैसे भगवान बुद्ध ने लोगों को नैतिक शिक्षण देने के लिये कथाओं और दृष्टान्तों का उपयोग किया, उसी तरह से बौद्ध दार्शनिकों ने भी सामान्य आदमी को आध्यात्मिक दृष्टि से ऊंचा उठाने के लिये अपनी कल्पनाओं को एक साधन बनाया। लेकिन उन की अपनी दार्शनिक रचनाओं से यह स्पष्ट होता है कि वे स्वयं अपनी उन काल्पनिक कृतियों में विश्वास नहीं रखते थे। इसी प्रकार की काल्पनिक कृत्यों के अन्तर्गत आते हैं विविध ध्यानी बोधिसत्व और ध्यानी-बुद्ध। ध्यानी बोधिसत्वों ने बुद्ध-धर्म के लिये पहले के धर्मों के साथ मेल बैठाना सहज कर दिया, यद्यपि ऐसा करने से अनेक बार बुद्धधर्म को ही महान हानि पहुंची। बुद्ध-धर्म की जो विशेष शिक्षायें थी उन की उपेक्षा हो गई। अपने एक विशेष सिद्धान्त, जातक के सिद्धान्त के उपयोग से बौद्ध जिन लोगों के सम्पर्क में आये उन के देवताओं को बोधिसत्वों अथवा भावी बुद्धों की शक्ल में

रूपान्तरित करने में सफल हो गये । ध्यानी-बुद्ध ऐसा माना जाता है कि वास्त-विक बुद्धों के प्रतिपक्ष हैं । ऐतिहासिक शाक्यमुनि गौतम का जो असली प्रतिपक्ष अभिताभ है उसे सुखावति का निवासी माना जाता है। सुखावति कहते हैं आनन्द-भूमि को। यह सुखावति या आनन्द-भूमि उस प्रकाश के अतिरिक्त कुछ नहीं, जो मानव-हृदयों में निवास करता है और यदि उस का अनुसरण किया जाय तो वह ऐसा करनेवाले को निर्वाण के द्वार तक पहुंचा देता हैं। डा. एडकिंस का एक ग्रन्थ है 'चाइनीज बुद्धिज्म'। उस में उन्हों ने कहा है कि यून-त्सी सम्प्रदाय के संस्था-पक ने अपनी अमिताभ-सूत्र की व्याख्या में कहा है कि 'पश्चिमीय स्वर्ग का मत-लब है नैतिक स्वभाव, स्थिर, पवित्र, विश्रान्त। अमिताभ का मतलब है प्रज्ञा, निर्मल। वृक्षों की पंक्ति का मतलब हैं ऐसा चित्त जो सद्‌गुणों को ग्रहण करने में लगा है। संगीत का मतलब है चित्त की समन्वयात्मकता। पुष्प और विशेष रूप से कँवल का मतलब है ऐसा चित्र जो चैतन्य और प्रज्ञा की ओर मुखर है। सुन्दर पक्षियों का मतलब है ऐसा चित्त जो परिवर्तित हो गया है और हो गया है जिसका नवीकरण।' जब जापानी बौद्ध अमिदा (अमिताभ का संक्षिप्त रूप) का जाप करता है वह बुद्ध की दया और करुणा के प्रति अपनी कृतज्ञता की भावना की अभिव्यक्ति करता है। उसके साथ साथ वह उन महास्थविरों के प्रति भी कृतज्ञता का ज्ञापन करता है जिन की शिक्षायें हितकर रही हैं और वैसी ही स्वागतार्ह जैसे रात्रि के बाद दिन का प्रकाश। लेकिन पूजा की सारी परम्परा ही यदि विरोधी न भी मानी जाय तो भी बुद्धधर्म से बेमेल है। बोधिचर्यावतार के रचयिता ने कहा ही है कि हित की दृष्टि ही बुद्ध की पूजा की विशेषता है।* कुशल कर्म ही बुद्ध-पूजा की श्रेष्ठतम विधी है। एक दूसरे श्लोक में बोधिचर्यावतार के रचयिता ने ही कहा है कि बुद्ध-पूजा का अर्थ है दुःखों से मुक्ति और दूसरों को सुखी बनाना। इसी धुन में जातकमाला के रचयिता ने भी कहा है, – जिस की हम पूजा करते हैं, उस के उपदेशों के अनुसार चलना ही उसकी यथार्थ पूजा है । यह फूल चढ़ाना और बत्तियां जलाना व्यर्थ है। इसी प्रकार भक्तिशतक के महान कवि ने गाया है – 'हे बुद्ध! तुम्हारी असली पूजा तो परोपकार करना मात्र ही है।'

मिलिन्द नरेश ने भिक्षु नागसेन से पूछा था – "भिक्षुओं को धर्मग्रन्थों के पाठ से क्या लेना-देना, प्रश्न पूछने से क्या लेना-देना, प्रवचनों से क्या लेना-देना, गद्य-पद्य मिश्रित ग्रन्थों से क्या लेना-देना, व्याख्याओं से क्या लेना-देना, काव्यों से क्या लेना-देना, 'उन्हों ने ऐसे कहा' से आरम्भ होनेवाले अनुच्छेदों से क्या लेना-देना, जातक कथाओं से क्या लेना-देना। वे नये नये भवनों के निर्माण की चिन्ता क्यों करते रहते हैं? उन्हें भिक्षु संघ को दिये जाने वाले दान की फिकर क्यों रहती है?" नागसेन ने बड़ा अर्थ-भरा उत्तर दिया,– 'पाठ प्रश्न पूछना,

---

* हितासंसन मात्रेन बुद्धपूजा विशिष्यते।

भवन–निर्माण कार्यों का निरीक्षण करना, मिलने वाले दान की ओर ध्यान देना– इन में से हर एक बात भिक्षुओं की किसी न किसी आध्यात्मिक सहायता में सहायक होती है। जो लोग इन कार्यों में व्यस्त रहते हैं, वे अर्हत्व की प्राप्ति के लिये प्रयत्नशील होते हैं। जो भिक्षुगण स्वभाव से ही परिशुद्ध हैं, जिन के मन उन के पूर्व–कृत कुशल–कर्मों से प्रभावित हैं, एक पल में अर्हत हो सकते हैं, लेकिन जिन के मन अकुशल कर्मों से कलुषित हैं, उन के लिये ये सभी बातें अर्हत्व की प्राप्ति में बड़ी मददगार होती हैं।'

जब सभी आदमी स्वभाव से ही पवित्र हो जायेंगे, तब ऐसे कामों में दिलचस्पी लेने की कोई आवश्यकता नहीं रहेगी, उस समय किसी को किसी का शिष्य बनने की भी आवश्यकता नहीं रहेगी और किसी भगवान बुद्ध के लिये भी कुछ भी करणीय नहीं रहेगा। हृदय की पवित्रता ही धार्मिक जीवन का सार है। जब लियांग के सम्राट वू ने धर्माध्यक्ष बोधि–धर्म से पूछा कि उस ने इतने विहार बनवाये, इतने धर्म–ग्रन्थों की नकलें करवाईं, इतने लोगों को धर्म–दीक्षा दिलवाई – यह सब करके उस ने कितना पुण्य कमाया । पवित्रात्मा आचार्य बोधि धर्म ने टका सा जबाब दिया – कुछ भी नहीं।

ऐसा बहुधा होता है कि लोग बुद्ध, धर्म, संघ की शरण ग्रहण करने और पंच-शीलों में प्रतिष्ठित होने को 'प्रार्थना' करना मान बैठते हैं। बौद्धधर्म में 'प्रार्थना' नाम की कोई वस्तु नहीं। तथागत ने किसी भी चीज़ के लिये किसी भी प्रकार की प्रार्थना करने को निषिद्ध ठहराया है। जार्ज मैरडिथ के अनुसार सारी 'प्रार्थना' मूर्तियों की लल्लो चप्पो होती हैं और मिथ्या विश्वासों की जनक होती हैं। 'एक बौद्ध के लिये', लोरसो के कथनानुसार, 'बहते पानी का शब्द, हवा से हिलते जंगली पेड़ों के पत्तों की आवाज, आकाश में विचरने वाले बादलों की चहल–पहल, जंगली जानवरों की नानाविध कारगुजारियां – एक महान् मन्त्र हैं और तथागत के जीवन ने जिन सत्यों का आविष्कार किया है, उन की स्तुति है।' प्रार्थना के स्थान पर बौद्धों के लिये प्रणिधान है। लेकिन यह किसी से कोई याचना करना नहीं है। यह केवल एक प्रकार की मानसिक साधना है, जिस से मात्र मानसिक स्थिति की उत्पत्ति होती है। इस से सिवाय उस के जिसे कान्ट प्रार्थना का 'स्वाभाविक प्रभाव' कहता है, और किसी बात की आशा भी नहीं की जा सकती। इस से मन में जो अन्धेरा सा रहता है, या तो वह साफ हो जाता है, या आदमी के अपने विचार ही अधिक प्रभावशाली हो जाते हैं, या किसी सद्गुण का उद्देश अधिक मात्रा में सफल होता है । बोधिचर्यावतार का यह उद्धरण प्रणिधान के स्वरूप को भलि प्रकार स्पष्ट करता है, "मैं रोगियों के लिये एक मलहम बन जाऊं, उन का चिकित्सक बन जाऊं, उन्हें बचाने वाला बन जाऊं, यहां तक कि उन के रोग का अन्त हो जाय। मैं बहुत से खाद्य–पेय पदार्थों से लोगों की भूख मिटा सकूं और प्यास बुझा सकूं।

स्वात घाटी में बुद्ध-प्रतिमा

मैं गरीबों के लिये कभी भी खाली न होने वाला भाण्डार वन जाऊं और उन की नानाविध आवश्यकताओं की पूर्ति कर सकूं। अपना जीवन, अपनी खुशियां, भूत, वर्तमान तथा भविष्य में हो सकने वाले कुशल–कर्म – दूसरों को विजयी बनाने के लिये मैं सभी का परित्याग करता हूँ। सभी कुछ परित्यक्त करने से ही निर्वाण की प्राप्ति होती है, और मैं निर्वाण का प्रार्थी हूँ। यदि मुझे सभी कुछ त्यागना है तो यही सब से अच्छा है कि उसे दूसरे प्राणियों के हित में त्याग दूं। मैं अपने आप को सभी प्राणियों पर न्योछावर करता हूँ, वे मेरे साथ जैसा चाहे वैसा व्यवहार कर सकते हैं। वे मुझे मारपीट सकते हैं, या हमेशा गालियां देते रह सकते हैं, वे मुझ पर धूल उड़ा सकते हैं, वे मेरे शरीर के साथ खिलवाड़ कर सकते हैं, वे मेरा मजाक उड़ा सकते हैं या जो चाहे मनमाना व्यवहार कर सकते हैं। मैं ने जब उन्हें अपने शरीर का दान ही कर दिया, तो अब मुझे चिन्ताकुल होने की क्या ज़रूरत है? जिस से उन्हें खुशी हो, वैसा वह कुछ भी काम मुझ से ले सकते हैं, लेकिन मेरे कारण उन पर कोई विपत्ति न आये। दूसरे चाहे मुझ पर क्रोधित हों, या प्रसन्न हों उस से उन्हें उनके अपने उद्देश्य की पूर्ति में सहायता मिले। जो मेरा अगौरव करते हैं, मुझे कष्ट पहुंचाते हैं या मेरा मजाक उड़ाते हैं वे सभी बोधि के हिस्सेदार बन सकें। मैं अरक्षितों का रक्षक बनूं, पथिकों का पथ–प्रदर्शक बनूं। जो दूसरे तट पर जाना चाहते हैं, उन के लिये एक बांध बन जाऊं, एक जहाज बन जाऊं। जिन्हें दीपक की जरूरत है, उन के लिये एक दीपक, जिन्हें बिस्तर की जरूरत है, उन के लिये एक बिस्तर और जिन्हें एक गुलाम की जरूरत है उन के लिये एक गलाम बन जाऊं। मैं सभी के लिये एक जादू की अंगूठी, एक भाग्यवान पात्र, एक सशक्त मंत्र, एक श्रेष्ठ मलहम, एक कल्प–तरु तथा एक काम–धेनु बन जाऊं। जैसे पृथ्वी, जल, वायु तथा दूसरे तत्व विश्व में रहने वाले असंख्य प्राणियों के काम आते हैं, उसी तरह से मैं भी, जब तक सभी को शान्ति लाभ न हो जाय, तब तक असंख्य प्राणियों के काम का सिद्ध होऊं।"

बौद्धधर्म में सर्वत्र बुद्धिमत्ता और समझदारी प्रतिष्ठित है। किसी परा–प्राकृतिक गुण के कारण, जो सारी भौमिक सीमाओं को लांघ गया हो, बुद्ध ने अपने आप को औरों के ऊपर नहीं माना है। यह सत्य हो सकता है कि अट्ठारह सम्प्रदायों में से एक लोकोत्तरवादी सम्प्रदाय के अनुयायी यह मानते थे कि बुद्ध सभी लौकिक मर्यादाओं के ऊपर थे। लेकिन ऐसे लोग अत्यन्त अल्पसंख्यक रहे। जन्म से ही कोई परा शारीरिक गुण बुद्ध में रहा हो ऐसी बात नहीं। केवल अधिक उद्योगी और अधिक प्रयत्नशील होकर उन्हों ने मुक्ति–पथ पर विचरण किया है। बुद्ध ने स्वयं स्पष्ट रूप से हमें बताया है कि वे किस प्रकार बुद्ध बने, नैतिक साधना के फलस्वरूप और आवश्यक ज्ञान प्राप्त करके। विशेष परिश्रम करके कोई भी मनुष्य उस ज्ञान तक पहुंच सकता है। बुद्ध ने यह कभी नहीं कहा, 'तुम्हें आत्मनिर्भर नहीं होना चाहिये। तुम्हें एकमात्र मेरा भरोसा करना चाहिये। जब तक तुम्हें

ऊपर से सहायता न मिले, तब तक तुम धार्मिक भी नहीं हो सकते।' उन्हों ने तो बार बार यही कहा है, 'तुम्हें आत्मनिर्भर होना चाहिये। तुम मुझ से कुछ भी प्राप्त नहीं कर सकते। तुम्हें अपने प्रयत्नों द्वारा ही धार्मिक बनना चाहिये। आत्मार्थ से मुक्त होने के लिये और इस प्रकार जड़मूल से दु:ख का नाश करने के लिये तुम्हें अपना ही भरोसा करना चाहिये।' अपने जीवन के अन्तिम क्षणों में तथागत ने आनन्द को सम्बोधित किया – 'आनन्द ! क्या तुम में कोई ऐसा भी है जो यह सोचता हो कि संघ मुझ पर निर्भर करता है। आनन्द ! जो यह समझता हो कि संघ उसी पर निर्भर करता है वह ही संघ के लिये कुछ अन्तिम मार्ग–दर्शन करेगा। आनन्द ! तथागत यह कभी नहीं सोचते कि संघ उन पर निर्भर करता है और उन्हें उस का अन्तिम मार्ग–दर्शन करना चाहिये। इस लिये, आनन्द ! अपने दीपक अपने आप बनो। अपनी शरण आप जाओ। धर्म को अपना दीपक समझो। धर्म की शरण ग्रहण करो। अपने आप को छोड़कर किसी दूसरे की शरण न ग्रहण करो।' तथागत ने कभी भी आदमी के पापीपन या आदमी के दौर्बल्य को रेखांकित नहीं किया। उन्हों ने अपने अनुयाइयों को हमेशा उन के अन्दर जो देवत्व विराजमान है, उन के अन्दर जो शक्ति विद्यमान है, उसी की याद दिलाई। इस लिये जो बौद्ध है, वह यह नहीं समझता कि उसे किसी परा–प्राकृतिक 'भगवान' की कृपा के परिणाम स्वरूप मोक्ष प्राप्त हो सकता है। वह समझता है कि मोक्ष उस के आत्मप्रयत्न द्वारा प्राप्त हो सकता है, आत्म–बोध द्वारा प्राप्त हो सकता है।

बुद्धधर्म के बुद्धि का धर्म होने की दूसरी कसौटी है करिष्मों अथवा प्रातिहारियों के प्रति इस का दृष्टिकोण। इस के लिये किसी अतिरिक्त प्रमाण की आवश्यकता नहीं कि एक ऐसा धर्म जो किसी परा–प्राकृतिक 'ईश्वर' या लोकोत्तर तत्व को नहीं मानता, उस में किसी भी करिष्मे, बाह्य शक्ति द्वारा किसी भी प्रकार के हस्तक्षेप के लिये कोई जगह न हो। लेकिन प्राकृतिक अभ्यास द्वारा कुछ आश्चर्यजनक शक्ति प्राप्त कर सकने की सम्भावना से इनकार नहीं किया गया। बौद्ध अनुश्रुति का कहना है कि बुद्धत्व लाभ के साथ ही तथागत को छह अभिज्ञायें प्राप्त हो गईं थीं। साथ ही अनुश्रुति का यह भी कहना है कि असाधारण महत्व की नैतिक घटनाओं के साथ साथ आश्चर्यजनक घटनायें भी घटित होती हैं जैसे भूकंप होना या बिजली का गरजना। इतना होने पर भी बौद्ध भिक्षुओं को इस बात की अनुमति नहीं है कि वे किसी भी हालत में अपने को दूसरों की नजर में श्रेष्ठतर सिद्ध करने के लिये करिष्मे करें या करामातें दिखायें। अनुश्रुति कहती है कि तैर्थिकों ने पिण्डोल नाम के भिक्षु को कोई करामात कर दिखाने के लिये चुनौती दी। वह अपने ऋद्धि बल से आकाश में उड़ा और एक ऊंचे बांस पर लटकाये हुए भिक्षा पात्र को उतार लाया। तथागत ने उस की भर्तसना की और अपने भिक्षुओं को प्रदर्शन के लिये प्रातिहारी दिखाने से मना किया। एक अवसर पर भगवान बुद्ध के कुछ भिक्षुओं ने

तथागत से प्रार्थना की की वे उन्हें अपना ऋद्धि–बल प्रदर्शित करने की अनुमति दे दें। ऐसा करने से वे लोगों की नजर में ऊँचे उठ सकेंगे। भगवान बुद्ध का उत्तर था, भिक्षुओ, ऋद्धियों के तीन प्रकार हैं – पहला है शक्ति–प्रदर्शन जैसे पानी पर चलना, भूत–प्रेतों को निकाल बाहर करना, मुर्दों को जीवित कर देना आदि। यदि श्रद्धा सम्पन्न व्यक्ति इन प्रातिहारियों को देखता है तो उस की श्रद्धा अधिक गहरी हो सकती है। लेकिन जो अश्रद्धालु है, इस से उस में कोई परिवर्तन नहीं होगा। वह सोच सकता है कि ये सब जादू–टोने के परिणाम हो सकते हैं। इस लिये मैं ऐसे करिश्मों को दिखाना खतरनाक समझता हूं। इन का दिखाना लज्जा-जनक है और घृणोत्पादक है। दूसरा ऋद्धि–बल है भविष्य–वाणी करना, जैसे दूसरों के विचार जान लेना या दूसरों का भला–बुरा भाग्य बताना। इस हालत में भी निराशा ही हाथ लगेगी, क्यों कि जो अश्रद्धालु है वह यही समझेगा कि यह भी कुछ असाधारण जादू–टोना ही है। अन्तिम है धर्म–दीक्षा की ऋद्धि। जब मेरा कोई भिक्षु किसी को भी शिक्षित करके किसी को भी सुमार्गगामी बना देता है तो वह एक सच्चा करिष्मा होता है। किसी करिश्मे द्वारा किसी का धर्मान्तर करना, भाषण–शक्ति द्वारा, भावुकता को उमाड़कर धर्मान्तर करना स्थायी धर्म–दीक्षा नहीं हो सकती। इस लिए तथागत ने आकस्मिक घटनाओं से उत्पन्न होने वाले संवेग से होनेवाली धर्म–दीक्षाओं की संभावना से तो इनकार नहीं किया, लेकिन उन्हों ने विचार परिवर्तन और शिक्षण के माध्यम से होनेवाली धर्म–दीक्षाओं के अतिरिक्त शेष सभी धर्मान्तरों का निषेध किया है।

जब शाक्यमुनि गौतम बुद्ध से यह आशा की जाती थी कि वे कोई करिष्मा, कोई करामात करके दिखायेंगे, तो वे कैसे साधनों का उपयोग करते थे, यह बात कृषा गौतमी की कथा से स्पष्ट हो जाती है। किसा गौतमी नाम की तरुण स्त्री का एक ही बच्चा था और वह मर गया। अपने सन्ताप में वह अपने बच्चे की लाश को घर घर लिये घूमती थी ताकि उसे कहीं से कुछ औषध मिल जाय। लोग उस की यह कह कर भर्तस्ना करते थे कि क्या तू पागल हो गई है। तू अपने मरे हुए बच्चे के लिये दवाई खोजती फिरती है। आखीर में एक आदमी ने उसे शाक्य–मुनि के पास, जो सभी के सभी प्रकार के रोगों के चिकित्सक थे, जाने के लिये कहा। कृषा गौतमी तथागत के पास पहुंची और उन से उस दवाई की याचना की, जो उस के बच्चे को चंगा कर दे सके। बुद्ध का उत्तर था, 'मैं तेरे बच्चे को अच्छा कर दूंगा, यदि तू किसी ऐसे घर से जिसमें न किसी का बच्चा मरा हो, न पति मरा हो, न माता–पिता मरें हो और न कोई मित्र ही मरा हो, सरसों के दानों की एक मुठ्ठी ला देगी।' वह घरघर भटकती फिरी। लोग दया–बुद्धि से उसे सरसों के दानों की मुठ्ठी दे देते, लेकिन जब वह पूछती कि तुम्हारे यहां कोई मर तो नहीं गया है, तो प्रत्येक घर से उसे एक ही उत्तर मिलता – 'अरे जीने वाले थोड़े हैं। मरे ही बहुसंख्यक हैं।' वह दिनभर नगर में भटकती रही। जब रात होने लगी,

उसे समझ आने लगी – 'अरे ! यह तो असम्भव लगता है। मैं सोचती थी कि अकेला मेरा पुत्र ही मर गया है। लेकिन इस नगर में जीवितों की अपेक्षा जो मरे हैं, वेही बहुसंख्यक हैं।'

जब वह यह सोचने लगी तो अपने मरे हुए बच्चे के प्रति जो उस की स्वार्थ-पूर्ण आसक्ति थी, वह जाती रही। वह जंगल में गई, अपने बच्चे को दफना दिया और तथागत के पास वापस लौटी। तथागत ने उसे धर्मामृत का पान कराया, जो सभी के सभी प्रकार के दुःखों की दवा है।

अकेले बौद्धधर्म के बारे में ही यह कहा जा सकता है कि यह धर्मान्धता से सर्वथा मुक्त है। जब कि उस का उद्देश्य आत्म संयम और आत्म–साधना द्वारा सभी आदमियों में एक आन्तरिक परिवर्तन लाना है, तो यह किसी का भी धर्म–परिवर्तन करने के लिये जबर्दस्ती कर ही कैसे सकता है। रुपये का उपयोग भी कैसे कर सकता है ? और किसी को बहका भी कैसे सकता है। तथागत ने केवल मुक्ति–पथ दिखा दिया है। अब यह प्रत्येक व्यक्ति का काम है कि वह अपने लिये तै करे कि वह उस रास्ते पर चलेगा या नहीं ? प्रत्येक धर्म किन्हीं आवश्यकताओं की पूर्ति करता है और किन्हीं प्रवृत्तियों की ओर झुकता है। पहली नजर में वह कितना भी मिथ्या विश्वास परिपूर्ण लगे, वह कुछ मूल–भूत स्वभाव–धर्मों की बाह्य अभिव्यक्ति होता है और इस लिये उस में कुछ सत्यांश रहता है। बुद्धधर्म का प्रयास रहता है उस सत्यांश की ओर संकेत करना और उस की एक नई तथा श्रेष्ठतर व्याख्या करके उसे एक नया विकसित स्वरूप देना।

इसी लिये संसारभर के बौद्ध नरेश सर्वाधिक सहनशील और उदार रहे हैं। यद्यपि सम्राट अशोक स्वयं एक पक्के बौद्ध थे, तो भी उन्हों ने ब्राह्मणों को, जैनों को और बौद्धों को भी अनुदान दिये हैं। अपने बारहवीं शिला–लिपि में अशोक ने उत्कीर्ण कराया है – जो कोई अपने सम्प्रदाय को ऊँचा उठाने के लिए अपने संप्रदाय की आकाश तक स्तुति करता है और दूसरे सभी सम्प्रदायों का निग्रह करता है, वह स्वयं अपने संप्रदाय को हानि पहुंचाता है। श्री लङ्का के मध्यकालीन बौद्ध नरेश उन सभी दूसरे मतों के अनुयाईयों के प्रति जो उनके देश में थे दयालु थे और उन की भावनाओं का ख्याल रखते थे। बंगाल के पालवंशी राजा स्वयं कट्टर बौद्ध थे, लेकिन ब्राह्मणों को भी दान देते थे। दूसरी और ब्राह्मणों ने न केवल बौद्धों पर अत्याचार ही किये, बल्कि उनकी शेखी भी बघारी है। पुष्यमित्र नरेश देवताओं का पूजक था और बहुत से यज्ञ याग किये थे। उसने दूसरी शती में बहुत से संघारामों को नष्ट कर दिया था और वहाँ के निवासी भिक्षुओं को मार डाला था। कनिष्क के सौ वर्ष बाद श्रावस्ती नरेश विक्रमादित्य बौद्धों पर अत्याचार करनेवाला हो गया। शिव की पूजा करनेवाले मिहिरकुल ने अगणित बौद्धों को मौत के घाट उतारा।

सातवीं शताब्दी के मध्य में बंगाल का नरेश शशाक बौद्ध धर्म का कट्टर शत्रु हो गया। उस ने बोधि–वृक्ष को जड़ से उखाड़ फेंकने की अनेक बार कोशिश की। कश्मीर में क्षेमगुप्त और श्रीहर्ष ने बौद्धों पर निर्मम होकर अत्याचार किये। कुमारिल भट्ट के आदेश पर बौद्धों को केरल से निकाल बाहर किया था। शङ्कर दिग्विजय के अनुसार सुधन्वा नरेश ने अपनी प्रजा को आज्ञा दी थी, 'रामेश्वरम् से हिमालय तक जो कोई चाहे तरुण हो और चाहे वृद्ध हों, बौद्धों की हत्या नही करता स्वयं मारा जायगा।' बृहन्नारदीय पुराण के अनुसार बौद्ध–विहार में प्रवेश मात्र ही इतना बड़ा अपराध माना गया था कि इस के लिये क्षमा न थी। बंगाल के महान स्मृतिकार शूलपाणि ने बौद्ध पर नजर पड़ जाने को एक बड़ा पाप घोषित किया हैं और जिसके लिये कठोर प्रायश्चित की व्यवस्था की है। अनुभागवत नाम का एक उपपुराण है। इस का विषय है कलकी अवतार। इस में लिखा है कि विष्णु का जो अवतार होनेवाला है उस का पहला आक्रमण कीकटमें बौद्धों के विरुद्ध होगा। जिन के अहिंसा सिद्धांत को मान्यता प्राप्त हुई है वह जैन भी बौद्धों के प्रति असहन-शील रहे हैं। श्रावणबेल्लीगोल के अकलङ्क देव नाम के एक जैन आचार्य की प्रेरणा से काञ्ची के हिमशीतल की अदालत से बौद्धों को निकाल बाहर किया गया था। मदुरा का वर पण्डया जब जैन हो गया तो उसने कहा जाता है कि बौद्धों पर व्यक्ति-गत रूप से अत्याचार किया और उन्हें देश निकाला दे दिया। चीन में कनफ्युशिस-धर्म वालों ने तीन तीन बार बौद्धों पर कठोर अत्याचार किया। जापानी शिन्तो धर्म मानने वालों ने भी बौद्धों को नहीं बख्शा। अत्याचार और खून खराबा इस्लाम से स्थायी रूप से सम्बन्धित है। दो हजार वर्ष तक जारी युद्धों के रूप में, अत्या-चारों के रूप में करोड़ों रुपयों के रूप में और हजारों मानवों के जीवन के रूप में ईसाइयत को कीमत चुकानी पड़ी है। लेकिन जब बौद्ध अत्याचार के भाजन भी हुए तब भी उन्होंने कभी बदला लेने के लिए भी अत्याचार नहीं किया। कहीं भी बौद्ध ग्रन्थों में हमें ऐसी भावनाओं की अभिव्यक्ति पढ़ने को नहीं मिलती, जैसी यहाँ है। 'ये मेरे जो शत्रु यह नहीं चाहते कि वह मेरे अधीन रहें, उन्हें मेरे सामने लाओ और उन की हत्या कर डालो।' – इन शब्दों के साथ सद्धर्म पुण्डरीक में तथागत ने जो निर्देश दिया है, उस की तुलना करे। 'दानशीलता मेरा निवासस्थान है, सहनशीलता मेरा चीवर (=वस्त्र) है और मैं शून्यता के आसन पर विराजमान हूँ। उपदेशक को चाहिये कि इसी भूमिका पर स्थित होकर वह उपदेश दे। जब मिट्टी के डले बरसों, लाठियों से पिटाई हो, कीले चुभे या गालियां सुननी पड़े, या धमकियां दी जायें, तो उसे मेरा ध्यान कर सहनशील बना रहना चाहिये।' बौद्ध उपदेशक का आदर्श पूर्ण भिक्षु है, जो कभी गुलाम था और बाद में धनाढ्य व्योपारी हो गया था। अपनी सारी सम्पत्ति का त्याग कर वह 'भिक्षु' बन गया था। जब उसे सूचना मिली कि जिन जंगली मनुष्यों को वह उपदेश देने जा रहा हैं, वे उस के लिये बहुत खतरनाक भी साबित हो सकते

हैं, उस का उत्तर था, 'जब वे मुझे गालियां देंगे तो मैं अपने मन में सोचूंगा कि ये लोग असंदिग्ध रूप से भले आदमी हैं, क्योंकि ये मुझे पीट नहीं रहे हैं। यदि वे मुक्के मारेंगे, तो मैं सोचूंगा कि ये लोग असंदिग्ध रूप से अच्छे आदमी है क्योंकि ये लोग लाठियों का इस्तेमाल नहीं कर रहे हैं। यदि वे आगे बढ़कर लाठियां भी चलाने लगे तो मैं सोचूंगा कि ये बहुत ही अच्छे लोग हैं, क्योंकि ये मुझे जान से नहीं मार रहे हैं। यदि वे मुझे जान से मारने लगे तो मैं यह कहते कहते मर जाऊंगा कि ये लोग कितने अच्छे हैं जो मुझे इस निकम्मे शरीर से मुक्ति दिला रहे हैं।' यह जो सर्व व्यापी क्षमाशीलता है, यह जो उपद्रियों को भी कुछ भी नहीं कहना है, इसी का व्यवहारिक रूप है सहनशीलता।

बौद्धधर्म में जो धर्म प्रचार की भावना है, वह उस की अपनी विशेषता है। ब्राह्मणवाद के लिये यह एकदम बाह्य प्रक्रिया है। ब्राह्मण को अकेला घमण्डी जीवन जीना पसन्द हैं। और वह वैसा ही जीवन जीता भी है। दूसरी ओर एक बौद्ध बिना अपने धर्म का प्रचार किये रह ही नहीं सकता। बौद्ध धर्म का मानस आदमी के साथ आदमी का सम्बन्ध जोड़ता है। यह सम्बन्ध ही एक शब्द में भ्रातृभाव कहलाता है। यही वह विश्व-व्यापी विचार है जिस से विश्व-व्यापी धर्म-दूत भावना की उत्पत्ति होती है। सभी दानों में धर्म का दान सब से बढ़कर दान हैं। 'भिक्षुओ, बहुत जनों के हित के लिये, बहुत जनों के सुख के लिये विचरो। दुनिया पर दया करो। ऐसे धर्म का उपदेश दो जो आदि में कल्याण-कारक है, मध्य में कल्याणकारक है, और अंत में भी कल्याणकारक है- अर्थोंसहित और शब्दोंसहित। कुछ ऐसे प्राणी हैं जिन की आंखों पर बहुत धूल नहीं चढ़ी है। यदि उन तक भी धर्म नहीं पहुंच सकेगा तो वे विनाश को प्राप्त होंगे। वे मोक्ष लाभ नहीं कर सकेंगे, उन तक पवित्र जीवन का संदेश पहुंचाओ। वे धर्म को समझेंगे और उसे ग्रहण करेंगे।' तथागत ने इस प्रकार का प्रेम-भरा अनुशासन अपने भिक्षुओं का किया। उस आज्ञा का अक्षरशः पालन करने की दृष्टि से तथागत के भिक्षुओं ने पहले दूसरों की ही चिन्ता की है, अपनी बाद में। अपने घरों को भूलकर, मृत्यु का आलिंगन करने के लिये सदा तैयार, सफलता असफलता की ओर से उदासीन, मिथ्या-धारणाओं से जिन बहुसंख्यक लोगों की आंखें मुंदी थी, वे उन की आंखें खोलने में लगे रहे हैं। पवित्र धर्म का प्रचार करने के लिये उन्हों ने जल-स्थल की यात्रायें कीं, बर्फीले पर्वतों को और बालू के कान्तारों को पार किया और सभी खतरों तथा विपत्तियों को सहन किया। कुमार जीव, फा हियान, युवान च्यांग, दीपंकर तथा व्ही शेन के नाम ही इस बात के द्योतक हैं कि सद्धर्म अपने मानने वालों को कितना उत्साहित कर सकता था और उन्हें कितनी प्रेरणा दे सकता था। जिन जिन देशों में यह सद्धर्म पहुंचा, वहाँ इस का जो शीघ्रता से प्रचार हुआ, उसका कारण कोई राजकीय प्रभाव

नहीं रहा, बल्कि इसकी अपनी आध्यात्मिक सामर्थ्य तथा श्रेष्ठतर प्रचार पद्धति ही रही है।

बिना तलवार की मदद के, बिना बन्दुकों या तोफों की सहायता के, एशिया के सब से अधिक घनी आबादी वाले प्रदेशों में, बौद्ध धर्म ने अपना शान्ति और सद्भावना का संदेश सर्वथा जंगली लोगों तक पहुंचाया और उन्हें सभ्य बना दिया। श्री. मैक्समूलर के लिये यह एक महान् आश्चर्य का विषय है कि एक ऐसे धर्म ने जो सभी वस्तुओं के न रहने की बात करता है, व्यक्ति के व्यक्तित्व के विस्मरण को अपना ऊँचे से ऊँचा आदर्श मानता है और उस के लिये प्रयत्नशील रहता है, लाखों करोड़ों आदमियों को प्रभावित किया। इतना ही नहीं इस के साथ साथ नैतिकता, न्याय, करुणा और आत्म–त्याग पर जोर देकर इसने न केवल भारतीयों पर, लेकिन मध्य एशिया की निम्नतम जंगली जातियों पर भी निश्चयात्मक रूप से कल्याणकारी प्रभाव डाला। यह सब कैसे हुआ ? यह कोई इतनी कोई बड़ी उलझी हुई बात नहीं है कि जो सुलझाई ही न जा सके। जरूरत इस बात है कि हम यह जान लें कि तथागत के धर्म में न धर्मान्धता के लिये कोई जगह है और न असहनशीलता के लिये। यह बौद्धधर्म की उदाराशयता और सहन-शीलता की भावना ही थी जिस के कारण बौद्धधर्म के लिये यह संभव हुआ कि वह असभ्य, अपने पूर्वजों की पूजा मात्र को धर्म माननेवाली जातियों के लिये ग्राह्य बना सके और ऐसा करते हुए उन जातियों को सभ्य जगत की दृष्टि में ऊँचा उठा सके। यदि बौद्धधर्म में सभी के हितचिंतन की भावना न होती तो वह अपने आप को एक ओर तिब्बत के बौन लोगों के लिये, दूसरी ओर चीन के ताओं के लिये, तीसरी ओर जापान के शिनटो लोगों के लिये, चौथी ओर बर्मा के नाट लोगों के लिये और पांचवी ओर श्रीलंङ्का के प्रेत लोगों के लिये कभी ग्राह्य न बन सकता। यह एक आगम है, सत्य की ओर एक कदम। यह इस्लाम और इसाइयत की तरह हठधर्मी का धर्म नहीं। इसी कारण से बौद्ध धर्म में इतना औदार्य है और दूसरी ओर इतना लचीलापन है कि यह ईश्वरवाद और अनीश्वरवाद दोनों का, एकात्मवाद तथा द्वैतवाद दोनों का, सर्वेश्वरवाद तथा बहुदेववाद दोनों का, प्रेतपूजा तथा जीववाद दोनों का, मूर्ति–पूजा तथा मूर्ति भंजन दोनों का, ध्यान–भावना तथा प्रचंड उछल कूद दोनों का, देवताओं और राक्षसों दोनों का, सत्पुरुषों और वीर–पुरुषों दोनों का, ऊंचे प्राणी तथा नीचे प्राणी दोनों का, ऊपर के लोक तथा नीचे के लोक दोनों का और स्वर्गों तथा नरकों दोनों का समावेश कर सकता है। इतना होने पर भी यही एक मात्र धर्म ऐसा है जो अपने अनुयाइयों पर कोई भी एक निश्चित मत जबर्दस्ती लादता नहीं। यदि सब मिला-कर बौद्ध धर्म की अन्त:सरिता आदमी को एक सुन्दर तथा श्रेष्ठ जीवन की ओर अग्रसर करती हो और करुणा, दानशीलता तथा सहनशीलता के रूप में अभिव्यक्त होती हो और उस में उपेक्षा की भावना के साथ साथ मुदिता–भावना

भी परिलक्षित होती हो तो उस के साथ साथ यदि थोड़ा सा मिथ्या–विश्वास भी हो तो वह क्षम्य है ।

धर्मों में एक मात्र बौद्धधर्म ही ऐसा है जिस में असीम औदार्य सम्मिहित है और सभी प्राणियों के लिये करुणा भी । शाक्य मुनि गौतम बुद्ध के जीवन में यह कहीं नहीं आता कि उन्हों ने सूवरों को दानवों को सौंप दिया हो और उन्हें डुबोकर मार डाला हो, या ऋतु न रहने पर वृक्षों को शाप दिया हो कि उन में फल क्यों नहीं लगे या निर्दोष व्यापारियों को कोड़ों से पीटा हो । चीनी धम्मपद का कहना है कि तथागत के दुनिया में पदार्पण करने का उद्देश है गरीबों की, असहायों की, अरक्षितों की सहायता करना, शारीरिक रोगियों की सेवा करना – बौद्ध अबौद्ध कोई भी हों । जो दरिद्र हैं, जो अनाथ हैं और जो वृद्ध हैं उन की स्वयं मदद करना और ऐसा करके दूसरों को भी ऐसा करने की प्रेरणा देना । इन सब कुशल–कर्मों से इतना पुण्य प्राप्त होता है कि पूर्व के सभी संकल्प पूरे हो जाते हैं और वह जीवन के बड़े परमार्थ को हस्तगत कर लेता है । इसलिये बौद्धधर्म आत्मरक्षा के लिये भी किसी दूसरे को कष्ट देने–दिलाने से बचता रहा है । इस ने केवल यह ही शिक्षा नहीं दी कि बिना मैत्री के प्रज्ञा बंजर भूमि के समान है । इस शिक्षा का व्यवहार में इस ने इतना पालन किया कि स्वयं अपनी स्थिति के लिये ही खतरा पैदा कर लिया । इस ने एक राष्ट्र और दूसरे राष्ट्र में छिड़ने वाले युद्ध की हमेशा निन्दा की है । इस ने लगातार प्राण–दण्ड की सजा का विरोध किया है । इस ने हर अवसर पर खूनी यज्ञ–यागों का विरोध किया है । महावस्तु में लिखा है कि तथागत के पदार्पण ने अश्वमेध, पुरुषमेध तथा भारत में प्रचलित दूसरे भी पुण्डरीक आदि जो घृणित यज्ञयाग थे, वे सब बन्द कर दिये ।

एक धर्म किसी भी देश–विशेष की सभ्यता को उस की कला के माध्यम से ठोस रूप से प्रभावित करता है । बौद्धधर्म की शान में जो एक बात कही जा सकती है वह यह है कि इस ने मानवों की सौन्दर्य सम्बधी आकांक्षाओं की सन्तुष्टि की ओर हमेशा ध्यान दिया है । जहाँ जहाँ बौद्ध धर्म पहुंचा है, कलापूर्ण पैगोड़ा, विशाल विहार, सुन्दर स्तूप अस्तित्व में आये हैं । कुछ बौद्ध उत्कीर्ण कृतियां भारत की आज तक की उत्कीर्ण कृतियों में सर्व श्रेष्ठ हैं । वे शैली की दृष्टि से कमाल हैं । उन की तुलना में प्राचीन संसार में भी कहीं भी कोई भी ऐसी कला–कृति नहीं है जो उन से अधिक सुन्दरतर हो । चीन और जापान के प्राचीनतम भवन बौद्ध विहार ही है । अजन्ता के भित्ती–चित्रों का सौन्दर्य और आकर्षण इस बात के गवाह हैं कि तथागत के धर्म ने कला को बहुत ही बड़ी देन दी थी । दूसरा कौन सा ऐसा धर्म है जिस ने अपने अनुयाइयों को ऐसी भक्ति और प्रेरणा दी हो, जिस ने ऐसी बाह्य अभिव्यक्ति पाई हो जैसी जावा के बोरो–बंदर स्तूप के रूप में विद्यमान है । श्रीमान सी अर्नोल्ड और श्री फ्रॉस्ट का कथन है कि अमरीका के प्रथम महान वास्तुकलाशिल्पी

जावा और हिन्द-चीन से आये थे। ब्राह्मणवाद के पास भारत में अपनी कोई कला नहीं थी, और वैष्णव-धर्म तथा शैव-धर्म की जो लचकदार कला बौद्ध भिक्षुओं के शिल्प की हरामी सन्तानें हैं। डा. ग्रीनवेड्ल का कहना है कि ब्राह्मण कला का मूर्तिपक्ष, जितनी हमारी जानकारी है, प्रधानरूप से बौद्धतत्वों पर ही आश्रित है। यहाँ तक कि उत्तरी बौद्ध के उत्पत्तिकाल के समय में ही जिन शैव मूर्तियों का आविर्भाव हुआ, उन सब का एक ही स्थिर आकार प्राकार है, जब कि वैष्णव मूर्तियाँ बौद्ध तत्वों का अनुकरण करती हैं। इस की भिन्न भिन्न व्याख्यायें की गई हैं। इन से भी अधिक जैन कला का प्रतिनिधित्व करनेवाली मूर्तियां बौद्ध शिल्प पर निर्भर करती हैं। श्री. वी. वी. हैवल का तो कहना है कि हिन्दु कला में-चित्रकला तथा शिल्पकला दोनों में-जो कुछ भी सर्व श्रेष्ठ है, वह सीधे सीधे बौद्ध धर्म से ही लिया गया है। जो बौद्ध है वह प्रयास करता कि प्रकृति तथा कला में जो अधिक से अधिक सौन्दर्य संभव है उन दोनों को एक कर दिया जाय। उस का यह उद्देश नहीं होता कि सामान्य प्रभाव उत्पन्न किया जाय या तीर्थ-यात्रियों के लिये कुछ आकर्षण प्रदान किया जाय। वह यह करता है कला में अपने आध्यात्मिक मूल्यों को साकार करने के लिये। अपने धर्मानुयाइयों की सौन्दर्य-बोध सम्बन्धी आकांक्षा को सन्तुष्ट करने जाकर बौद्ध धर्म ने कहीं भी अपने मुख्य सिद्धान्तों की उपेक्षा नहीं की है। बौद्ध के लिए जितना भी मजा है, वह सब निषेधरूप ही है और इस निषेध को स्थायित्व देने मात्र से आत्मार्थीपन का नाश हो सकता है। इस लिये सौन्दर्य प्रेम में वृद्धि की भावना से व्यक्तिगत संतोष प्राप्त होता ही है और कला की उन्नति से अनिवार्य तौर पर सर्व व्यापक मोक्ष की प्राप्ति की सिद्धी होती ही है।

न केवल वस्तुकला और मूर्तिकला, चित्रकला और उत्कीर्णकला सदृश कलाओं के लिये ही भारत बौद्धधर्म का ऋणी है, बल्कि सामान्यरूप से विज्ञान और संस्कृति को लेकर भी। भारतीय चिकित्साशास्त्र की उन्नत अवस्था का सर्व श्रेष्ठ समय वही था, जब बौद्धधर्म अपने शिखर पर था। हो सकता हैं कि प्राचीन ब्राह्मणों ने शरीर शास्त्र सम्बन्धी कुछ आरम्भिक ज्ञान उस समय प्राप्त किया हो जब वे यज्ञ-याग के लिये पशुओं की चीरफाड़ करते थे। लेकिन चिकित्सा शास्त्र का यथार्थ विकास उन सार्वजनीन हस्पतालों में हुआ जिन की स्थापना सम्राट अशोक ने भारत के हर बड़े नगर में की थी। भगवान बुद्ध का आदेश था कि जो मेरी सेवा करना चाहता है, वह रोगियों की सेवा करे। प्रसिद्ध चरक संहिता के रचयिता चरक बौद्ध राजा कनिष्क के राज-वैद्य थे। नागार्जुन ने आयुर्वेद विज्ञान को नया जीवन प्रदान किया। उस की प्रतिभा और उस के पाण्डित्य के फलस्वरूप ही हमें शुश्रुत के परिवर्द्धित संस्करण की प्राप्ति हुई है। शुश्रुत का अगला हिस्सा जो उत्तरतन्त्र कहलाता है नागार्जुन के ही स्वतन्त्र चिंतन और खोज का परिणाम है। एक सच्चे बौद्ध की परम्परा का अनुकरण करते हुए नागार्जुन ने बिना किसी भेद-

भाव के सभी को आयुर्वेद का शिक्षण दिया । आज आयुर्वेद के आरम्भिक विद्यार्थियों द्वारा जिस ग्रन्थ का अध्ययन किया जाता है, वह वाग्भट भी एक बौद्ध की ही रचना है। नागार्जुन ने ही अर्क निकालने तथा उन्नयन की पद्धतियों की खोज की और इस प्रकार रसायन–शास्त्र को बढ़ावा दिया। श्रद्धालु बौद्ध राजाओं ने अपने धार्मिक उत्साह को, अपनी पाकीज़गी को, अपनी बुद्धिमत्ता को बड़े बड़े सिंचाई के आयोजन और सार्वजनिक सड़कें बनवाकर अमली जामा पहनाया। इस प्रकार इंजीनियरिंग को एक नई प्रेरणा मिली। दिग्नाग और उन के शिष्य धर्मकीर्ति ने 'प्रमाणों' पर लिखे अपने ग्रन्थों के माध्यम से भारतीय तर्कशास्त्र को नया बल दिया। वररुचि, जयादित्य, वामन और चन्द्र ने व्याकरण सम्बन्धी ग्रन्थ लिखे। व्यादि और अमरसिंह ने शब्द–कोष तैयार किये। नालन्दा के महान विश्वविद्यालय सदृश बौद्ध सभ्यता के केन्द्र–स्थानों में सभी विज्ञानों तथा कलाओं का अध्ययन होता था। थियोडर बेनफ़े नामक पुरातत्वविद का कहना है कि भारत के मानसिक विकास का पुष्प, भले ही वह बौद्ध ग्रन्थों में पुष्पित हुआ हो और भले ही ब्राह्मण ग्रन्थों में, उस का मूल श्रोत धर्म ही है और वह उसी समय फला फूला है जब बौद्धधर्म प्रतिष्ठित था। सर डब्ल्यु. हन्टर का कहना है कि भारत में बौद्धधर्म के श्रेष्ठतम अवशेष किन्हीं खास संस्थानों में नहीं, बल्कि लोगों के धर्म में है, उस भ्रातृभाव के आग्रह में हैं, जिस से प्रायः हर बार हिन्दु धर्म का नव जागरण आरम्भ होता है। वह उस शरण–स्थल में है जो जाति–पांति की मारी हुई स्त्रियों को वैष्णव धर्म प्रदान करता है, विधवाओं को प्रदान करता है, अछूतों को प्रदान करता है। सभी आदमियों के साथ सभ्यता तथा शिष्टता का व्यवहार करने का जो अभ्यास है, जिस ने भारत में एक कानून का स्थान ले लिया है उस के मूल में यही है। इसी का यह परिणाम है कि चाहे व्यंग से ही सही प्रत्येक हिन्दु 'शान्त हिन्दु' कहलाता है।

जब चीन में बौद्ध धर्म ने अपनी जड़े जमा ली तो इस ने कन्फ्युशियन–वाद को इतना अनुबल दिया कि उस में लु–सियांग सॅन, छू त्झे तथा वॅन यांग मिंग जैसे महान चिन्तक पैदा हुए। जब भी बौद्ध धर्म ने किन्हीं भी लोगों के जीवन में प्रवेश किया, इस ने उन के जीवन को संवारा, उन्हें नफासत दी। अपनी किताब 'जापानी जीवन' में प्रो. बेसिल हाल चैम्बरलेन ने लिखा है, 'शताब्दियों तक सारी शिक्षण पद्धति बौद्धों द्वारा ही संचालित होती रही । गरीबों तथा बीमारों की देखभाल भी उन्हीं के द्वारा होती रही । बौद्धधर्म ने कला का प्रवेश किया, चिकित्सा पद्धति का प्रवेश किया, देश के ग्रामीण साहित्य को संवारा, नाटकीय काव्य को जन्म दिया, राजनीति और सामाजिक तथा मानसिक जीवन के हर पहलु पर गहरा असर डाला। एक शब्द में कहा जाय तो बौद्ध धर्म वह गुरु था, जिस के संरक्षण में जापानी जाति ने उन्नति की । इस में कोई सन्देह नहीं कि जापानी सभ्यता पर बौद्ध धर्म का जो प्रभाव पड़ा वह बहुत था, गम्भीर था, नानाविध था और

असीम था। . . . यह एक प्रकार से शिन्तो–वाद की तरह ही सरकारी धर्म बन गया। इस ने उंचे से उंचे वर्ग को प्रभावित किया, गरीबों को भी कम नहीं। इस ने सम्राटों को भिक्षु बना दिया और उनकी बेटियों को भिक्षुणियाँ . . . यह शासकों और न्यायाधीशों के आचरण का फैसला करता था . . . बुद्ध का धर्म जापान में एक नया प्रभाव लेकर आया, एक उदात्त मानवीय भावना का, कोमलता के एक नये सन्देशका। शब्द के ऊंचे से ऊंचे अर्थों में इस ने सभ्य बनाने का काम किया। . . . किसी भी प्राणी के प्राणों के प्रति एक नयी आदर की भावना पैदा करने के साथ साथ ही इस ने जापान को कला दी, चीन के उद्योग दिये, वस्तु शिल्प दिया, चित्रकला दी, मूर्ति–कला दी, उत्कीर्ण करना सिखाया, छाप-खाने दिये और बागवानी सिखाई। थोड़े में कहना हो वह प्रत्येक कला और उद्योग सिखाया जो जीवन को सौन्दर्य प्रदान करता है।' ऐसी सभी बातें बौद्ध शिक्षण के अधीन प्रथम बार जापान में ही विकसित हुईं। लेकिन राष्ट्र का सबसे अधिक उपकार जो बौद्ध धर्म ने किया वह शिक्षण के माध्यम से किया। शिन्तो पुरोहित शिक्षक नहीं थे। दूसरी ओर बौद्ध धर्म ने सभी को शिक्षा का प्रसाद प्रदान किया, केवल धर्म की ही शिक्षा नहीं, बल्कि कला और चीन के ज्ञान–विज्ञान की भी। आगे चलकर बौद्ध विहारों ने सामान्य विद्यालयों का रूप ले लिया, अथवा सामान्य विद्यालय उन बौद्ध विहारों के साथ संलग्न थे। शनै शनै राष्ट्रभर का शिक्षण बौद्धों के हाथ में आ गया और उनका नैतिक प्रभाव सर्वोत्कृष्ट बात थी। जो समुराई विद्वान थे उन्हें प्रसिद्ध बौद्ध अध्यापकों से शिक्षण और ट्रेनिंग मिली। सामान्य लोगों के लिये सर्वत्र बौद्ध भिक्षु ही अध्यापक था। जापानी चरित्र में जो कुछ भी आकर्षक है, उस का अधिकांश बुद्ध धर्म की ही देन है। बौद्ध धर्म का जापानी जीवन पर जो प्रभाव पड़ा है, उस का पूरा पूरा ब्योरा देने के लिये अनेक ग्रन्थों की अपेक्षा होगी। जापानी जीवन की जितनी भी नफासत हैं, उस का मूल बौद्ध धर्म में ही है। आज भी जापान में शायद ही कोई एकाध आकर्षक और सुन्दर वस्तु दिखाई दे जिस का मूल बौद्ध धर्म में न खोजा जा सके।

जिन लोगों का झुकाव बौद्ध धर्म की प्रतिकूल टीका करने की ओर है, वे इस पर निराशावाद का आरोप लगाते हैं और कहते हैं कि यह उस मानसिक कमजोरी का परिणाम है जो गौतम--बुद्ध के जन्म स्थान के जलवायु का परिणाम थी। यदि सभी धर्मों का उद्देश मुक्ति की प्राप्ती है, तो कोई भी धर्म ऐसा नहीं जिस पर कम या अधिक मात्रा में निराशावादी होने का दोषारोपण न किया जा सके। क्यों कि जब हम मुक्ति की बात करते हैं, तो यह मान ही लेते हैं कि किसी न किसी प्रकार की बुराई से मुक्ति, किसी न किसी प्रकार के कष्ट से मुक्ति, भले ही वह कष्ट शारीरिक हो या मानसिक। क्या यहूदी पैगम्बर ने यह नहीं सिखाया कि सूर्य के नीचे रहकर हम जितने भी कार्य करते हैं, वे सब हमारा अहंकार मात्र हैं और खीजना है और कि आदमी जितने दिन भी जीता है उस के दिन दुःख में ही कटते हैं और

जितना भी परिश्रम करता है वह सर्वांश में कष्ट मात्र होता है । क्या ईसाई धर्म-दूत ने यह नहीं कहा है कि यह दुनिया दुःख का घर है और मृत्यु ही लाभ है? तो अकेले बौद्ध धर्म पर निराशावादी होने का आरोप क्यों लगाया जाय? सच्ची बात प्रो. ई. डब्ल्यू. हापकिन्स के अनुसार यह है कि हमारे पास इस हठकथन का तनिक भी प्रमाण नहीं है, जो यहाँ तक बार बार दोहराया गया है कि लोगों को एकदम सत्य प्रतीत होता है कि बौद्ध धर्म या बुद्धोत्तरकालीन साहित्य ह्रासोन्मुख है। ब्राह्मण-ग्रन्थों में निश्चयात्मक रूप से मानसिक दौर्बल्य दिखाई देता है, किन्तु उस के लिये बंगाल की सडाण्ध को जिम्मेदार नहीं ठहराया जा सकता । वे जो धर्म पहले ही मर गया है, उस की अस्थियां मात्र हैं । इन्हें एक आलमारी में रखा गया है, सूखी, धूलभरी, निर्जीव, देखने वाले के लिये भयावनी, लेकिन मालिक के लिये उपयोगी । और फिर क्या यदि तर्क की कसौटी पर कसें और बौद्ध धर्म को उपनिषदों की भुला देने वाली विचार-सरणी के मुकाबले पर रखें तो क्या यह उन से कम मूल्यवान सिद्ध होने वाला है? हम ने दिखाया है कि मूल उपनिषदों में मान्यता मात्र थी, तर्क के लिये वहाँ तनिक गुंजायश न थी। हम उपनिषद के ऋषी-मुनियों की प्रशंसा करते हैं, लेकिन उन हिन्दु ऋषी-मुनियों की तार्किक सामर्थ्य के लिये हमारे मन में तनिक भी आदर का स्थान नहीं। इस का मतलब है कि वहाँ कुछ भी प्रशंसनीय नहीं हैं। उपनिषदों के दर्शन महाचार्य कवि थे, वे तार्किक नहीं थे। सुदूर दक्षिण में पहुंचते पहुंचते कविता वास्तव में क्षीण होती चली गई। वहाँ कुछ भी भावना-प्रधान या शक्तिशाली साहित्य की रचना नहीं हुई। हाँ, जब विदेश का प्रभाव पड़ा तब रामवाद और तमिल सितारों की रचना अवश्य हुई । लेकिन सूक्ष्मता में, बारीक बातों को समझने में, हठभरी मान्यताओं का वर्गीकरण और विश्लेषण करने में और साथ ही बाजारी सत्यों को वास्तविकता समझ बैठने में, हम उत्तर-पश्चिम तथा दक्षिण-पूर्व के विभाग में विशेष भेद नहीं देखते। यदि कोई ऊपरी भेद है तो उस का श्रेय बौद्ध धर्म को जाता है। क्योंकि यदि हठपूर्ण मान्यता को बिना अपनाये काम न चलता हो तो उस में कोई पद्धति तो होनी चाहिये । पूर्ववर्ती थियोसफी का आधार हठधर्मी मान्यता था, लेकिन उस में पद्धति कहीं छू तक भी नहीं गई थी। इतना ही नहीं बुद्ध धर्म में सापेक्ष दृष्टि से कहीं अधिक जोरदार मानसिक उत्साह है। वेद-वाद को छोड़कर ब्राह्मण-वाद के कहीं किसी स्वरूप में भी नहीं । न केवल देवताओं को बल्कि आत्मा तक का भी निष्कासन, साथ ही काय-क्लेश वाद की नैतिक योग्यता को अस्वीकार करना, यह शून्य में एक छलांग मारना था। यह कितने बड़े साहस का काम था, इसे समझने के लिये बुद्ध के विरोधी – कट्टरपंथी तथा धर्म-विरोधी लोगों का साहित्य बांचना चाहिये। तब हमें दिखाई देगा कि बौद्धधर्म में न तो भ्रष्ट नैतिकता है और न मानसिक दुर्बलता है। बौद्धधर्म का निराशावाद, जहाँ तक उस का इस भूमि से सम्बन्ध है,

न केवल वही निराशावाद नहीं है जो ब्राह्मण सर्वेश्वर वाद के मूल में है, बल्कि यह वही निराशावाद है जो ईसाइयत और यहूदी परम्परा तक में व्याप्त है । जैसे प्रो. जेम्स का कथन है, सम्पूर्णतम धर्म वे ही हैं जिन में निराशावाद पूरी तरह विकसित हुआ है। यदि निराशावाद का मतलब है यह मान्यता कि दुनिया दुःखों और कष्टों का केन्द्र है, तो यह दृष्टिकोण तो सभी धर्मों में समानरूप से व्याप्त है। लेकिन अकेला बुद्धधर्म ही यह सिखाता है कि यद्यपि मरणान्तर संसरण करने वाला कहीं कोई आत्मा नहीं हैं तो भी आदमी को साहसी और शान्त रहना चाहिये, पवित्र और प्रेमिल होना चाहिये तथा शरीफ और बुद्धिमान होना चाहिये ।

किसी भी धर्म के प्रभाव का अन्दाजा किसी भी देश के लोगों के व्यवहार और उन के रीति-रिवाजों से लगाया जा सकता है । भारत ने अपने महानतम पैगम्बर को अस्वीकार कर दिया। इस का क्या परिणाम हुआ ? यदि हम अपने निकटतम बौद्ध पड़ोसी बर्मा और भारत की तुलना करें तो हमें यह भेद समझ में आ जायेगा। भारत अनगिनत मिथ्या विश्वासों का एक बगीचा बन गया है, जो रोज रोज वृद्धि पर हैं। बर्मी लोगों के भी अपने मिथ्या-विश्वास हैं। वह नारों की पूजा करते हैं और उन्हें बलि चढ़ाकर संतुष्ट रखने का प्रयास करते हैं। लेकिन ये ऐसे मिथ्या-विश्वास नहीं हैं जो निम्न-स्तरीय हों और नैतिकता के विरुद्ध हों। बर्मी की आंखों के सामने उस का आर्य अष्टांगिक मार्ग हर घड़ी रहता है, जो दुःखों का अन्त करने वाला है। उसे यह सिखाया जाता है कि उस ने अतीत में जो कर्म किये हैं और वर्तमान में जो कर्म कर रहा है, उन का फल भुगतना होगा । वह तथागत कि इस देशना में विश्वास करता है कि "रोने पीटने से, दुःखी होने से चित्त की शान्ति प्राप्त नहीं होती।" वह एक मुस्कराहठ के साथ अपने भविष्य का मुकाबला करता है और वह जो सूर्यास्त के रंगों के परिधान धारण किये रहता है, वे उस की प्रसन्नता तथा आनन्द-प्रियता के प्रमाण हैं। हिन्दु बहुत ही कम अवसरों पर जीवन के आनन्द की अभिव्यक्ति कर पाता है। वह प्रायः मुंह लटकाये रहता है। उस का चिन्तित रहना उस की बाह्य नग्नता से भी प्रकट होता है। बर्मी के लिये नग्न रहना अपवित्रता है और जिगुप्सा का विषय है । बौद्ध धर्म एक प्रजातन्त्र है। इस की दृष्टि में सभी आदमी एक दूसरे के समान हैं। बर्मा में न कोई ब्राह्मण होता है और न कोई अछूत । कोई भी आदमी अपने किसी साथी की उपस्थिति अथवा स्पर्श से भ्रष्ट नहीं होता । वहाँ न जाति-पाति है, न परदे की प्रथा है। स्त्रियां अपने आप को घूंघटों और बुरकों से नहीं ढ़कती और बाजारों से ऐसे परहेज नहीं करती, मानों वे खतरे की जगह हों । बालविवाह और स्त्रियों को जोर जबर्दस्ती वैधव्य का जीवन बिताने के लिये मजबूर करना हिन्दु समाज को भीतर ही भीतर खाये जा रहा है।

वृक्ष की पहचान उस के फल से होती है। बौद्धधर्म ने अधिकार वाणी के स्थान

पर बुद्धिवाद को प्रतिष्ठित किया । इस ने जीवन की व्यवहारिक वास्तविकताओं के लिये जगह बनाने को दार्शनिक कल्पनाओं की उपेक्षा की, इस ने अपनी साधना से उच्च पदवी प्राप्त अर्हतों को देव–वाद के देवताओं के स्थान पर ला बिठाया, इस ने पैतृक पुरोहितवाद के स्थान पर आध्यात्मिक लोगों के भ्रातृत्व को प्रतिष्ठित किया, इस ने व्यर्थ की शास्त्रीयता के स्थान पर नैतिक जीवन कें आदर्श की स्थापना की, इस ने अकेले एकान्तवासी जीवन के स्थान पर सांघिक जीवन को महत्व दिया। इस ने राष्ट्रीय पृथक वाद के स्थान पर अन्तर्राष्ट्रीय एकात्मतावाद की स्थापना की। यह हठधर्मिता के स्थान पर श्रद्धा का संचार करता है, यह धर्मान्धता को हटाकर उत्साह का संचार करता है, यह हिंसारहित शक्ति देने वाला है, यह शेखचिल्लीपन से मुक्त आदर्शवाद को प्रतिष्ठित करता है, यह भौतिकवाद के स्थान पर प्रकृतिवाद को महत्व देता है, यह स्वच्छन्दता को हटाकर स्वतन्त्रता को प्रतिष्ठित करता है, यह काय–क्लेश का स्थान आत्म–परित्याग को देता है, यह अपने आप को कष्ट देने के स्थान पर पवित्र जीवन बिताने को कहता है। यह अस्वास्थ्य से विरहित सन्त–जीवन बिताने का आग्रह करता है। धर्मिता और करिश्में ईसाइयों के लिये बुद्धिमत्ता है, किस्मत और धर्मान्धता मुसल्मानों के लिये बुद्धिमत्ता है, जातिपांति और कर्म–काण्ड ब्राह्मणों के लिये बुद्धिमत्ता है, कायक्लेश तथा नंगापन जैनों के लिये बुद्धिमत्ता है, रहस्यवाद तथा मन्त्र–तन्त्र ताओ–धर्मी के लिये विद्वत्ता है, औपचारिकता और बाह्य पवित्रता कन्फ्युशियस के लिये विद्वत्ता है, पितृ–पूजा और मिकाडो के प्रति वफादारी शिन्तोधर्मी के लिये बुद्धिमत्ता है, और प्रेम और पवित्रता बौद्ध के लिये परं बुद्धिमत्ता है। अपनी मुक्ति को साकार करने के लिये बौद्ध को अपनी सभी स्वार्थमयी आकाक्षाओं का त्याग करना चाहिये और ऐसे चरित्र के निर्माण के लिये प्रयत्नशील रहना चाहिये जिस के बाह्य लक्षण हैं हृदय की पवित्रता, सभी प्राणियों के लिये करुणा, सत्य के प्रति शान्त अन्तर्दृष्टि से उत्पन्न साहस और प्रज्ञा। इस के अतिरिक्त वह सहनशीलता और विचारों की स्वतन्त्रता भी जो अपने घर–वालों को भी अपने निजी विचारों को शान्तिपूर्ण वातावरण में वहन करने का अधिकार प्रदान करती है। केवल बौद्ध-धर्म के बारे में ही यह कहा जा सकता है कि इसने जीववाद को पूर्णतः त्याग दिया है, हठधर्मिता का पूरी तरह परित्याग कर दिया है, इन्द्रिय लोलुपता का पूर्ण परित्याग कर दिया है, काय–क्लेश वाद को एकदम छोड़ दिया है, सभी कार्यकाण्डों से किनाराकशी कर ली है। यह दानशीलता, करुणा, आत्म–परित्याग और आत्म–बलिदान का ही साक्षी है। यही एक धर्म है जो इस बात की शिक्षा देता है कि आदमी के लिये यदि कहीं से कुछ आशा है तो मात्र आदमी से ही और कि वह –

> प्रेम मिथ्या है
> जो स्वार्थ–पूर्ण प्रेम के लिये,
> प्रेम से लिपटा है।

▣ ▣

तीसरा परिच्छेद

बौद्ध धर्म की नैतिकता

बौद्ध धर्म का उद्देश है दुःख और कष्टों से मुक्ति प्राप्त करना। इस उद्देश की सिद्धि के लिये स्वार्थपूर्ण आकांक्षाओं का अन्त होना ही चाहिये। आत्मार्थ तृष्णा के रूप में ही साकार होता है। यदि आत्मार्थ का उच्छेद करना हो तो तृष्ण का अवसान होना ही चाहिये। यदि किसी इन्द्रिय का निरोध करना हो तो उस इन्द्रिय विशेष की जो परस्पर विरोधी अवस्थायें हैं, उन के बीच का जो समय है, उस में कमी करनी ही चाहिये। तदनुसार यदि जो आत्मार्थ दुःख और कष्टों का जनक माना जाता है उस का मूलोच्छेद करना हो तो उस का एक ही उपाय है कि उस अवधि को जितना अधिक हो सके उतना लम्बा किया जाय जिस में समस्त तृष्णा और उपादान अन्तर्धान हुए रहें। इसका भावार्थ है कि दीर्घकाल तक किसी भी बुराई के करने से बचा जाय और उस अवधि में अधिक से अधिक भलाई करने का प्रयास किया जाय।

मनुष्यों द्वारा जितने भी कार्य किये जाते हैं, इन मर्यादाओं के उल्लंघन से वे सब कर्म अकुशल कर्म हो जाते हैं और इन बातों से बचे रहने से वे ही कर्म कुशल–कर्म माने जाते हैं। इन दस अकुशल–कर्मों से तीन का सम्बन्ध शरीर से है, चार का वाणी से है और शेष तीन का मन से है। शरीर के तीन कुकर्म हैं प्राणी हत्या, चोरी और व्यभिचार। वाणी के चार कुकर्म हैं, – झूठ बोलना, कठोर बोलना, चुगलखोरी करना और बेकार बातचीत करना, और इसी प्रकार मन के तीन कुकर्म हैं – ईर्षा, घृणा और अज्ञान। यदि इन दोषों से मुक्त कोई आदमी पश्चाताप नहीं करता और आराम से रहता है तो ये दुष्कर्म उसकी और ऐसे आगे बढ़ेंगे, जैसे पाणी समुद्र की ओर आगे बढ़ता है। जब पहले की अपेक्षा समय बीतने पर पाप और प्रबल हो जाता है तो पहले की अपेक्षा इस का परित्याग और कठिन हो जाता है। यदि किसी दुश्चरित्र आदमी को अपने अकुशल कर्मों का बोध हो जाता है और वह उन्हें त्याग देता है तथा शीलवान् बन जाता है तो उस के पापों का क्षय होने लगता है और एक दिन उन का विनाश हो जाता और वे पूर्ण बोधि प्राप्त कर लेते हैं। इसी लिये भगवान् बुद्ध ने अपने अनुयायियों को शिक्षित करने के लिये दस शीलों की देशना की।

दस कुशल कर्मों को दस शिक्षापदों के साथ गड़बड़ाना नहीं चाहिये । दस शिक्षापद मात्र भिक्षुओं के लिये अनुज्ञात हैं । गृहस्थों के लिये दस शिक्षापदों का पालन करना अनावश्यक है, उन का पालन न करने से भिक्षु–नियमों का खण्डन होता है, कुछ नैतिकता खण्डित नहीं होती । और दस कुशल–कर्मों का अभ्यास तो सभी बौद्धों को करना चाहिये । ४२ वें विभाग के सूत्र के अनुसार जो उपासक तथा उपासिका पंचशीलों का तो पालन करती ही हैं, साथ साथ दस कुशल–कर्मों की भी उपेक्षा नहीं करती वे निश्चयात्मक रूप से मार्ग–फल प्राप्त करेंगी । ये दस कुशल–कर्म निम्न प्रकार हैं –

१) छोटे से छोटे प्राणी को लेकर आदमी तक तुम किसी की भी हत्या नहीं करोगे । तुम प्राणीमात्र को संरक्षण प्रदान करोगे ।

'उसे न किसी का वध करना चाहिये और न कराना चाहिये या ऐसा करने वालों के कार्य का अनुमोदन करना चाहिये । उसे प्रत्येक प्राणी की हत्या करने से बचना चाहिये, भले ही वह सशक्त हो, भले ही वह अत्यन्त दुर्बल हो ।' धाम्मिक सुत्त ।

'संसार को मैत्री–भावना से भर दो । छोटा या बड़ा कोई भी प्राणी ऐसा न हो जिसे किसी से भी खतरा मालूम हो । तब सभी प्राणी शान्ति के पथ पर चलना सीखेंगे ।'

'जो जीवित है उस का प्राण हरण न करके वह प्रत्येक प्राणी का वध करने से विरत रहता है । वह लाठी और तलवार का परित्याग कर देता है और विनम्रता तथा करुणा से ओत–प्रोत वह प्रत्येक प्राणी के साथ दया और मैत्री का व्यवहार करता है ।' तेविज्ज सुत्त

'यदि कोई आदमी सौ वर्ष तक अपना सारा ध्यान देवताओं को बलि चढ़ाने में खर्च करता है, हाथियों, घोड़ों तथा अन्य दूसरों की बलि चढ़ाता है, तो यह उस आदमी की बराबरी नहीं कर सकता जो किसी एक प्राणी की जान बचा कर उस के प्रति करुणा प्रदर्शित करता है ।' चीनी धम्मपद

'यदि तुम मेरी प्रसन्नता के लिये कुछ करना चाहते हो तो हमेशा के लिये शिकार करना त्याग दो । जंगल के प्राणी मन्दमति होते हैं । एक इस कारण से भी वे तुम्हारी दया के पात्र हैं ।' जातकमाला

इस शील की भावना के अनुसार संसार भर के बौद्ध पशु–हिंसा से विरत रहे हैं । वे न तो मन बहलाव के लिये ही हिंसा करते रहे हैं और न यज्ञ यागों के लिये । प्राचीन भारत में बौद्ध धर्म के अस्तित्व में आने से पूर्व यज्ञों के लिये पशुओं का वध करना एक अत्यन्त सामान्य बात थी । सत्पथ ब्राह्मण में लिखा है

सारनाथ में बुद्ध-प्रतिमा

यज्ञों के लिये आदमियों, घोड़ों, बैलों, मेंढ़ों और बकरियों की बलि दी जाती थी। अश्वलायन गृहसूत्र में ऐसे बहुत से यज्ञों की चर्चा है, जिन में पशु–वध होता था। एक यज्ञ का नाम हैं शूलगाव अर्थात् 'परित्यक्त बछड़ा'। बलि के पशु के मांस को खाने के बारे में जो निर्देश दिये गये हैं उन से स्पष्ट होता है कि खाने के लिये ही पशु की हत्या की जाती थी। आपस्तम्भ दुधाटी गौवों तथा बैलों का मांस खाने के विरुद्ध नहीं है। मनु का कहना है कि जिस आदमी ने योग्य विधी से मधुपरक आदि यज्ञ सम्पन्न किये है, यदि वह पशु–मांस ग्रहण नहीं करता है तो उसे बीस जन्मों तक पशु–योनि में जन्म ग्रहण करना पड़ता है। अतिथि का नाम ही था गो–घ्न, क्योंकि किसी भी विशिष्ट अतिथि के आने पर गौ की हत्या की जाती थी। महाभारत की गवाही है कि भोजन के तौर पर मांस की बहुत कदर थी। उत्तर भारत के बहुत से मन्दिरों में आज भी पशु–बलि दी जाती है। इस के बावजूद आज हम हर हिन्दु को यह कहते सुनते हैं कि अहिंसा परमो धर्मः अर्थात् अहिंसा सब से बडा धर्म है। यह इतना महान परिवर्तन कैसे हुआ? हम यह नहीं मान सकते कि यह केवल मन में उत्पन्न होनेवाली स्वाभाविक दया की प्रवृत्ति का परिणाम है। हम देखते हैं कि शङ्कर जैसा विद्वान तथा विचारक भी ज्योतिष्तोम यज्ञ का समर्थन कर रहा है। इस यज्ञ में पशुओं की बलि दी जाती थी। शङ्कर ने ऐसे यज्ञों का भी समर्थन केवल इस आधार पर किया है कि ऐसे यज्ञों का करना वेद–सम्मत है। जिन यज्ञों में बलि दी जाती थी, ऐसे यज्ञ करने कराने के प्रति लोगों के मन में जो परिवर्तन आया, उस का असली कारण 'निरणय सिन्धु' में दिया गया है। इस ग्रन्थ के रचयिता का कहना है, 'वेदज्ञ ब्राह्मणों के लिये बड़े बड़े साण्ड़ों तथा बड़ी बड़ी भेड़ों की बलि निस्सन्देह वेद–सम्मत है, लेकिन क्योंकि लोगों को इस से घृणा है, इसलिये इस प्रकार की बलि नहीं दी जानी चाहिये।' इस तरह से यह सत्य है कि किसी दूध देने वाली गौ का, या दूध न देने वाली गौ का या पहला बच्चा देने के बाद जिस ने बछड़ा जनना बन्द कर दिया हो ऐसी गौ का बलिदान वेदसम्मत है, लेकिन क्योंकि इस प्रकार का यज्ञ किया जाना लोगों को अच्छा नहीं लगता, इस लिये नहीं किया जाना चाहिये।' ऐसे यज्ञों के प्रति जो वेद–सम्मत भी थे, लोगों के मन में विरोध की भावना पैदा होने का क्या कारण हो सकता है? एक ही कारण सम्भव है कि बौद्धों ने इस प्रकार के यज्ञ किये जाने का दटकर विरोध किया था। 'यहां (अर्थात मेरे राज्य में)' सम्राट अशोक ने आज्ञा दी थीं, 'यज्ञ के लिये किसी भी पशु की हत्या न की जाय और साथ ही 'समाजों' के आयोजन से भी परहेज किया जाय, क्योंकि प्रियदर्शी महाराज अशोक को 'समाजों' का आयोजन भी अत्यन्त सदोष मालूम देता है।' मानवता को जाग्रत करने के लिये बौद्धों ने जो अपील की वह इतनी प्रबल थीं कि लोगों के मन में बलि–प्रधान यज्ञों के विरुद्ध एक भयानक घृणा की भावना उत्पन्न हो गई। यह इतनी भयानक थी कि वेदों

तथा स्मृतियों के प्रति जो विश्वास था, वह भी इस के सामने ठहर न सका ।

इतना ही नहीं कि बौद्ध किसी भी प्राणी की बेकार हिंसा करने से विरत रहता हो, बल्कि वह सभी प्राणियों के सुख–दुःख की चिन्ता करना अपना कर्तव्य समझता है । अशोक के शिलालेख संख्या (२) में लिखा है, ' प्रियदर्शी नरेश के साम्राज्य में और इसी प्रकार पड़ोसी राज्यों में भी दो प्रकार के हस्पताल स्थापित किये गये हैं – आदमियों के हस्पताल, पशुओं के हस्पताल . . . जडी–बुटियां जो आदमियों के रोगों को चंगा करने में काम आती हैं, और जड़ी–बूटियाँ जो पशुओं के रोगों को चंगा करने में काम आती हैं, जहाँ जहाँ नहीं थी, बाहर से मंगाई गई हैं और लगाई गई हैं । इसी तरह फलों के पौदे भी बाहर से मंगवा मंगवा कर लगाये गये हैं । आदमियों और पशुओं के उपयोग के लिये सडकों पर पेड़ लगाये गये हैं और कुएँ खोदे गये हैं ।' सभी बौद्ध देशों में पशुओं के प्रति प्रेम विद्यमान है । तिब्बत में सभी मूक प्राणियों के प्रति करुणा का व्यवहार किया जाता है और भोजन–सामग्री की तरह उपयोग में आने वाले याक और भेड़ों को छोड़कर शेष किसी भी जानवर की हत्या करना मना है । धनी सयामियों (थाईलैण्ड के नागरिकों) के लिये यह एक सामान्य बात है कि वे जीती मछलियों को खरीद लें और उन्हें वापिस समुद्र में छुड़वा दें । ईसाई देशों में जो जानवर आदमियों की छाया से डरके मारे दूर भागते हैं, यहाँ पालतु जानवर बने हुए हैं ।

प्राणी–हत्या से विरत रहने वाले बौद्ध लोग प्राणी हत्या से इस लिये विरत नहीं रहते जैसा कि यूरोप के कुछ लोग समझते हैं कि वे जन्मान्तर में विश्वास करते हैं, बल्कि मन में करुणा का भाव होने के कारण और श्रेष्ठतर आचरण होने के कारण । आदमियों के बारे में ईसाइयों की तरह बौद्धों की यह मान्यता नहीं हैं कि वे सभी प्राणियों से पृथक ईश्वर की रचना–विशेष हैं, बल्कि वे मानते हैं कि आदमी भी दूसरे पशुओं से थोड़ी भिन्नता रखते हुए उन्हीं के समान हैं और इस लिये उन पर भी दया करनी चाहिये । दूसरी ओर ईसाइयत की मान्यता है कि आदमी ईश्वर की प्रधान रचना है और दूसरे जितने भी प्राणी हैं, वे आदमी के ही उपयोग के लिये पैदा किये गये हैं । इसी मान्यता के फलस्वरूप सभी पशु आदमी की सहानुभूति के क्षेत्र से बाहर चले गये । सन्त पाल ने घृणा से कहा है, 'क्या भगवान् बैलों की चिन्ता करता है ? ' ईसाइयों का कोई भी सम्प्रदाय पशुओं के प्रति दया दिखाने को एक धार्मिक कर्तव्य के रूप में स्वीकार नहीं करता ।

प्राणी–हिंसा से विरत रहने की प्रवृत्ति का यह भी एक परिणाम हुआ है कि बौद्ध देशों में लोगों का झुकाव शाकाहार की ओर है । सम्राट अशोक के पहले ही शिलालेख में हम पढ़ते हैं, "पहले सम्राट प्रियदर्शी के रसोईघर में तरकारियां

बनाने के लिये हजारों पशुओं का वध होता था । इस समय जब यह पवित्र शिलालेख लिखा जा रहा है, दो मोर और एक हिरन केवल तीन प्राणी ही प्रतिदिन मारे जाते हैं । किसी किसी दिन मोर का वध नहीं भी होता । भविष्य में इन तीनों प्राणियों का मारा जाना भी नहीं होगा ।" जो बौद्ध मांस खाते भी हैं, वे भी उन पशुओं की हत्या नहीं करते जिनका वे मांस खाते हैं । लेकिन यह मानने के लिये कोई कारण नहीं कि भगवान् बुद्ध ने मांसाहार सर्वथा बन्द कर दिया था। आमगन्ध सुत्त के अनुसार एक ऐसे ब्राह्मण को जो इसलिये मांस भोजन नहीं करता था क्यों कि वह मानता था कि ऐसा करने से आदमी मलिन हो जाता है, भगवान बुद्ध ने कहा कि आदमी मांसाहार से मलिन नहीं होता, आदमी मलिन होता है दुष्ट चिन्तन से तथा दुष्ट कर्मों से । जब संघभेदक देवदत्त ने तथागत से प्रार्थना की कि वह भिक्षुओं के लिये, मांस, नमक, दूध, दही का ग्रहण करना निषिद्ध ठहरा दें, उन्हों ने ऐसे कठोर प्रतिबन्ध लागू करने से इनकार कर दिया । यदि वे ऐसा करते तो यह उन के द्वारा उपदिष्ट मध्यम–मार्ग पर न चलना होता, बल्कि काय–क्लेश ही होता । उन्हों ने अनुज्ञा दी कि जिस पशु के बारे में यह देखा न गया हो, यह सुना भी न गया हो, और मन में यह सन्देह भी उत्पन्न न हुआ हो कि उस पशु–विशेष की हत्या उस के लिये की गई है, तो ऐसे पशु का मांस खाया जा सकता है । निर्ग्रन्थों (जैनों) ने जब यह सुना कि एक उपासक ने जब उन्हें मांसा-हारसहित भोजन कराया है, तो वे उन की निन्दा ही निन्दा करने पर उतर आये । उन का कहना था कि शाक्य मुनि गौतम ने उसी के लिये हत्या किये गये पशु का मांस खाया है । तथागत ने इस प्रकार की आलोचना सुनी तो यह कहकर प्रत्युत्तर दिया, कि मेरे शिष्य–गण वह सभी कुछ खा–पी सकते हैं, जो किसी प्रदेश या देश–विशेष का सामान्य आहार है । हाँ, ऐसा करते हुए उन्हें अपनी आहार–लोलुप्ता अथवा तृष्णा का परिचय नहीं देना चाहिये । अशोक का भाई वीताशोक तीर्थङ्करों (अबौद्ध साधुओं) का अनुयायी था । वह भी शाक्य भिक्षुओं की टीका करता था कि वे मक्खन, दही और पुलाव पेट भर भर कर खा जाते हैं । बौद्ध भारत भी एकदम शाकाहारी नहीं था । सातवीं शताब्दी में शिलादित्य नाम के नरेश ने सभी पशुओं की हत्या करना निषिद्ध ठहरा दिया और स्वयं शाकाहारी बन लोगों के सामने एक आदर्श उपस्थित किया ।

भोजन का प्रश्न केवल मानसिक या नैतिक मान्यताओं से हल नहीं हो सकता। वह हो सकता है शरीरशास्त्र के अनुसार और स्वास्थ्य-सम्बन्धी अनुभवों के आधार पर । आदमी के लिये सब से अच्छा भोजन सामिष और निरामिष दोनों प्रकार का मिला–जुला भोजन है क्योंकि आदमी के दान्त और आदमी की पाचन-व्यवस्था मिली जुली है । आदमी के कुछ दान्त मांस–भक्षण के लिये ही उपयुक्त हैं और आदमी की कुछ शारीरिक ग्रन्थियां भी ऐसी हैं जो मांसाहार न ग्रहण करने पर अपनी शारीरिक प्रतिक्रिया बड़ी मुश्किल से आरम्भ करती हैं । उस की पाचन–

प्रक्रिया से खमीर पैदा होता है जो श्वेत सार ही हजम कर सकता है । 'यह बात युक्तिसंगत मानी जा सकती है कि आदमी पहले दूसरे सभी प्राणियों से पृथक हुआ मांसाहारी बनकर, एक शिकारी बनकर, एक भेड़िया जैसा बनकर । इसी लिये उसकी लम्बी लम्बी टांगें उस के फायदे की हुई, शस्त्रों का प्रयोग उस के फायदे का हुआ, उस का सीधे खड़ा हो सकना उस के फायदे का हुआ, शस्त्र निर्माण और उन का इस्तेमाल कर सकने वाले हाथ उस के फायदे के हुए, युद्ध चातुर्य से युक्त दिमाग उस के फायदे का हुआ । इस प्रकार उसे उष्ण कटिबंधी जंगलों से मुक्ति मिली और वह विश्व का नागरिक बन गया ।' आदमी के लिये मात्र सागसब्जी ही खाकर जीवित रहना संभव हो सकता है । परिस्थिति विशेष में संपूर्ण रूप से मांसाहार से विरत रहना लाभ-प्रद हो सकता है । लेकिन प्राचीन समय में भी और वर्तमान युग में भी सभी लोग मिला-जुला आहार ही ग्रहण करते हैं । जो लोग शाकाहारी ही होने का दावा करते हैं, वे भी दूध, दही, मक्खन, पनीर और अण्डों तक का भी इस्तेमाल करते ही हैं । इस से इनकार नहीं किया जा सकता कि मांसाहार आदमी को अल्प समय में ही शक्ति प्रदान करता है और शरीर की बढोत्तरी में सहायक होता है, और कि मांसाहार से बढ़कर भोजन नहीं । यह कहना सत्य नहीं है कि मांसाहार से वाञ्छनीय चित्त-प्रवृत्तियों के स्थान पर अवाञ्छनीय चित्त-प्रवृत्तियां उत्तेजित होती हैं । इस सम्बन्ध में स्वास्थ्य-शास्त्र का शिक्षण इतना ही है कि आधुनिक सभ्य आदमी की चटपटी तश्तरियों के खाने की अपेक्षा तथाकथित असभ्य आदमी का सीधा-सादा भोजन श्रेयस्कर है । इत्सिग का कहना था, 'अपने शरीर को स्वस्थ रखना और अपने कार्य को अधिक सुचारु रूप से सम्पन्न करते रहना बुद्धों की शिक्षा है और आत्म-पीड़ा तथा काय-क्लेश तैर्थिकों की शिक्षा हैं ।'

श्रद्धासम्पन्न बौद्धों ने प्राणी-हिंसा से विरत रहने के शिक्षा-पद के पालन में कहीं कहीं अति कर दी है । उन्हों ने उस का भावार्थ ग्रहण न कर अक्षरशः पालन किया है । सातवीं शताब्दी में जापान के एक सम्राट ने राजाज्ञा जारी कर दी थी कि किसी पशु, घोड़े, कुत्ते, बन्दर या मुर्गी का माँस न खाया जाय । कहा जाता है कि चीनी बौद्धों ने एक बार एक सम्राट को राजी कर लिया था कि वह रेशमी कपड़ों का बनाया जाना बन्द कर दे क्योंकि रेशमी कीड़ों के कोषों के कीड़ों को मारने के बाद ही उन का धागा काम में लाया जा सकता है । लेकिन इस प्रकार की खींचतान तथागत द्वारा अनुमोदित नहीं है। पशुओं का जीवन भी मूल्यवान है, लेकिन मनुष्यों का जीवन इतर प्राणियों के जीवन से अधिक मूल्यवान ही है । पशुओं को हम पालते हैं और संरक्षण प्रदान करते हैं । क्योंकि वे किसी न किसी रूप में आदमी के काम आते हैं । धर्म का अत्यधिक आग्रह रखनेवाले जिन पशुओं का सर्वांश में संरक्षण चाहते हैं, यदि उन पशुओं को उतना और वैसा संरक्षण दे दिया जाय तो वह संरक्षण स्वयं उन

पशुओं के लिये आपत्ति बन जायेगा। पशुओं के प्रति यदि हम इतना कर सकें तो यही बहुत है कि वे अपने जीवनकाल में खुशी रहें और उन का मरण पीड़ा-रहित हो। मेण्डक आदि जानवरों की जो चीर-फाड़ की जाती है, यदि उसे ठीक तरह से किया जाय, तो क्यों कि उस का उद्देश्य मानवों का हितसाधन है, इस लिये उस का भी समर्थन किया जा सकता है। इत्सिग का कथन है कि 'यदि आदमी प्रत्येक प्राणी को संरक्षण प्रदान करेगा, तो वह अपने आप ही अरक्षित हो जायगा और उसे अकारण ही अपने प्राणों से हाथ धोना पड़ेगा।'

यद्यपि भगवान बुद्ध ने युद्ध के सम्बन्ध में नपेतुले शब्दों में अपने विचार कहीं भी व्यक्त नहीं किये हैं, तो भी सूत्रों में ऐसे बहुत से उल्लेख हैं, जिन को एक साथ मिलकर पढ़ने से भगवान बुद्ध का युद्ध को लेकर क्या मत था बहुत कुछ स्पष्ट हो जाता है। उन्हों ने सभी प्रकार की प्राणि-हत्या निषिद्ध ठहराई है, चाहे वह मौज-बहार के लिये हों, चाहे वह यज्ञों के लिये हो और चाहे वह युद्ध में होनेवाली हिंसा हो। लेकिन साथ ही उन्हों ने यह भी सिखाया है कि यदि कोई आदमी शान्ति-पूर्ण उपायों से किसी समस्या का समाधान करने के प्रयत्नों के बावजूद, असफल रहने पर धर्म-युद्ध करता है तो वह दोषी नहीं ठहरता है। पाप-मूर्ति मार के विरुद्ध अपने युद्ध की चर्चा करते हुए भगवान बुद्ध ने अपनी उपमा उस राजा से दी है जो अपने राज्य पर धर्मानुसार शासन करता है लेकिन यदि कोई ईर्षालु नरेश उस पर शासन करे तो वह उस के साथ लड़ाई भी करता है। जो किसी दूसरे को धर्म-युद्ध करने के लिये मजबूर करता है उसे अपने दुष्कर्म का फल स्वयं भुगतना पड़ता है। बिम्बिसार, गामिनी अभय, शीलादित्य तथा दूसरे धर्मात्मा बौद्ध नरेशों ने भी युद्ध करने से गुरेज नहीं किया, यद्यपि उन्होंने व्यर्थ के रक्तपात को कभी पसन्द भी नहीं किया। जिस तरह से अभी इधर के ही युद्धों में झेन सम्प्रदाय के पुरोहितों ने युद्धभूमि तक अपने जापानी सैनिकों का साथ दिया उसी तरह से पुराने समय के बौद्ध-भिक्षु भी बौद्ध-योधाओं के साथ साथ युद्ध-भूमि तक गये थे।

जब युद्ध करना उचित हो तो लड़ाई लड़ी ही जानी चाहिये। और लड़ाई दृढ़तापूर्वक लड़ी जानी चाहिये, लेकिन उसमें न शत्रु के प्रति घृणा की भावना होनी चाहिये और न बदला लेने की।

भगवान् बुद्ध ने कहीं भी उस भेड़ की सी अकर्मण्यता का समर्थन नहीं किया जिस के अनुसार आदमी को उचित उपायों से भी बुराई का विरोध नहीं करना होता। जब अभय राजकुमार ने तथागत की आलोचना की कि उन्होंने संघभेदक देवदत्त के लिये 'नरकगामी' जैसे कठोर शब्दों का प्रयोग क्यों किया है तो तथा॰ गत ने समझाया कि यदि कथन सत्य हो और उस का उद्देश किसी का हित करना हो, तो कष्टप्रद होने पर भी ऐसे शब्दों का प्रयोग उचित है। अभय राजकुमार

को जातिपुत्र महावीर ने ही तथागत से इस सम्बन्ध में जिज्ञासा करने के लिये उकसाया था। इसी प्रकार ऐसा युद्ध, भले ही उस में रक्तपात भी हो, लड़ा जाना योग्य है, यदि उसका उद्देश्य किसी दुष्ट या किन्हीं दुष्ट पुरुषों को सबक सिखाना हो।

इतना होने पर भी, क्योंकि बुद्धधर्म का अधिष्ठाता कोई 'शत्रुओं का नायक' नहीं है, जो कि युद्ध–वीर है, इसलिये बुद्धधर्म का शिक्षण यह नहीं है कि बिना युद्ध के दुनिया बिखर जायगी और भौतिकवाद की दलदल में धंस जायगी। यह उस गैर जिम्मेदार अहंता का सर्वथा विरोधी है जो जीवन–संघर्ष में शक्तिशाली को दुर्बल को कुचल डालने के लिये प्रेरित करता है। और यह उस सैनिकवाद का भी समर्थक नहीं है जो आदमी की सहानुभूति की भावनाओं को सर्वथा कुचल देता है, आदमी की निर्दयता की भावना को विकसित करता है और शत्रुओं से घृणा करने को तथा बदले की भावना को सर्वोच्च स्थान दे देता है। ईसामसीह ने कहा था कि वे दुनिया में शान्ति लेकर नहीं आये, बल्कि तलवार लेकर आये हैं। हम देखते हैं कि ईसाई धर्म को मानने वाली जातियां अस्त्र शस्त्रों से पूरी तरह सन्नद्ध हैं और परस्पर एक दूसरे का गला काटने के लिये हर घड़ी तैयार हैं। दूसरी ओर तथागत ने जो शिक्षा दी है वह स्वयं कष्ट सहन करने की है, सहन-शीलता की है, करुणा–भावना की है। इन सब से न केवल हृदय की कोमलता की अभिव्यक्ति होती है, बल्कि बुद्धिमत्ता की भी। उन का उद्देश्य था कि सभी मानवों के हृदय से परस्पर लड़ते–भिड़ते रहने की भावना का मूलोच्छेद हो जाय और सारा संसार एक ही महान संघ में संगठित हो जाय और संसार में शांति ही शान्ति स्थापित हो जाय।

'तुम नहीं मारोगे' नियम के अक्षरशः पालन का उल्लेखनीय परिणाम ही वह सहनशीलता है जो बौद्धधर्म का विशेष लक्षण है। केवल बौद्धधर्म ही एक ऐसा धर्म है जिस ने तलवार या जोर जबर्दस्ती से कभी अपने विस्तार की कोशिश नहीं की। इस में कोई सन्देह नहीं कि बौद्ध अपने धर्म को सत्य मानता है लेकिन साथ ही वह किसी दूसरे को भी उस की अपनी मान्यता के साथ शान्तिपूर्वक रहने देता है। अशोक के शिलालेखों में से बारहवां शिलालेख सहनशीलता का वास्तविक अभि-प्राय प्रकट करता है। "देवानां प्रियदर्शी सम्राट सभी सम्प्रदायों का भले ही वे प्रव्रजितों के हों या गहस्थों के हों उन्हें दान आदि देकर तथा दूसरे दूसरे ढंगों से आदर–सत्कार करते हैं। लेकिन सम्राट देवानां प्रिय भेंट और बाह्य आदर सत्कार को इतना मूल्य नहीं देते जितना इस बात को कि सभी सम्प्रदायों के अनुयायी सार–तत्व को ग्रहण करें। सार–तत्व अनेक रूप धारण कर सकता है लेकिन इस का मूल वाणी के संयम में है। तुच्छ तुच्छ बातों के लिये आदमी को दूसरों की मान्यताओं की अवहेलना कर अपनी मान्यताओं की बढ़ोत्तरी नहीं करनी चाहिये।

किसी की भी मान्यताओं की गर्हा करने के लिये पर्याप्त कारण होने चाहिये, क्योंकि एक न एक कारण से हर सम्प्रदाय आदृत–सत्कृत होने का अधिकारी है । इस प्रकार का आचरण करने से आदमी अपने सम्प्रदाय को भी प्रतिष्ठित करता है और इस के साथ ही साथ दूसरे के सम्प्रदाय के प्रति गौरव प्रदर्शित करता है । उस के प्रतिकूल व्यवहार करने से आदमी न अपने सम्प्रदाय का ही हित साधता है और न किसी अन्य के सम्प्रदाय का हित साधता है । क्यों कि यदि कोई आदमी यह समझ कर कि अपने सम्प्रदाय की बड़ाई करने से और दूसरों के सम्प्रदायों की गर्हा करने से वह अपने सम्प्रदाय का हित साधता है तो यह ऐसा नहीं होता। ऐसा व्यवहार करने से उस के अपने सम्प्रदाय का भी अहित ही होता है। परस्पर मैत्री की भावना रखना कल्याणकर है। ऐसा करनेवाला दूसरों की बातों को भी ध्यान–पूर्वक सुनता है और स्वेच्छा से सुनता है। लेकिन यही सहनशीलता बौद्धधर्म के लिये बड़ी खतरनाक भी सिद्ध हुई खास तौर पर जहाँ जहाँ बौद्धधर्म इस्लाम के सम्पर्क में आया।

सामान्यरूप से किसी भी प्राणी की हत्या करने के प्रश्न से ही जुड़ा है आत्म–हत्या करने सम्बन्धी प्रश्न। स्वाभाविक तौर पर आत्म–हत्या का नैतिक मूल्यांकन भिन्न भिन्न परिस्थितियों में विभिन्न होना चाहिये। जीवन के प्रति जो दृष्टिकोण होगा और भावी जीवन के प्रति जो मान्यतायें होंगी वे ही इस बात को निश्चित करेंगी कि आत्म–हत्या को मान्य ठहराया जाय या सर्वथा अमान्य माना जाय। हिन्दुओं ने धार्मिक उद्देश की पूर्ति के लिये की जाने वाली आत्म–हत्याओं को सदा स्तुत्य ठहराया है । जापानी आत्म–हत्या को मान्यता देते हैं और उस के प्रशंसक भी हैं, क्योंकि वे समझते हैं कि ऐसा करने के लिये बड़े साहस की आवश्यकता होती है और इस के अन्तर्गत आत्म–गौरव की भावना छिपी रहती है। विशेष परिस्थिति में ह्यूम ने आत्म–हत्या की सिफारिश की है। ह्यूम का कहना है कि मान लो कि अब मुझ में तनिक भी सामर्थ्य नहीं रही कि मैं समाज की सेवा कर सकूं, मान लो कि अब मैं समाज पर भार बन गया हूँ। मान लो मेरा जीवन ऐसे किसी दूसरे आदमी के जीवन में बाधक है जो समाज की अधिक सेवा कर सकता है, ऐसी परिस्थिति में मेरा 'आत्म–बलिदान' निर्दोष ही नहीं, प्रशंसनीय माना जाना चाहिये। आत्म–हत्या के प्रति बौद्ध दृष्टिकोण को इत्सिंग ने बड़ी स्पष्टता के साथ अभिव्यक्ति दी है। "बौद्ध भिक्षु के लिये केवल एक ही मार्ग है। जिन्हों ने अभी अभी पढ़ना–लिखना आरम्भ किया है, और धर्म–ग्रन्थों की जानकारी नहीं है, वे बहादुर बनने के लिये और यशस्वी बनने के लिये उत्सुक रहते हैं। वे उन का अनुकरण करना चाहते हैं जो अपनी उंगलियों को जलाना बड़ी बात समझते हैं। और आग में अपने शरीर को जला देना एक बड़ा पुण्य कार्य। वे ऐसा सोचकर कि वे कोई अच्छा कार्य कर रहे हैं, केवल अपनी मनमानी करते हैं। यह सत्य है कि सूत्रों में ऐसे कुछ उदाहरण हैं, लेकिन वे सभी उदाहरण

सद्गृहस्थों के हैं, क्योंकि उन के लिये यह ठीक है कि वे न केवल अपनी धनसम्पत्ति का परित्याग करें, बल्कि आवश्यकता पड़ने पर अपने प्राणों की भी बाजी लगा दें। इसी लिये सूत्रों में अनेक स्थलों पर है, 'यदि कोई आदमी धर्म के प्रति अनुरक्त है . . . इत्यादि,' किन्तु इस का सम्बन्ध बौद्ध भिक्षुओं से नहीं है। क्यों? क्यों कि जो उपसम्पन्न भिक्षु है उसे विनय के नियमों का अक्षरश: पालन करना चाहिये। यदि वे विनय के नियमों का उल्लंघन नहीं करते तो वे सूत्रों के अनुसार जीवन व्यतीत करते हैं। यदि वे विनय के नियमों का पालन नहीं करते, तो उन की जीवनचर्या सदोष है। चाहे विहार में घास कितनी भी बढ़ गई हो, तो भी एक भिक्षु को घास का तिनका भी नहीं तोड़ना चाहिये। चाहे किसी एकान्तस्थल में कोई भूख से मर भी रहा तो भी उसे चावल का एक दाना भी नहीं चुराना चाहिये। लेकिन एक सद्गृहस्थ के लिये, जिसे सद्धर्म पुण्डरीक सूत्र में सर्वसत्वप्रिय दर्शन कहा गया है, यह ठीक ही है कि वह अपने बाजुओं को भी आग में भूनकर किसी को खाना दे। बोधिसत्व विश्वन्तर ने अपने बच्चों तक का दान कर दिया। एक भिक्षु को ऐसा करने की कोई जरूरत नहीं। महासत्व शिबि ने अपनी आखें तक दान कर दी थीं, लेकिन एक भिक्षु को ऐसा करने की जरूरत नहीं। मैत्रीबल नरेश ने पिशाचों को भोजन दान देने के लिये आत्मबलिदान कर दिया था। कहा जाता है कि कुछ ऐसे तरुण भी हैं, जो धर्माचरण के प्रति इतने अधिक निष्ठावान् होते हैं कि वे अपने शरीर को जलाना बुद्धत्व की ओर अग्रसर होना मानते हैं और अपने प्राणों की परवाह नहीं करते। ऐसा करना ठीक नहीं है। क्यों? मनुष्य का शरीर मिलना ही कठिन है। मनुष्य जन्म मिल भी गया तब भी इस का भरोसा नहीं कि सद्धर्म को ग्रहण कर सकने लायक बुद्धि का भी लाभ होगा ही। सूत्र विशेष की कुछ ही गाथाओं का अध्ययन करने के अनन्तर और अनित्यता की भावना करना आरम्भ करते ही, अपने शरीर का परित्याग करना बेकार बात है। इस तरह के तुच्छ त्याग को हम अधिक महत्व दे ही कैसे सकते हैं? हमें शीलों का अक्षरश: पालन करना चाहिये। हमें उन उपकारों का, जो दूसरों ने हमारे साथ किये हैं, बदला चुकाने का प्रयास करना चाहिये। हमें सभी तरह के प्राणियों को संरक्षण प्रदान करने के लिये योगाभ्यास करना चाहिये। हमें सोचना चाहिये कि छोटी से छोटी गलती करने से भी कितनी बड़ी हानि हो सकती है। हमें प्रज्ञा की प्राप्ति के लिये, प्रयास करते समय विशेष सावधानी बरतनी चाहिये। यदि हम सचेत रहेंगे और हमारे कल्याणमित्र हमारी सहायता करते रहेंगे तो हमारे जीवन के अन्तिम क्षणों तक हमारा चित्त स्थिर रहेगा। यह बात मेरी समझ में नहीं आती कि हम बिना सोचे समझे यकायक अपने प्राणों का बलिदान क्यों कर दे? पाराजिका अपराध के बहुत कुछ समान ही है आत्म–हत्या का अपराध। यदि हम विनय–पिटक का ध्यान से अध्ययन करें तो हमें कहीं भी आत्म–हत्या का समर्थन नहीं मिलेगा। हमें भगवान बुद्ध के श्रीमुख से ही अपनी इन्द्रियों को संयत

रखने की योग्य शिक्षा मिलती है । अपनी वासना को नष्ट करने के लिये अपने शरीर को ही जलाने का क्या प्रयोजन है ? भगवान बुद्ध ने शरीर को ही नष्ट कर डालने की बात तो दूर की बात है, बीज–ग्रन्थि उच्छेदन करने के लिये भी कहीं नहीं कहा है । बुद्धवचन हमें इस बात की अनुमति नहीं देते कि हम शिक्षापदों का उल्लंघन करें और अपनी मन–मानी कार्रवाई करें । कहावत है, "अपने जीवन को नष्ट करने से अच्छा है, दूसरों के उपकारों का बदला देना और अपने नाम को कलङ्कित करने की अपेक्षा अच्छा है अपने सच्चरित्र का संरक्षण करना ।" गङ्गा नदी में प्रतिदिन बहुत से आदमी डूब डूब कर जान दे देते हैं । गया–शीर्ष पर्वत से कूद कर आत्म–हत्या करने वालों की भी कमी नहीं । कुछ लोग बिना कुछ खाये–पीये अपने आप को भूखा मार देते हैं । कुछ लोग पेड़ों पर चढ़कर वहां से अपने आप को नीचे गिरा देते हैं । भगवान् बुद्ध ने ऐसे पथ–भ्रष्ट लोगों को 'नास्तिक' कहा है । कुछ जान बूझकर अपनी 'इन्द्रिय' को नष्ट करते हैं और हिजड़े बन जाते हैं । इन सभी बातों में से कोई एक भी बात विनय–सम्मत नहीं है । जो लोग समझते हैं कि ऐसा करना ठीक नहीं है, वे भी दूसरों को ऐसा करने से रोकते हुए डरते हैं कि कहीं उन को 'पाप' न लग जाय । लेकिन यदि कोई अपने जीवन को इस प्रकार नष्ट कर देगा, तो वह अपने जीवन के महान उद्देश्य की पूर्ति कैसे कर सकेगा ? इसलिये भगवान् बुद्ध ने ऐसा करना मना किया है । यदि हम शरीर–दाह करने जैसी क्रियाओं में रत होते हैं, तो हम सद्धर्म की उपेक्षा करते हैं । ज्येष्ठ भिक्षुओं ने और योग्य आचार्यों ने कभी भी इस तरह का हानि-कारक आचरण नहीं किया । लेकिन यहाँ हम उन बोधिसत्वों का विचार नहीं कर रहे हैं जो दूसरों का हित साधने में आत्म–बलिदान तक करते हैं। जब बोधिसत्व पीड़ित प्राणियों को बचाना चाहता है तो वह अपने आप को दहकती हुई आग में भी फेंक देने के लिये तैयार होता है । एक भूखे शेर को अपने शरीर तक का दान कर डालना बोधिसत्व की ही चर्य्या हैं । लेकिन किसी श्रमण के लिये जिस ने अपने जीवन को विनय के नियमों के अनुसार ढालने का व्रत लिया है, एक कबूतर के प्राण बचाने के लिये अपने शरीर का मांस काट कर देना अनुचित है । बोधि-सत्व का अनुकरण करना हमारी शक्ति से परे की बात है । त्रिपिटक के अनुसार क्या सही है और क्या गलत है, मोटे तौर पर मैंने बताया है ।

एक बौद्ध की दृष्टि में आदमी के पास जो सर्वाधिक कीमती वस्तु है, वह उसका जीवन है । इस में कोई सन्देह नहीं कि त्रिपिटक के अनुसार यह शरीर दुःखों का घर है । लेकिन यह कहीं भी नहीं कहा गया है कि हमें इस शरीर से घृणा करनी चाहिये और इसे यूं ही फेंक देना चाहिये । यदि कोई आदमी कष्टप्रद दुःसाध्य रोग से भी पीडित हो, या अपने किसी दुष्कर्म के कारण उस ने अपने परिवार सहित अपने नाम को कलङ्कित कर लिया हो, या उसे ईमानदारी से अपनी जीविका कमा सकने की भी आशा न रही हो और उस की कुछ भी सामाजिक

उपयोगिता शेष न रहीं हो, तब भी यही अच्छा है कि आदमी चुपचाप सबर के साथ उस विपत्ति को सहन करे और शनैः शनैः उस से मुक्त हो जाने की कोशिश करता रहे । यदि कोई आदमी अपने शरीर से ही घृणा करने लगेगा, तो उस के दुःख का कभी भी अन्त न हो सकेगा । यह सब होने पर भी किसी महान् उद्देश्य के लिये आत्म–बलिदान करना ठीक ही है ।

२) तुम न तो किसी को लूटोगे, न किसी की चीज चुराओगे । बल्कि हर किसी की सहायता करोगे कि उसे उस के परिश्रम का फल मिले ।

"जो धर्म का जानकार है, ऐसे शिष्य को किसी भी स्थान से किसी भी चीज की चोरी करने से विरत रहना चाहिये । किसी दूसरे से भी किसी भी चीज की चोरी नहीं करानी चाहिये । जो चोरी करने वाले हैं, ऐसे लोगों के किसी भी ऐसे कर्म का समर्थन नहीं करना चाहिये । उसे हर तरह की चोरी से विरत रहना चाहिये ।" धम्मिक सुत्त ।

"जो दूसरों को देता है, उसे ही सर्वाधिक लाभ होता है । जो बदले में कुछ भी बिना दिये, दूसरों से लेता है, वही सर्वाधिक घाटे में रहता है ।" धम्मपद

"जो चीज उसकी नहीं हैं, उस की चोरी करने से विरत रहते हुए वह जो चीज उसे दी नहीं गई है, उस की चोरी करने से विरत रहता है । जो कुछ उसे दिया जाता है, वह केवल उसी को स्वीकार करता है । वह उसी से सन्तुष्ट रहता है । वह अपना जीवन ईमानदारी और पवित्रता से बिताता है ।" तेविज्ज सुत्त ।

चोरी करने से विरत रहने में मुख्य बात धन–संग्रह से घृणा की होनी चाहिये । आदमी का यह विश्वास होना चाहिये कि धन का संग्रह ही संग्रह करते रहना, ऊँचे श्रेष्ठ जीवन के मार्ग में बाधा उपस्थित करता है । बौद्ध को भी निस्सन्देह धन कमाना चाहिये, लेकिन अपने ही लिये धन का संग्रह नहीं करना चाहिये । भगवान् बुद्ध ने अनाथपिण्डिक को कहा था, "जीवन, धन और शक्ति आदमियों के लिये बन्धन कारक नहीं होते, बल्कि उन के प्रति जो आसक्ति होती है, वह बंधनकारक होती है । जिस आदमी के पास धन हो, और वह उस का सही सही उपयोग करता हो, वह आदमी अपने जैसे प्राणियों का मंगल–कारी होता है ।" बौद्ध की आकांक्षा होनी चाहिये कि "मैं धन कमा सकूं... और मेरा कमाया हुआ धन दूसरों के काम आ सके" (जिनालङ्कार)। जो आदमी अपने परिवार की ही चिन्ता करता है और उसी को सुखी बनाने के लिये प्रयत्नशील रहता है, वह उस आदमी से केवल एक ही कदम आगे है, जो अपने को ही सुखी बनाने के लिये प्रयत्नशील रहता है । इस तरह का आदमी भले ही अपने परिवार के लिये देवता हो, किन्तु बाकी सारे संसार के लिये वह एक राक्षस सिद्ध

हो सकता है । क्या ऐसा प्राय: नहीं होता कि पत्नी के जेवर गरीबों की रोटी छीन लेते हैं ? क्या यह कोई बहुत अच्छी बात है कि आदमी इतना धन कमाये कि अपने परिवार के सदस्यों को वह बड़ी शान से पढ़ा लिखा सके और अपने जीवन में उदाराशयता का भी प्रदर्शन कर सके, लेकिन साथ ही ऐसा करते हुए अपने पड़ोसी के परिवार को दीवालिया बना दे ? बौद्ध जो कुछ भी कमाता है, वह सारी मानवता के उपयोग के लिये होता है । बौद्ध भिक्षु जो अकिञ्चनता का व्रत ग्रहण करता है, उसका एक कारण यही होता है । व्यक्तिगत रूप से भिक्षु अकिञ्चन हो सकता है, लेकिन सारे संसार में बोधि-प्राप्ति के लिये प्रयत्नशील लोगों का जो भिक्षु-संघ है, वह धनी हो सकता है । विनय ने भिक्षु को इस बात की अनुज्ञा दी है कि वह संघ की ओर से या संघ के लिये धनार्जन कर सके । लेकिन संघ के लिये भी यह ठीक नहीं है कि जिस समय आस पास के लोग दरिद्रता के कष्टों से दु:ख भोग रहे हों, बहुत सा धन संग्रह करके रखे, बड़े बड़े धान्यागारों को भरे, अनेक स्त्री-पुरुषों को नौकर चाकर बना कर रखे और खजाने में बहुत सा धन संग्रहीत करे ।

बौद्ध धर्म की भीतरी भावना समाजवादी ही है । इसका मतलब है कि यह सामाजिक उद्देश्य की सिद्धी के लिये मिल जुल कर काम करने की शिक्षा देता है । यह पूर्ण रूप से भाई चारे का सामाजिक जीवन बिताने की आज्ञा देता है । इस लिये यह उस औद्योगिकरण का सख्त विरोधी है, जिस ने सतत, दुर्गन्धपूर्ण, अनैतिक, करुणा विरहित धनार्जन के लिये किये जाने वाले संघर्ष को ही मानवी जीवन का परमादर्श बना रखा है । यह संघर्ष तथाकथित विकसित देशों की जड़ों को ही खोखला कर रहा है। धन के पीछे अन्धे होकर दौड़ने के आकर्षण ने व्यापार-केन्द्रों में मानवीय भावनाओं के लिये कुछ भी स्थान नहीं छोड़ा हैं । मजदूर की पूंजीपति के प्रति, किसान की जमींदार के प्रति, माल की खपत कराने वाले की माल पैदा करने वाले के प्रति या माल पैदा करने वाले की माल की खपत कराने वाले के प्रति जो भावना है, जरा उस की ओर तो देखो । क्या यह सन्देह और शत्रुता की भावना के अतिरिक्त और कुछ है ? "यदि कोई आदमी अपने व्योपारी-संग्राम में सफलता प्राप्त कर लेता है, यदि वह अपने छलकपट से दूसरों के माल को बड़े पैमाने पर लूटने में सफल हो जाता है, वह व्यापार का राजकुमार कहलाता है । उस की लेन-देन पर कोई उंगली नहीं उठाता । गरीब किन्तु उस की अपेक्षा चरित्रवान आदमी उस की ओर सौहार्द्र का हाथ बढ़ाते हैं और उसे श्रीमान् जी मान लेते हैं । व्यापारिक सभ्यता केवल स्वार्थ-सिद्धि को बढ़ावा देती है और उसी की प्रशंसा करती है । यह सत्य निष्ठा को नाममात्र का महत्व देती है और न्यायप्रियता की तो इस के यहाँ कुछ भी कीमत नहीं । व्यक्तिगत स्वार्थ का संरक्षण ही आदमी का प्रथम कर्तव्य माना जाता है । यदि कोई अपने निजी स्वार्थ की उपेक्षा करता है

तो ऐसे आदमी के साथ उदासीनता का व्यवहार किया जाता है। क्या पूंजी का कुछ थोड़े से लोगों के हाथों में ही इकठ्ठा हो जाना नैतिकता की कसौटी पर खरा उतर सकता है ? कुछ अर्थशास्त्रियों का कहना है कि पैसे की बचत करने से या श्रम में विशेष दक्षता होने से ही पूंजी का संग्रह होता है। ऐसा हमेशा नहीं होता। बहुदा उत्पादकों के अतिरिक्त मूल्य की लूट से ही पूंजी संग्रहीत होती है। ऐसे उत्पादक कुछ दूसरे लोगों के ऐशोराम के लिये स्वयं दासता का जीवन बिताने पर मजबूर हो जाते हैं। निम्न स्तर के आदमी लूट लिये जाते हैं ताकि कुछ उच्चस्तरीय आदमी ऐशोआराम तथा निकम्मेपन का जीवन बिता सकें। बिना किसी श्रम के, बिना किसी दक्षता के, बिना किसी विशेष योग्यता के, बिना किसी सूझ–बूझ के, या हुश्यारी के कुछ आदमी लखपति और करोड़पति बन जाते हैं। यह चोरी नहीं तो और क्या है ?

चोरी के और भी कई प्रकार हैं। 'यह कभी झूठमूठ भी नहीं कहा जा सकता कि जिन्हें जमीन का मालिक माना जाता है उन की यह मलकीयत नीति अनुकूल है . . . हिंसा, ठगी, जबर्दस्ती, चालाकी यही सब इन मलकीयतों के मूल हैं।' अपने 'सामाजिक गणना' ग्रन्थ के प्रथम संस्करण में ही हरबर्ट स्पैंसर ने उक्त मत व्यक्त किया था। तब से अभी तक कुछ भी परिवर्तन नहीं हुआ। उसका कथन आज भी उतना ही सत्य है, जितना उस समय था। आधुनिक समय का तथाकथित साम्राज्यवाद भी इसी लूटमार की प्रवृत्ति के प्रदर्शन के अतिरिक्त और कुछ नहीं। यह दूसरों को जीतने और व्योपारिक लाभ उठाने की लालसा के अतिरिक्त और क्या है ? पूर्वी ऐशिया की देवपूजक जातियों के साथ यूरोप की जितनी भी ईसाई जातियों का व्यवहार हुआ है वह अथ से इति तक लूटमार की लालसा का ही रहा है। सभ्यता के प्रसार के नाम पर शक्तिशाली शक्तियां कमजोरों का शोषण करती हैं और किये हुए समझौतों की परवाह न करके उनकी जमीनें छीन लेती हैं। हिन्दु–पुराण का कहना है कि जो सम्पत्ति दूसरे से छीनी गई हो, वही सर्वश्रेष्ठ सम्पत्ति होती है। लेकिन बौद्ध धर्म सभी तरह की चोरियों को निषिद्ध ठहराता है, भले ही उन को कोई भी शिष्ट नाम दिया गया हो। जब आपको कोई भी दूसरा उपाय दृष्टिगोचर न हो और आदमी बहुत ही मजबूर हो, तब भी किसी भी दूसरे व्यक्ति की चीज ले लेने को उचित नहीं ठहराया जा सकता। सामाजिक स्वास्थ्य के लिये व्यक्ति का स्वार्थ–त्यागी और आत्म परि-त्यागी होना नितान्त आवश्यक है।

३) तुम्हें न दूसरे की पत्नी और न दूसरे की रखैल के साथ ही अनाचार करना चाहिये। तुम्हें संयत जीवन बिताना चाहिये।

'एक बुद्धिमान को व्यभिचार से ऐसे ही बचना चाहिये जैसे वह कोई जलते हुए अंगारों का गढ़ा हो। जो ब्रह्मचर्य–व्रत का पालन न कर सके, उसे भी

व्यभिचार नहीं करना चाहिये ।' धम्मिक सुत्त ।

'यदि तुम्हें किसी स्त्री से कोई बातचीत करनी हो, तो पवित्र हृदय से करो । अपने आप को कहो कि इस पापी संसार में मैं उसी प्रकार स्वच्छ जीवन व्यतीत करूंगा, जैसे कीचड़ में कमल भी निर्मल ही बना रहता है । यदि कोई वृद्धा हो, तो उसे अपनी माता समझो, यदि प्रौढ़ा हो तो उसे अपनी बहन समझो, यदि छोटी हो तो उसे अपनी छोटी बहन समझो, यदि बच्ची हो तो उसका आदर करो और उस से कोमलता का व्यवहार करो ।' ब्यालीस परिच्छेदों का सूत्र ।

'कामुकता के समान कुछ नहीं। कामुकता सब से उग्र उत्तेजना कहीं जा सकती है । सौभाग्य से इस से भी बढ़कर कुछ है । यदि सत्य की लालसा कामुकता की उग्रता से बढ़कर न होती तो हम में से कितने धार्मिक जीवन बिता सकते ।

'ऐसी हर सांसरिक स्त्री से सावधान रहो जो तुम्हें चाहे चल रही हो, चाहे खड़ी हो, चाहे बैठी हो, चाहे सो रही हो अपना रूप–सौंदर्य प्रदर्शित करना चाहती हो और इस प्रकार तुम्हें अपने वश में कर लेना चाहती हो। अपने चित्त को काबू में रखो, उसे बेकाबू न होने दो । जिस समय आदमी स्त्री के सौन्दर्य से भ्रमित रहता है, कामुकता आदमी के चित्त को अन्धकाराच्छन्न कर देती है और आदमी चौंधिया जाता है।' फो–शो–हिन–शान–किंग ।

'सौन्दर्य आदमी के चित्त को एकदम जाल में फंसा देता है । आदमी सौन्दर्य के अनित्य–स्वरूप का विचार ही नहीं करता । जो मूर्ख बाह्य रूप से ही आकर्षित हो जाता है, वह किसी भी वस्तु के यथार्थ रूप को जान ही कैसे सकता है ? जैसे रेशमी कीड़ा अपने कोये में ही उलझा रहता है, उसी प्रकार वह आदमी भी अपने ही इन्द्रिय सुख के जाल में फंसा रहता है। लेकिन जो बुद्धिमान आदमी अपने को ऐसी बातों से पृथक रख सकता है, वह ऐसी बातों से मुक्त रहता है और दुःख का अन्त कर सकता है।' धम्मपद

ऐसा लगता है कि वैदिक युग में 'ब्रह्मचर्य' को कुछ बहुत ऊंचा स्थान नहीं दिया जाता था । वरुण प्रकाश के अनुसार याज्ञिक यजमान की पत्नी से पूछता था कि वह अपने जार का नाम बताये । कहा जाता था कि पत्नी परिशुद्ध है या नहीं, इस की किसे परवाह है ? आदमी अपने पूर्वजों के विषय में सन्दिग्ध थे । निदान सूत्र में कहा गया है, "स्त्रियों के चरित्र का कोई ठिकाना नहीं । देवताओं और लोगों की उपस्थिति में मैं जिस आदमी को अपना पिता कह दूंगा, वह मेरा पिता होगा और जिन को मैं अपना पुत्र कह दूंगा, वे मेरे पुत्र होंगे ।" प्राचीन समय में भी इस बात का प्रयास किया जाता था कि औरतों पर नजर रखी जाय क्यों कि जाति के संरक्षण के लिये ऋग्वेद के समय में भी अपने ही शरीर से सन्तानोत्पत्ति का होना (बिजावन) आवश्यक माना जाता था । शुक्ल यजुर्वेद के उपजनधानी

नाम के एक आचार्य और पौराणिक राजा जनक के वार्तालाप में यह जो कथा आई है, उस से हमारे इस कथन की पुष्टि होती है। "अब मुझे अपनी पत्नी पर नजर रखने की फिकर है, यद्यपि पहले नहीं थी। क्यों कि यम के निवास-स्थान में जनक को ही पुत्र की प्राप्ति होती है। जनक मृत्यु के अनन्तर अपने पुत्र को यम के निवास-स्थान पर ले जाता है। इस लिये जो अपरिचितों के वीर्य को नहीं चाहते वे अपनी पत्नियों की बड़ी सावधानी से रक्षा करते हैं। अपनी नसल के भविष्य के बारे में सावधान रहो। अपने खेत में कोई दूसरा बीज न पड़ने दो। जब वह परलोक पधारता है तो पुत्र उसी का होता है, जो उस का जनक होता है। यह मानना व्यर्थ है कि पति (नाममाध्र का पिता) अपनी नसल को बनाये रखता है।" आगे चलकर जब विवाह के सम्बन्ध में कड़े कानून बन गये और स्मृतियों में व्यभिचार को लेकर कानूनी प्रतिबन्ध लग गये तब भी बहुपत्नीत्व और वेश्यावृत्ति जारी ही थी। गूढ़ज या गूढोत्पन्न का बार बार उल्लिखित होना इस बात का प्रमाण है कि उस समय शादी के सम्बन्ध को बहुत महत्व नहीं दिया जाता था। कोई लड़का भले ही अपनी मां के पति का उत्तराधिकारी हो, तो भी यह संभव था कि वह अपने पिता की सन्तान ही न हो। पुरोहित शाही मतों का प्रभाव बढ़ने पर यह महसूस होने लगा कि व्यभिचार और वेश्यावृत्ति ब्राह्मणों द्वारा स्थापित की गई जाति-पांति प्रथा के लिये खतर नाक हो सकती है। तब यह प्रयास हुआ कि कठोर दण्डों की व्यवस्था करके इस खतरे से बचा जाय। स्मृतियों और महाभारत में व्यभिचार को जो गर्हित ठहराया गया है, वह जाति-पाँति के दृष्टिकोण से ही वैसा किया गया है। अपराधी की जाति के अनुसार दण्ड की क्रमिक व्यवस्था की गई है। किसी भी स्त्री को व्यभिचार की ओर प्रवृत्त न होने देने के लिये जो तर्क दिये गये हैं उन में नैतिकता प्रधान नहीं है। वैष्णवों में व्यभिचार को क्षम्य माना गया है। जब हम उन के इष्ट देवता कृष्ण की विषय-लोलुप्ता का विचार करते हैं तो ऐसा होना स्वाभाविक लगता है। बंगाल में चैतन्य महाप्रभु के अनुयायी ब्रह्मचर्य-व्रत को उपेक्षा की दृष्टि से देखते हैं। उन के उप-सम्प्रदायों में कोई कोई सम्प्रदाय यहाँ तक जाते हैं कि स्वच्छन्द संभोग को धर्म मानते हैं। क्योंकि बाल विवाह किसी सामाजिक विकास का परिणाम नहीं है और केवल ब्राह्मणों तथा उनके अनुयाइयों में ही प्रचलित है, इस से ऐसा लगता है कि यह बाल-विवाह और परदा-प्रथा दोनों ही स्त्रियों के प्रति अविश्वास से पैदा हुए हैं। एक समय था जब सभी को लैंगिक-स्वच्छन्दता प्राप्त थी, उसी की स्मृति का परिणाम हैं। हो सकता है कि स्ट्रैबो का यह मानना ठीक ही हो कि पत्नियां अपने पतियों को विष न दे सकें, इसी लिये सति-प्रथा आरम्भ की गई।

बौद्धों के प्रामाणिक ग्रन्थ अथ से इति तक सदाचार-प्रधान हैं। श्रेष्ठ जीवन के बौद्ध आदर्श की स्पष्ट अभिव्यक्ति उन्मादयन्ति जातक में हुई है। इस कथा में शिबियों के एक राजा की दृढ़ता को कामुकता ने हिला दिया था। आकर्षक स्त्री

का पति, जो राजा का ऊंचा कर्मचारी था, स्वेच्छा से अपनी पत्नी राजा को अर्पित करना चाहता है। राजा इस भेंट को अस्वीकार करता है और अपने कर्मचारी को डांटता है, 'मैं ने जिस धर्म का हमेशा पालन किया है और जिसके प्रताप से ही मुझे यह सौभाग्य प्राप्त हुआ है उसके विरुद्ध आचरण करने की अपेक्षा में यह अच्छा समझूंगा कि मैं तलवार की तेज धार पर चलूं या दहकती हुई आग में कूद पडूं। अपनी जान बचाने के लिये भी धर्म-विरुद्ध आचरण नहीं करना चाहिये। अधर्म-आचरण करने से जो पाप लगता है वह महान् होता है और असंदिग्ध रूप से लगता है। जो लाभ होता है वह मामूली होता है और सन्देह से परे नहीं होता। नीति-परायण पुरुष अपने लिये कभी कोई ऐसी बात नहीं चाहता, जिससे किसी दूसरे को हैरानी-परेशानी हो। इस लिये धर्म की भूमि पर स्थिर खड़ा रहकर मैं स्वयं कष्ट सहन कर लूंगा किन्तु किसी दूसरे को पीड़ा नहीं पहुंचाऊंगा। यदि मैं आत्मानुशासन नहीं कर सकूंगा, तो मैं उन सब लोगों का क्या उपकार कर सकूंगा जो संरक्षण के लिये मेरी ओर देखते हैं। इस लिये अपनी प्रजा का हित साधने की दृष्टि से, धर्माचरण करने की दृष्टि से और अपने निर्मल यश को स्वच्छ बनाये रखने के लिये मैं काम-वासना के सम्मुख नहीं झुकता।' आज का नीतिज्ञ व्यभिचार के विरुद्ध इस से अधिक कुछ भी नहीं कह सकता कि व्यभिचार किसी भी पुरुष या किसी स्त्री के विश्वास को आघात पहुंचाना है और इस नाते जिस स्त्री या पुरुष के साथ विश्वास-घात होता है उस के प्रति यह एक अपराध होता है।

धर्मों ने सामान्यतया कामुकता की गर्हा ही की है और इस से सर्वथा विरत रहने तक की सिफारिश की है। हो सकता है कि यह दृष्टिकोण तर्कसंगत न लगे, लेकिन यह ऐसा नहीं है कि जिसका औचित्य न सिद्ध किया जा सके। यह कहा जा सकता है कि लैंगिक आचरण में ऐसा कुछ भी नहीं है कि उसे निन्दनीय या अनैतिक ठहराया जाय। यह भी सत्य हो सकता है कि ऐसी सभी सद् प्रवृतियां जैसे सहानुभूति, विश्वसनीयता, प्रेम, आत्म-परित्याग जो संवेदनशीलता के अन्तर्गत गिनी जा सकती हैं, वे सब जनन-प्रवृत्ति की ही देन हैं। लेकिन जैसे पशुओं में मैथुन-क्रिया प्रजन-ऋतु तक ही सीमित रहती है, या स्त्री-पक्ष की इच्छा तक सीमित रहती है, या केवल सन्तानोत्पत्ति की इच्छा तक सीमित रहती हैं, वैसा आदमियों में नहीं। मानवों में लैंगिक प्रक्रिया अपने में स्वयं एक उद्देश बन गई है। ऐसा बहुधा होने लगा है कि स्त्रियां ऐसा पहनावा पहनने लगी हैं कि उन के शरीर के जिन अंगों का काम-क्रिया से सम्बन्ध रहता है, वे बहुत उभर कर सामने आते हैं। इतना ही नहीं काम-वासना को संतुष्ट करने में जो किसी भी मर्यादा का पालन न करना है उस के इतने भयानक परिणाम होते हैं कि इस प्रक्रिया के साथ जो पाप-चेतना जुड़ गई है, उस का वैसा होना ही ठीक है। वैश्या-वृत्ति, गर्भ-पात, सन्तति-निरोध, अकाल जननता, लैंगिक बीमारियाँ

तलाक, सदोष मातृ–पितृत्व, सन्तान का पालन–पोषण करने की असमर्थता सीमातिक्रान्त लैंगिक–प्रक्रिया के कुछ परिणाम हैं। जैसे आग, वैसे ही काम–वासना एक अच्छा सेवक है, किन्तु बहुत ही खराब मालक। बहुत थोड़े ही लोग इस की आंच से बच पाये हैं। काम–वासना की असीम शक्ति इतनी सशक्त रही है कि धर्म भी किसी न किसी रूप में इस के आगे झुक गये हैं। धर्मों के बहुत से संस्कार और विधियां लैंगिक आचरणों के ही प्रतीकात्मक संकेत है। धार्मिक उत्सवों के साथ जुड़े हुए बहुत से प्राचीन समय के मदनोत्सव और इधर के भी बहुत से धार्मिक क्रिया–कलापों से जुड़ी हुई काम–क्रीडायें अतिसामर्थ्यवान काम–वासना से ही उत्पन्न हुई हैं। इस लिये यह उचित ही है कि लैंगिक–व्यवहार की अतिशयता को मर्यादित करने के लिये उस पर कुछ प्रतिबन्ध स्वीकार किये जायें।

यद्यपि धर्म सभी अयोग्य लैंगिक व्यवहारों का निषेध करता है, तो भी उस का यह मतलब नहीं कि जो लोग श्रेष्ठतर जीवन बिताने की आकांक्षा रखते हैं उन के लिये लैंगिक व्यवहार एकदम निषिद्ध है। यदि लैंगिक–व्यवहार श्रेष्ठतर जीवन का मूलतः विरोधी होता तो सिद्धार्थ के लिये बोधि–ज्ञान का प्राप्त कर सकना असम्भव होता। सिद्धार्थ केवल विवाहित ही नहीं थे, बल्कि ऐशोआराम का जीवन व्यतीत करते थे। लैंगिक आसक्ति का धर्म जो निषेध करता है उस का कारण है कि यह इन्द्रिय–सुखों के लिये एक लालसा पैदा कर देती है और अनेक स्नायु–रोगों का प्रधान कारण है। यद्यपि प्रकट रूप से विवाह का उद्देश वंश परम्परा को बनाये रखना माना जाता है, लेकिन वास्तव में जो शादियां की जाती है वे भावी सन्तति के लिये नहीं की जाती हैं, बल्कि केवल शादी करने वाले पक्ष–द्वय के स्वार्थ और सुख–भोग के लिये। एक पत्नी या एक पति के चुनाव में सांसरिक रीतिरिवाजों और भौतिक स्वार्थों का इतना विचार किया जाता है कि न स्वास्थ्य का कोई मूल्य होता है, न सौन्दर्य का, न बुद्धि का और न हृदय का। वंश परम्परा के चालू रखने के ऊंचे उद्देश से जो शादियां रचाई जाती है, धर्म का उन से कुछ भी विरोध नहीं हो सकता। कुछ बौद्ध सम्प्रदायों का मत है कि एक गृहस्थ उपासक न केवल अनागामी बल्कि एक अर्हत तक बन सकता है। मिलिन्द नरेश को उत्तर देते समय स्थविर नागसेन ने इस बात को स्वीकार किया है कि घर पर रहने वाले गृहस्थों ने, सांसरिक सुखों का उपभोग करते हुए परं शान्तिप्रद निर्वाण को प्राप्त किया है। उपगुप्त महास्थविर ने अनेक विवाहित स्त्री–पुरुषों को अर्हत्व तक का लाभ कराया है। मणिचूड़ावदान सदृश कुछ बौद्ध ग्रन्थ ऐसे भी हैं जो बोधि की आकांक्षा करने वाले बोधिसत्वों के लिये विवाहित होना अनिवार्य ठहराते हैं। असम्भव नहीं कि जापान में जो विवाहित साधु होते हैं, उस के मूल में यही भावना रही हो।

जब युवान् चाङ्ग ने भिक्षु संघ में प्रविष्ट होने के लिये अनुज्ञा चाही, तो चीन के हाई कमीश्नर ने उस से पूछा कि भिक्षु बनने में उस का क्या उद्देश है ? उस तरुण बौद्ध ने उत्तर दिया, 'यह कदम उठाने में मेरा एक ही उद्देश है कि हमें तथागत का जो धर्म प्राप्त है, उस का विस्तार करना।' तथागत ने जो संसार का त्याग किया, वह भी केवल इसी उद्देश से किया था। यदि तथागत अपने बच्चे और अपनी पत्नी को छोड़कर बेघर हो गये तो उस का एक ही कारण था कि लोग कुमार्ग–गामी थे और सारी दुनिया में अन्धकार छाया हुआ था। अमृत स्वरूप निर्वाण की प्राप्ति के अनन्तर उन को एक मात्र चिन्ता थी, दूसरों का मार्गदर्शन करने की और अपने उन अनुयाइयों की भी, जिन्होंने उन्हीं की तरह गृह–त्याग कर दिया और अकिञ्चनता का ब्रह्मचर्य वास कर रहे थे। ऐसे वे कुछ अपने लिये नहीं कर रहे थे, बल्कि संसार के लोगों को मुक्त करने के लिये। पीत वस्त्र धारण करने मात्र से भिक्षुत्व की सिद्धि नहीं होती, बल्कि तृष्णा से मुक्ति प्राप्त करने से ही भिक्षुत्व सिद्ध होता है। नियम पालन मात्र से कोई अरहत नहीं होता, बल्कि विचारों की तथा जीवन की पवित्रता से कोई भी अरहत होता है।

(४) तुम्हें असत्य नहीं बोलना होगा, विवेक के साथ सत्य ही बोलना होगा, किसी को हानि पहुंचाने के लिये नहीं, बल्कि मैत्री–युक्त चित्त से।

'जब कोई किसी सभा या समिति में उपस्थित हो तो उसे न तो किसी से असत्य बोलना चाहिये और न बुलवाना चाहिये और न किसी दूसरे झूठ बोलने वाले के साथ सहमति ही प्रकट करनी चाहिये। उस प्रकार के मिथ्या–भाषण से बचना चाहिये।' धम्मिक सुत्त।

"सत्य भाषण करे, क्रुद्ध न हो, मांगने पर दे – ये तीन गुण होने से आदमी देवत्व को प्राप्त होता है।" धम्मपद।

"असत्य से विरत रहकर वह मिथ्यात्व से दूर रहता है। वह सत्य बोलता है, सत्य का वह कभी त्याग नहीं करता। वह छल–कपट से अपने जैसे लोगों को कष्ट नहीं देता।" – तेविज्ज सुत्त।

धर्म की दृष्टि में झूठ बोलना एक महानतम अपराध है। ऐसा कोई भी अपराध या दोष नहीं है जिस में झूठ का अपना खास हिस्सा नहीं रहता। झूठ में विश्वासघात तो रहता ही है, 'यह इच्छा कि जो लाभ हम सीधे सरल ढंग से नहीं उठा सकते या जो लाभ हानि हम किसी दूसरे को सीधे ढंग से नहीं पहुंचा सकते वह टेढ़े मेढ़े तरीके से पहुंचायें या किसी सजा से या हानि से किसी टेढ़े–मेढ़े तरीके से बच जाये।' बदनामी, खुशामद, झूठी गवाही देना, ये सभी मिथ्या–भाषण के ही नाना रूप या स्तर हैं।

ढोंग, चिन्तन के स्तर पर, बोलने के स्तर पर और कार्य करने के स्तर पर जो बेमेलपना है, वह भी एक प्रकार का झूठ ही है, जिसे धार्मिक सम्प्रदायों ने पुष्ट किया है । इतिहास के विद्यार्थी को दिखाई देती है कि ढोंग या दिखावे की समरसता धर्मों की ही दुर्गुण रही है । और उन का दूसरों को धार्मिक बनाने की दिशा में जो प्रभाव पड़ सकता था, उस में बहुत कमी करने का कार्य उन का ही है, जैसे कूटनीतिज्ञ झूठ बोलते ही हैं, वकील चालाकी करते ही हैं और डाक्टर गम्भीरतापूर्वक नीमहकीम होते ही हैं ।

'झूठ बोलो और शैतान को शरमाओ' यह एक मुहावरा है जो किसी गिरजाघर में ही घड़ा गया है । श्री. लैकी का कहना है कि इसी गिरजाघर के ही प्राथमिक प्रतिनिधियों ने ही इस सिद्धान्त का प्रतिपादन किया था कि 'धार्मिक वंचना केवल उचित ही नहीं, प्रशंसनीय भी मानी जाती है ।'

कुछ महत्व का एक प्रश्न है कि क्या आवश्यक झूठ बोलने का औचित्य स्वीकारा जा सकता है ? क्या प्रत्येक परिस्थिति में झूठ बोलना गलत ही होता है, या परिस्थिति–विशेष में झूट बोलने का समर्थन किया जा सकता है ? 'लैंगिक समाधान को लेकर, शादी विवाह के विषय में, गौओं द्वारा खायी गई खाद्य–सामग्री के विषय में, यज्ञ के लिये समिधाओं के विषय में तथा ब्राह्मण को लाभ या संरक्षण प्राप्त होने के विषय में झूठी कसम खाने में भी कोई पाप नहीं' यह मनु महाराज का कथन है । महाभारत में कृष्ण ने भी कहा है कि ये पांच प्रकार के मिथ्या–भाषण निर्दोष हैं । इसी ग्रन्थ में अन्यत्र कृष्ण पर जब यह आरोप लगाया गया कि तुमने धर्म की सभी मर्यादाओं का उल्लंघन किया है तो पहले तो भगवान कृष्ण ने यही कहकर समाधान किया कि जैसे के साथ तैसे का व्यवहार करना चाहिये । और फिर साफ साफ कहते ही हैं, 'यह आदमी धर्मानुसार मारा नहीं जा सकता था और तुम्हारे शत्रु की कभी भी हत्या न होती, यदि मैं ने जो कुछ किया है, वही न किया होता ।' यद्यपि बौद्ध धर्म चेतना को बहुत अधिक महत्व देता है कि वही वास्तविक कर्म होती है और यदि मन में पाप न हो, तो किसी भी कर्म को पाप नहीं मानता, तो भी जहाँ तक मिथ्या–भाषण का सम्बन्ध है बौद्धधर्म समझौता वादी नहीं । बौद्ध धर्म का एक ही आदेश है, 'विवेक के साथ सत्य बोलो । लेकिन हमेशा सत्य ही बोलो । किसी भी परिस्थिति में मिथ्या–भाषण न करो, सत्य को न छिपाओ । प्राणों पर विपत्ति आ जाय तब भी सत्य का परित्याग न करो । भले ही सत्य बोलने वाले के लिये खतरा हो, तो भी दूसरों का हित साधने के लिये सत्य बोलना चाहिये ।' क्या सत्याचरण और हित–साधना अनिवार्य तौर पर एक ही नहीं है ? क्या सम्पूर्ण सत्य हमेशा पूर्ण सन्तोष का ही जनक नहीं होता । जो आदमी प्रज्ञा और विद्या चाहता है वह इतना स्वार्थी कैसे हो सकता है कि मिथ्या–भाषण करे ?

(५) तुम किसी भी नशीले पदार्थ को ग्रहण नहीं करोगे ।

"जो सद्गृहस्थ धर्माचरण में रस लेता है, उसे किसी भी नशीले पदार्थ का सेवन नहीं करना चाहिये । जो पीने वाले हैं, उसे उन का समर्थन नहीं करना चाहिये । शराब आदमी को पागल बना देती है ।

"अज्ञानी लोग शराब पीकर पापकर्म करते हैं । वे दूसरों को भी शराब पीने के लिये प्रेरित करते हैं । तुम्हें इस से विरत रहना चाहिये । यह पाप की जननी हैं, पागलपन उत्पन्न करती है और अविद्या का घर है ।" – धम्मिक सुत्त ।

"नशा आदमी के एश्वर्य और यश दोनों को नष्ट कर देता है, झगड़ों का तथा रोग का कारण होता है, कपड़े–लत्ते की सुध नहीं रहती, आत्म–गौरव का ध्यान नहीं रहता और ज्ञान–प्राप्ति के अयोग्य हो जाता है" – सिगालोवाद सुत्त ।

प्राचीन भारत में नशीले पेय पदार्थों का ग्रहण करना अत्यन्त सामान्य बात थी। वैदिक ब्राह्मण सोमपान और तेज शराब दोनों ग्रहण करते थे । जो देवताओं को अत्यन्त प्रसन्नतापूर्वक अर्पित किया जाता था, वह सोम रस था । ऋग वेद में हम पढ़ते हैं, "पवित्र प्रार्थना, तुम्हारी उपस्थिति की कामना करते हुए हे इन्द्र और अग्नि ! तुम्हें दोनों को आनन्दित करने के लिये सोम–रस अर्पित किया जाता है । हे सर्व द्रष्टा ! इस यज्ञ–मन्डप में कुशा–ग्रास पर विराजमान हे देवतागण ! इस समर्पित सुरा को ग्रहण कर आप आनन्दित होइये ।" सोम–रस पान का उद्देश स्पष्ट रूप से बताया गया है कि शराब पीकर मस्त हो जाना ही रहा है । सुरा नाम की एक दूसरी शराब भी देवताओं को अर्पित की जाती थी । सौत्रा-मणि तथा वाजपेय्य यज्ञ विधियों में तेज शराब का अपना प्रमुख स्थान था ।

अपने सारे इतिहास में हिन्दुओं ने सामूहिक रूप से और पूर्ण रूप से कभी भी नशीले पेय पदार्थ ग्रहण करने से परहेज़ नहीं किया । धर्म–सूत्रों में, संहिताओं में, वर्णित सोम और सुरा के अतिरिक्त मादविका भी उल्लेख मिलता है । ताल का तथा दूसरे दूसरे नशीले पेय पदार्थों का भी। रामायण में लिखा है कि विशिष्ट ऋषी ने विश्वामित्र का स्वागत–सत्कार उसे मेरय तथा सुरा पिलाकर ही किया था । सीता को जब जंगल भेज दिया गया था तो उस ने गङ्गा माता से प्रार्थना की थी कि वापिस घर लौटने पर वह नशीले पेय पदार्थ के एक हजार घड़े समर्पित करेगी । इसी प्रकार यमुना को पार करते समय उसने यमुना नदी से याचना की थी कि उस के पति का संकल्प पूरा हो जाने पर वह शराब के सौ घड़े चढ़ा-येगी । रामायण के अन्तिम काण्ड में राम सीता को मेरय का पान कराते हैं । अप्सराओं की भारी संख्या दोनों का मनोरञ्जन करती है जो स्वयं आपे से बाहर होती हैं । महाभारत में लिखा है कि शराब पीने से कृष्ण तथा अर्जुन दोनों की आंखें माधवी तथा आसव के पीने से लाल हो गई थीं । मनु का कहना है कि

यद्यपि इन से विरत रहने से महान फल की प्राप्ति होती है, लेकिन इन के सेवन में भी कोई दोष नहीं है । क्योंकि यह तो मनुष्य का स्वभाव ही है। मिताक्षरा के अनुसार केवल ब्राह्मणों को ही सभी प्रकार के नशीले पेय पदार्थों से दूर दूर रहना चाहिये, क्षत्रियों तथा वैश्यों को केवल अर्क से और शूद्र जो चाहे पी सकते हैं । एक तान्त्रिक ग्रन्थ में शिव जी अपनी भार्या को कहते हैं– 'हे मधुर भाषिनी देवी। ब्राह्मणों की मुक्ति शराब पीने पर ही निर्भर करती है। हे गिरि-वासिनी ! मैं तुम्हें एक बड़े रहस्य की बात कहता हूं कि जो शराब पीने और उस के सहभागी धर्मों से मुक्त होता है, वह तुरन्त शिव बन जाता है।'

भारत में बौद्ध धर्म ने ही सर्वप्रथम नशीले पदार्थों का सेवन निषिद्ध ठहराया। धर्म जो शराब आदि नशीले पदार्थों का सेवन निषिद्ध ठहराता है उसका कारण है कि नशा करने से आदमी तर्कानुकूल चिन्तन करने में असमर्थ हो जाता है और वह तर्क-विरुद्ध आचरण करने के लिये भी स्वतंत्र हो जाता है । नशे में आदमी दूसरों के प्रति अतार्किक व्यवहार करने लगता है और गालियां भी बकने लगता है । सभी कोई जानते हैं कि शराब का नशा बहुत से अपराधों का कारण होता है । इस लिये अपने आप को वैसी स्थिति में रखना दूसरों के लिये बहुत खतरनाक है।

शराब बारीक मांस पेशियों की वृद्धि करने की बजाये गरमी को ही उत्पन्न करती हैं। यह निश्चित ही है कि जो शराब ली जाती है वह कुछ मात्रा में गरमी पैदा करती है, लेकिन इस का अधिकांश भाप की शक्ल में विलीन हो जाता है। यह बात शराबियों के सांस से भी साबित हो जाती है । शराब का जो हिस्सा जलता है उस से बारीक मांस पेशियों की वृद्धि के पक्ष में कोई लाभ नहीं होता । डा. अटवाटर के तजर्बों से भी यह प्रमाणित नहीं हुआ कि शराब यथार्थ में मेजन है अर्थात् कोई ऐसी चीज़ जो शरीर रूपी संस्थान में घुल मिल जा सके। यदि बहुत थोड़ी मात्रा में शराब पी जाय तो वह आदमी के स्नायु–संस्थान को थोड़ी उत्तेजना प्रदान कर देती है। किन्हीं विशेष व्यक्तियों को औषधी के रूप में यह कुछ लाभ भी पहुंचा सकती है । लेकिन इस के दुरुपयोग से लाभ की अपेक्षा हानि ही अधिक होती है।

बौद्ध धर्म के अनुसार नशीले पेय पदार्थों और दारू का सेवन आदमी के ह्रास के छह कारणों में से एक है। शेष पांच है असमय सड़कों पर घूमना, नाच–खाने तमाशे और जुअे के प्रति अत्यधिक आसक्ति, कुसंगति में रहना, अपने कर्तव्यों की पूर्ति के प्रति आलस्य और उदासीनता। असमय इधर उधर घूमने से आदमी को बड़े बड़े खतरों का सामना करना पड़ता है, वह अपने घर से बाहर रहता है तो उस की पत्नि और उस की लड़कियां अरक्षित हो जाती हैं। और उस की सम्पत्ति भी लुट जा सकती है। वह चोरों में से एक समझा जाकर पकड़ लिया जा सकता है और सज़ा पा सकता है। खेल तमाशों का शौक आदमी को उस का धंधा नहीं

करने देते और उस की जीविका के बाधक बन जाते हैं । जुए में यदि सफलता मिल गई तो उस के पीछे पीछे लड़ाई–झगड़े चले आते हैं, द्वेष और मनोमालिन्य पैदा होता है और होता है धन–सम्पत्ति का विनाश । जुआरी के शब्दों की किसी भी न्यायालय में कोई कीमत नहीं होती । उसके मित्र और उसके रिश्तेदार भी उस से घृणा करते हैं और उसे कोई भी अपनी लड़की देने के अयोग्य समझता है । कुसंगति में विचरने के फलस्वरूप आदमी वारांगनाओं के घरों तक जा पहुंचता है, नशीले पेय पदार्थ पीने लगता है और अनापशाप कुछ भी खाने लगता है, ठग और डाकू बन जाता है और सभी तरह के दुर्व्यसनों का शिकार हो जाता है । अन्त में जो आलसी आदमी अपने कर्तव्य की ओर से उदासीन होता है, वह नई सम्पत्ति नहीं प्राप्त कर सकता और उस की पहले की सम्पत्ति भी बिखर जाती है ।

चीनी ब्रह्मजाल सुत्त में बौद्ध के लिये दारू बेचना मना है, बेचने को आसान बनाना भी निषिद्ध है । ऐसा करने से किसी दूसरे की पाप–कर्म में प्रवृत्ति हो सकती है ।

(६) तुम्हें न कसमें खानी होंगी और न गालियां बकनी होंगी, न व्यर्थ की बातचीत करनी होंगी, बल्कि या तो गम्भीरतापूर्वक बोलना होगा अन्यथा मौन रहना होगा ।

"जो मूर्ख आदमी क्रोधित हो जाता है और सोचता है कि गालियां बक कर मैं सदैव विजयी हो जा सकता हूँ, उसे संयत वाणी का प्रयोग करने वाला आदमी हरा देता है ।

"मूर्खता भरे वार्तालाप का त्याग कर वह बेकार की बात चीत से दूरदूर रहता है । वह समय के अनुसार बोलता है, वह यथार्थ बोलता है, वह वास्तविक बोलता है, वह सद्धर्म बोलता है, वह सद् विनय बोलता है । वह ठीक समय पर ऐसे शब्दों का उच्चारण करता है जिन से लाभ होता है, जो सुनिश्चित होते हैं, जो मर्यादित होते हैं, जो विद्या से परिपूर्ण होते हैं ।"– तेविज्ज सुत्त ।

"अपशब्दों और गालियों से, दूसरों की उपेक्षा और अगौरव करने से, घृणा और विरोध की उत्पत्ति होती है और उन में वृद्धि होती है । जब आदमी संयत शब्दावलि का प्रयोग करता है, दूसरों के प्रति यथायोग्य व्यवहार करता है, तो ये दुष्परिणाम स्वयं नष्ट हो जाते हैं । आदमी का भविष्य उस के शब्दों पर निर्भर करता है । अपशब्द विनाश का मूलमन्त्र है ।" – चीनी धम्मपद ।

" वाणी सिंह के समान निर्भीक होनी चाहिये, एक खरगोश के समान कोमल और नरम होनी चाहिये, सर्प के समान प्रभावशाली होनी चाहिये और मध्य में पकड़े हुए वज्र के समान स्थिर और संतुलित होनी चाहिये ।" – तिब्बत से एक और मुहावरा ।

जो आदमी श्रेष्ठ जीवन बिताना चाहता है उसे सांसारिक महत्वाकांक्षाओं को त्यागना होगा। तमाम ऐशोआराम को भी भूल जाना होगा और निष्प्रयोजन मनोरंजनों से भी छुट्टी पानी होगी। उसे व्यर्थ के और हानिकारक वार्तालाप से विरत रहना होगा। उसे बड़े आदमियों के बारे में गप्पें मारना बन्द करना होगा। उसे खाने, पीने, कपड़ों, सुगंधित द्रव्यों, गद्देदार पलंगों, सामानों, स्त्रियों, योधाओं, देवताओं, भविष्यवाणियों, अदृश्य निधियों, लघुकथाओं तथा जो चीजें है और जो चीजें नहीं हैं उन सब के बारे में बेकार की बातचीत को त्यागना होगा। ब्यालीसवें परिच्छेद के सूत्र में कहा ही है, 'स्वर्ग और पृथ्वी, भूतप्रेतों और राक्षसों के बारे में ऐसी बातें करते रहने से जैसी बातें सामान्य जन करते रहते हैं एक अकेले अच्छे आदमी को खाना खिलाने से अधिक पुण्य होता है।'

(७) आप को न तो किसी के बारे में खराब बातें घड़नी होंगी, और न उन्हें दोहराना होगा। तुम्हें छिद्रान्वेषण नहीं बल्कि अपने साथियों के गुणों की ओर देखना चाहिये ताकि तुम ईमानदारी के साथ उन के शत्रुओं के विरुद्ध उन के पक्ष का समर्थन कर सको।

'वह किसी की बदनामी न कर, किसी का अपयश फैलाने के कार्यक्रम को त्याग देता है। जो कुछ वह यहाँ सुनता है उसे यहाँ झगड़ा लगाने के लिये अन्यत्र नहीं दोहराता है। वह जो कुछ वहाँ सुनता है, वहाँ झगड़ा लगाने के लिये यहाँ नहीं दोहराता है। इस प्रकार जो विभक्त है, वह उन्हें मिलानेवाले की तरह रहता है, जो मित्र हैं उन्हें मैत्री की ओर उत्साहित करनेवाले की तरह रहता है, वह शान्ति स्थापित करनेवाला होता है, वह शान्ति–प्रिय होता है, वह शान्ति के लिये अत्यन्त इच्छुक, वह शान्तिसमर्थक शब्दों का ही उच्चारण करनेवाला होता है।' – तेविज्ज सुत्त।

'बुद्धिमान आदमी को चाहिये कि दूसरों के कृत्यों–अकृत्यों की ओर नहीं बल्कि अपने ही कृत्यों और अकृत्यों की ओर देखे।' – धम्मपद।

'जो दुष्टजन सज्जनों की निन्दा करते हैं, वे उस आदमी के समान होते हैं जो आकाश की ओर थूकता है। थूक आकाश तक नहीं पहुंचता। वह पलट कर थूकने वाले पर ही वापिस आकर गिरता है। फिर दुष्ट आदमी उस धूल के समान भी होता है जो हवा के विरुद्ध उड़ाई जाती है। हवा के विरुद्ध उड़ाई जाने वाली धूल से उड़ानेवाले को ही नुकसान पहुंचता है।' – चवालीसवें परिच्छेद का सूत्र।

झूठी सच्ची बातें घड़ना और उन का दोहराना एक प्रकार से झूठ के ही भिन्न भिन्न रूप हैं। 'आदमी को चाहिये कि दूसरों को सज्जन मानें, अपने को ही दुर्जन माने, इसलिये आदमी को चाहिये कि दूसरे में जो अच्छाई है, उसका अनुकरण करे और जो बुराई है, उसे त्याग दे।' – बोधिचर्यावतार।

(८) तुम्हें अपने पड़ौसी के सम्पत्ति के प्रति ईर्षालु नहीं होना चाहिये, बल्कि दूसरों का वैभव देखकर प्रसन्न होना चाहिये ।

औदार्य, सदाशयता, कृपालुता, करुणा – ये सभी संसार के लिये उपयोगी धर्म हैं जितनी उपयोगी गाड़ी के पहियों के लिये धुरी की कील होती है – सिगालोवाद सुत्त ।

'तृष्णा से बंधा हुआ मूर्ख उस किनारे पर जाने का प्रयास नहीं करता । धन की लोलुपता, काम भोगों की तृष्णा के वशीभूत हो स्वयं आत्म–विनाश को प्राप्त होता है । तृष्णा मुक्त चित्त खेत है, जोरू की गुलामी, क्रोध, अविद्या उस की उपज हैं । इसलिये बुद्धिमान तृष्णा से सर्वथा दूर दूर रहता है ।' – धम्मपद ।

दूसरे के लाभ की चिन्ता न कर या दूसरे को हानि पहुंचा कर भी अपने ही लाभ की चिन्ता करना स्वार्थ है । ईर्षा स्वार्थ का ही एक घनी भूत आकार है, जो कि दूसरों के कष्टों और दुःखों को देखकर आनन्दित होती है । अपने को भले ही लाभ हो या न हो । लगातार चालू प्रतियोगिता ने एक ऐसी प्रवृत्ति को जन्म दिया है उसी मात्रा में जिस मात्रा में कोई सफलता की आकांक्षा करता है, जिस के अनुसार आदमी जिन्हें अपनी अपेक्षा अधिक सफलता मिली है, उन से घृणा करता है और यदि उन का पतन हो जाय तो उन को विपत्ति में फंसे देखकर आनन्दित होता है । कवि ने ईर्षा की जो परिभाषा की है, वह यथार्थ है, 'यह अत्यन्त अन्धेरे की रात है, जिस में जलाने वाली आग है, प्रकाश देनेवाली ज्योति नहीं।'

(९) तुम्हें सारा विद्वेष, सारा क्रोध, सारा मनमुटाव और सारी घृणा की भावना त्याग देनी होगी । तुम्हें उन लोगों से भी घृणा न करनी होगी जो तुम्हें हानि पहुंचाते हैं । तुम्हें सभी प्राणियों से करुणार्द्र हृदय से प्रेम करना होगा ।

'आदमी को चाहिये कि क्रोध को प्रेम से जीते, बुराई को भलाई से जीते, कंजूस को उदारता से हटाये और झूठे को सत्य से । घृणा कभी भी घृणा से जीती नहीं जा सकती । वैर हमेशा प्रेम से ही जीता जा सकता है । – यही सनातन नियम है ।' – धम्मपद ।

'जो आदमी मूर्खतावश मुझे हानि पहुंचाता है, मैं उसे अपना असीम प्रेम दूंगा । वह मुझे जितने ही अधिक हानि पहुंचायेगा, अपनी ओर से मैं उस से उतनी ही मैत्री करूंगा ।' – ब्यालीस परिच्छेदों का सूत्र ।

'भलाई के बदले भलाई बड़ी अच्छी बात है, किन्तु बुराई के बदले में भलाई उस से भी अच्छी बात है ।' – बोधिचर्यावतार

'भले आदमी उन पर भी करुणा से पिघल जाते हैं, जिन्हों ने उन्हें कष्ट दिया होता है।' – अवदान कल्पलता।

'सब से बड़ी आवश्यकता है मैत्री पूर्ण चित्त की। किसी को दबाकर रखने के लिये, किसी को हानि पहुंचाने के लिये नहीं, दूसरों का पतन कर अपने आप को ऊंचा बनाने के लिये नहीं बल्कि जो कष्ट में हैं उन को सान्त्वना देने के लिये और उन का दुःख दूर करने के लिये।' – फो–शो–हिंग–त्साङ्ग–किंग।

'पवित्र विचारों से और मैत्रीपूर्ण हृदय से मैं दूसरों के प्रति वही कुछ करूंगा, जो मैं अपने प्रति करता हूं।' – ललित विस्तर।

'शीलवान आदमी को जब कष्ट होता है, तब वह अपने कष्ट के लिये दुखी नहीं होता, वह दुखी होता है उस कष्ट के कारण जो उस से किसी दूसरे को पहुंचा हो।' – जातकमाला।

'जितनी तकलीफ, जितना अपमान, जितनी बदनामी दूसरों की हुई, वह सब तुम अपने सिर ले लो। अपने गुणों और श्रेष्ठता को अप्रकट ही रहने दो, ताकि वे दूसरों के गुणों को मध्यम न कर दें।' – चीनी ब्रह्मजाल सूत्र।

वर्तमान परिस्थिति में जहाँ तक आदमी का न्याय से सम्बन्ध है, उस का तकाजा है कि हम सभी कानूनी उपायों से अपने और दूसरों के स्वार्थों का संरक्षण करें। इसी लिये कहावत है, जो कुछ तुम आशा करते हो कि दूसरे तुम्हारे साथ बरतें, ठीक वैसा ही बरताव तुम दूसरों के साथ करो। इस का मतलब है जिस का जो भी हक है, वह उसे दो। लेकिन जिस नैतिकता की नजर भावी मनुष्य पर है, उस का कहना है कि न्याय की कमी की पूर्ति समभाव और औदार्य से की जानी चाहिये। यथार्थ न्याय–प्रियता का तकाज़ा है कि हम अपने उन अधिकारों और लाभ्यांशों का भी परित्याग कर दें जो कि असंदिग्ध रूप से हमारे अधिकार की सीमा के अन्दर है, ताकि हमारे स्वार्थ की सिद्धि किसी दूसरे की स्वार्थ–सिद्धि को सापेक्ष दृष्टि से अधिक हानि न पहुंचाये। औदार्य का तकाजा है कि हमें यदि कोई व्यक्तिगत हानि पहुंची हो तो हम उसे भूल जायें और भले ही बदला लेने का सुअवसर आ उपस्थित हुआ हो तब भी हम बदला लेने की न सोचें।

'अपने पड़ौसी से भी वैसे ही प्रेम करो, जैसे अपने से करते हो।' शिक्षा न केवल अस्पष्ट है, बल्कि उस के दुखद परिणाम भी हो सकते हैं। यदि कोई आदमी अपने आप को निम्न स्तर पर प्यार करता है, बचकाना तौर पर प्यार करता है, एक कायर की तरह प्यार करता है तो उस से यही आशा की जा सकती है कि वह अपने पड़ौसी के साथ भी वैसा ही बरताव करे। यदि कोई आदमी अपने आप से घृणा करता है तो उस का मतलब हुआ कि उसे दूसरों से भी घृणा करनी चाहिये। बौद्ध धर्म द्वारा दी गई शिक्षा में एक निश्चितपना है। इस की तालीम

है कि अपने आप से प्रेम करें किन्तु हमारा प्रेम स्वस्थ हो, विवेक पूर्ण हो, महान हो और सम्पूर्ण हो । एक प्रभावशाली ढंग से औदार्य का प्रदर्शन करने के लिये आदमी के पास ऐसा हृदय होना चाहिये जिसे स्पष्ट रूप से इस बात की पूरी समझ हो कि आदमी को अपने प्रति क्या क्या करना चाहिये । यदि तुम्हें अपने शत्रु को भी प्रेम करने के लिये कहा जाता है और उस की बुराई का भी बदला भलाई से चुकता करने के लिये कहा जाता है, यह इसलिये क्यों कि बोधिचर्यावतार का कहना है कि 'शत्रु उसे कहते हैं, जो बोधि प्राप्ति में तुम्हारी सहायता कर सकता है, बशर्ते कि तुम उसे प्रेम कर सको ।' आदमी को चाहिये कि वह घृणा से घृणा करे, न कि उस व्यक्ति से जो उस से घृणा करता हो । इस का यह मतलब नहीं कि यदि कोई तुम्हारे दाहिने गाल पर थप्पड़ मारे तो तुम अपना बायां गाल उस के आगे कर दो। लेकिन इस का मतलब इतना अवश्य है कि तुम्हें भलाई से बुराई का विरोध करना चाहिये । बुराई के प्रति अनाक्रामक अकर्मण्यता कोई नैतिकता नहीं है। भेड़ के बच्चे की विनम्रता प्रशंसनीय हो सकती है, लेकिन यदि इस से किसी व्याघ्र की मांस–लोलुपता में ही वृद्धि होती हो, तो ऐसी विनम्रता निरर्थक है । ढोंग और आत्म–वंचना की तरह, ईर्षा और हवस की तरह, ठगी और विश्वास–घात की तरह, हठ और जिद्द की तरह, अहंकार और अभिमान की तरह, असंतोष और उपेक्षा की तरह, शारीरिक आलस्य और मानसिक तन्द्रालुपन की तरह, क्रोध और शत्रुता भी दिमाग को कमजोर कर देते है और वह अपने चित्त–मलों को नष्ट करने में असमर्थ हो जाता है । क्रोध और घृणा के वशी भूत सारा जगत झगड़े–झंझटों में, कलहों में और कलुषताओं में उलझा पड़ा है । इसलिये अप्रमादी बौद्ध को अपने आप को प्रेमरूपी प्रतिकार से सदैव सुसज्ज रखना चाहिये ।

भगवान बुद्ध ने अपने अनुयाइयों को बार बार मैत्री का अभ्यास करते रहने के लिये कहा है । मैत्री को कामना और प्रेम का ही पर्याय नहीं मानना चाहिये । कामना का मतलब है कामुकता और इसे आध्यात्मिक उन्नति के पथ में एक बाधा ही स्वीकारा जाता है । प्रेम वह प्राकृतिक आकर्षण है जो माता–पिता और उन की सन्तान के बीच होता है या भाई–बहनों के बीच होता है । लेकिन क्यों कि इस में स्वार्थ की गन्ध रहती है, इस लिये इसे उच्चतम आदर्श के रूप में प्रतिष्ठित नहीं किया जाता । मैत्री उस प्रेमभरी दया की सम्पूर्णता को कहते हैं जो स्वार्थ पूर्ण प्रेम के माधुर्य से रहित रहती है । सुत्तनिपात के मैत्री सूक्त में कहा है – जैसे मां अपने लिये जान का खतरा मोल लेकर भी अपने पुत्र, अपने इकलौते पुत्र को संरक्षण प्रदान करती हैं, उसी प्रकार आदमी को चाहिये कि वह सभी प्राणियों के प्रति असीम मैत्री का अभ्यास करे । आदमी को चाहिये कि वह समस्त विश्व के प्रति मैत्री का अभ्यास करे, ऊपर नीचे चारों ओर, उस में स्वार्थपरता की तनिक भी गन्ध न हो, उपेक्षा और विरोध का सर्वथा अभाव हो । आदमी को दृढ़ता पूर्वक

जाग्रत अवस्था में, भले ही वह खड़ा हो, बैठा हो, लेटा हो, इसी अवस्था में स्थित रहना चाहिये। यह चित्त की अनुपम विभक्ति ही सर्व श्रेष्ठ स्थिति है।

ब्राह्मण–ग्रन्थों में बहुधा प्रेमिका के अपने प्रेमी के प्रति प्रेम के गीत गाये जाते है। बौद्ध ग्रन्थों में माता के पुत्र के प्रति किये जाने वाले प्रेम को उच्चतम स्थान दिया गया है। विकासवाद की यह यथार्थता है कि मानवता के जितने भी गुण हैं उन के मूल में मां का प्रेम ही रहता है। भोजन–सामग्री की आवश्यकता से, संरक्षण की आवश्यकता से और वंशपरम्परा को चालू रखने के व्यक्तिगत स्वार्थ से निम्न स्तर की स्वार्थ मूलक भावनायें, जैसे घृणा, डर, ईर्षा, क्रोध उत्पन्न होती हैं। दूसरी ओर माता के प्रेम से, जो कि निस्स्वार्थ प्रेम का एक रूप होती है, दया, परोपकार, जन्म ग्रहण करते हैं और बाद में उन्हीं के साथ दूसरी भावनायें मिलकर इच्छा, कल्पना, श्रद्धा और आशा का रूप धारण कर लेते हैं। मातृ–प्रेम का मूलाधार है त्याग, परित्याग।

क्यों कि मैत्री से ही करुणा और मुदिता का जन्म होता है, इसलिये मैत्री इन दोनों के ऊपर है। जितने भी शुभ–कर्म हैं, जितने भी दान–धर्म हैं, उन में से कोई भी मैत्री–चित्त का मुकाबला नहीं कर सकते। अन्यत्र भगवान बुद्ध ने ही कहा है, 'भिक्षुओ, जो कोई प्रातःकाल, मध्याह्न और सन्ध्या के समय मैत्री भावना का अभ्यास करता है, वह प्रातःकाल, मध्याह्न और सन्ध्या के समय चावल से भरे सैंकड़ों बरतनों के दान से प्राप्त पुण्य की अपेक्षा भी अधिक पुण्य अर्जित करता है।' कुछ अपवादों को छोड़कर भगवान बुद्ध के शिष्यों ने हमेशा अपने शास्ता के मैत्री–भावना करने के अनुशासन का पालन किया है।

भिक्षुगण किस प्रकार परस्पर प्रेम से रहते थे, इस की यह कथा साक्षी है। एक बार भगवान् बुद्ध विचरते विचरते प्राचीन वनसन्द में जा पहुंचे। उस समय उस जंगल में अनुरुद्ध स्थविर, नन्दिक स्थविर तथा किम्बिल स्थविर रहते थे। भगवान् बुद्ध को उधर ही बढ़ते आते देखा तो वन का रक्षक चिल्लाया– 'अरे भिक्षु। इधर मत आओ। इस जंगल में सब चिन्ताओं से मुक्त तीन महापुरुष रहते हैं। उन की चर्य्या में विघ्न मत डालो।' यह सुन कि वन–रक्षक भगवान बुद्ध को किस प्रकार सम्बोधित कर रहा है, अनुरुद्ध स्थविर बोले – 'हे वनरक्षक ! उन्हें मत रोक। वे तो हमारे स्वामी है।' तब अनुरुद्ध स्थविर नन्दिक स्थविर तथा किम्बिल स्थविर के पास पहुंचे, 'स्थविरो ! पधारिये, स्थविरो पधारिये। स्वामी का आगमन हुआ है।' तब तीनों स्थविर इकठ्टे होकर भगवान बुद्ध के पास पहुंचे। एक ने उन का चीवर और भिक्षापात्र संभाला, एक ने उन के लिये योग्य आसन की व्यवस्था की और पाँव पखारने के लिये पानी ले आया गया। भगवान बुद्ध के लिये जो आसन तैयार किया गया था, आप उस पर विराजमान हुए और पाँव धोये। स्वागत–सत्कार की समाप्ति पर तीनों ने अपने अपने लिये आसन लिये

और उन पर विराजमान हुए । तब भगवान बुद्ध ने अनुरुद्ध महास्थविर से पूछा – 'अनुरुद्ध ! कैसे चल रहा है ? खाने पीने का कोई कष्ट तो नहीं है ? भिक्षा में कुछ कमी तो नहीं है ?'

"हमारा ठीक तरह से चल रहा है । हमें भिक्षा की किसी भी तरह की कमी नहीं है । हमें और अधिक भिक्षा की जरूरत नहीं है ।"

"अनुरुद्ध ! क्या तुम लोग आपस में मेल–मिलाप से रहते हो ? एक दूसरे की तरफ मित्र–चक्षु से देखते हुए ?"

"भगवन् ! हम आपस में मेल–मिलाप से रहते हैं, एक दूसरे की तरफ मित्र–चक्षु से देखते हुए ।"

"अनुरुद्ध ! यह तुम कैसे कहते हो ?"

"भगवन् ! मैं यह सोचता हूं कि यह मेरे लिये कितने बड़े लाभ की बात है कि मैं ऐसे भिक्षुओं के साथ रहता हूँ । भगवान् ! मुझ में इन भिक्षुओं के लिये एक प्रेम भाव पैदा हो गया है जो मेरे मन–वचन और कर्म में, मेरे निजी जीवन में तथा सार्वजनिक जीवन में प्रकट होता है । भगवान् ! मैं हमेशा अपनी इच्छा को दबाकर अपने इन भाइयों की इच्छा के अनुसार चलता हूँ । भगवान् ! हमारे शरीर भिन्न भिन्न हैं, लेकिन हम एक ही तरह से सोचते और कार्य करते हैं ।"

नन्दिका और किम्बिल महास्थविरों से भगवान बुद्ध ने यही प्रश्न पूछे और ऐसे ही उत्तर पाये ।

ऐसी कोशिशें की गई हैं कि बौद्धधर्म में प्रेम का जो स्थान है उस के महत्व को कम करके दिखाया जाय । कुछ जातक कथाओं में जैसे विश्वान्तर जातक में बोधिसत्व को अपने बच्चों और पत्नि तक का दान देते दिखाया गया है । कहा जाता है कि बौद्धधर्म में निर्दयता की पराकाष्ठा को परोपकार का नाम दिया गया है । इस तरह की धारणा का मूल कारण है कि जातकों का उद्देश्य ही नहीं समझा गया है । जैसे पहले भी कहा जा चुका है एक जातक या तो कोई ऐतिहासिक घटना होती है, या कोई कथानक होता है, या कोई कथा होती है और उन का उद्देश्य होता है, कभी किसी की प्रताड़ना करना, कभी किसी को नैतिक उपदेश देना या कभी बोधि–प्राप्ति के लिये आवश्यक किसी गुण–विशेष को उजागर करके दिखाना । अधिक जातककथायें इसी अन्तिम उद्देश्य की सिद्धि के लिये ही हैं । इन कथाओं में प्रत्येक कथा–विशेष किसी एक उद्देश–विशेष को प्रतिष्ठित करने के लिये है, किसी दूसरे गुण की भले ही सापेक्ष उपेक्षा भी हो गई हो, तो कोई बात नहीं । इस प्रकार जबर कोश (पाम) जातक में दानशीलता पर जोर दिया गया है, सङ्खपाल जातक में शील पर, लघु सुत्त सोम जातक में अभिनिष्क्रमण पर, सत्तुभत्त जातक में प्रज्ञा पर, महाजनक जातक में साहस और वीर्य पर, खन्ति वाद

जातक में सहनशीलता और क्षमा पर, बड़ी सुत्तसोम जातक में अधिष्ठान (निश्चय) पर, एकराज जातक में मैत्री पर, लोमहंस जातक में अपेक्षा पर। जातकों का असाधारण महत्व हृदयङ्गम करने के लिये यह आवश्यक है कि जातकों के समग्र रूप पर विचार किया जाय। और यह भी नहीं भूलना चाहिये कि मानवता के श्रेष्ठतम गुण वे ही हैं जो मानवता को ही नामशेष करने वाले हैं। यदि एक कान्तार में एक स्वार्थी आदमी और एक परमार्थी आदमी संयोग से एकत्र हो जाय और दोनों के पास जो भोजन हो, वह केवल एक आदमी के लिये पर्याप्त हो, तो दोनों में से कौन बचेगा ? जिन सब गुणों के होने से ही बोधि की प्राप्ति होती है, उन सब गुणों के अधिष्ठाता के आत्म–विनाश की ओर अग्रसर होना ही एक मात्र मार्ग है। तब भी स्वीकार करना ही होगा कि परोपकार का जीवन ही एक मात्र श्रेष्ठ जीवन है।

यह बहुधा कहा जाता है कि एक मात्र ईसाइयत ही प्रेम का धर्म है। लेकिन यदि ईसाईयत के 'प्रेम' की नजदीक से समीक्षा की जाय तो यह बात स्पष्ट हो जायगी कि ईसाइयत के आरम्भिक युग में भी ईसाइयत पर यह बात खरी नहीं उतरती थी। 'बौद्धधर्म' के एक जर्मन लेखक ने इस प्रश्न पर विस्तार से विचार किया है। वे इस परिणाम पर पहुंचे हैं, "यदि हम नये टैस्टिमेंट के उन स्थलों पर गम्भीरता से विचार करें जिन में 'प्रेम' प्रकरण आया है तो हम देखेंगे कि उन में से कोई एक भी प्रयोग ऐसा नहीं है, जिसे हम 'प्रेम' की आध्यात्मिक व्याख्या कह सकें। उन स्थलों पर या तो प्रेम की स्वीकारात्मक प्रशंसा दी गई है, या जो प्रेम का कारण या प्रेम करने का जो उद्देश हो सकता है, वह दिया है। जैसे प्रेम परमात्मा का आदेश है, या प्रेम ही परमात्मा है। या प्रेम के बाह्य प्रकटीकरणों का उल्लेख किया हैं, इस के व्यवहारिक लाभों का, या इस से जो सम्बन्ध स्थापित होते हैं या होने चाहिये या मात्र प्रेम के इनाम की सूचना दी है। इस सब से हम पर यही संस्कार पड़ता है कि हम एक चक्र–व्यूह में फंस गये हैं – एक ओर कहा जाता है कि ईश्वराज्ञा से प्रेम उत्पन्न होता है, दूसरी ओर कहा जाता है कि प्रेम करने से ईश्वर आज्ञा का पालन होता है।" ईसाइयत में बाह्य अधिकार के जोर पर आदमी को प्रेम करने के लिये मजबूर किया जाता है, लेकिन बौद्ध धर्म की मैत्री नैरात्म–वाद का स्वाभाविक परिणाम है। फिर यदि यह कहा जाय कि अगपी की स्तुति में नये टैस्टमेंट में एक आकर्षक गीत है तो इतिवृत्तक में मैत्री की प्रशंसा में उतना ही आकर्षक गीत है। फिर संसार भर के बौद्ध प्राणियों के प्रति करुणार्द्र बने रहने में अपने शास्ता के अनुशासन का अक्षरशः पालन करते रहे हैं, लेकिन ईसाइयत का तो सारा इतिहास ही इस बात का साक्षी है कि इस विषय में ईसाई लोग 'नये टैस्टामेंट' की शिक्षाओं के विरुद्ध ठीक उल्टा ही आचरण करते रहे हैं। व्यक्तिगत रूप से और सामूहिक रूप से भी ईसाई 'पर्वतीय प्रवचन' के विरुद्ध ही आचरण करता है। किसी ने नपेतुले शब्दों में

कहा ही है, "जब से पाश्चात्य जगत ने ईसा को अपना स्वामी और मसीहा माना, उस दिन से पाश्चात्य जगत का इतिहास मुख्य रूप से धार्मिक अत्याचारों और धार्मिक युद्धों का ही इतिहास रहा है। लोगों ने पूर्ण विश्वास के साथ ईश्वर के प्रति अपनी श्रद्धा को प्रमाणित किया है, अपने भाइयों के शरीरों को आग को समर्पित करके और उन की आत्माओं को नरक के कष्ट भोगने के लिये विदा करके।" लेकिन बौद्धधर्म के सारे इतिहास में एक भी ऐसा उदाहरण नहीं है जब धर्म–प्रचार के लिये तलवार का आश्रय लिया गया हो। यदि सत्य की अन्तिम कसौटी आदमी को प्रेरणा देना और आदमी के आचरण को संयत रखना है, तो बौद्धधर्म और ईसाइयत में कौनसा धर्म 'प्रेम का धर्म' कहलाने का अधिकारी है ?

(१०) तुम्हें अपने दिमाग को अविद्या से मुक्त रखना चाहिये, और सत्य को ग्रहण करने के लिये उत्सुक रहना चाहिये। ताकि ऐसा न हो कि तुम शब्दों के शिकार हो जाओ या ऐसी गल्तियां करो जो तुम्हें उस मार्ग से पथ–भ्रष्ट कर दें जो तुम्हें शान्ति और सुख प्रदान करने वाला है।

धर्मों के बीच सन्देह के प्रति बौद्धधर्म का दृष्टिकोण असाधारण है। भगवान बुद्ध हमें कहीं भी यह नहीं कहते कि जो सत्य हमें बुद्धिगम्य और स्पष्ट न हों उन को हम स्वीकार करें। दूसरी ओर तथागत ने बार बार अपने शिष्यों को कहा है कि दूसरों के कथन को प्रमाण मान कर किसी भी बात को मान्य न ठहराओ, बल्कि जहाँ तक पहुँच सको वहाँ प्रमाणों के प्रकाश में ही अग्रसर होते चलो। उन्हों ने साफ तौर पर कहा है कि धर्म को लेकर खोजबीन करना बोधि–प्राप्ति का आवश्यक अंग है। तदनुसार खोज–बीन के समय बौद्ध–धर्म सन्देह का कम मूल्याङ्कन नहीं करता। लेकिन जिस तरह के सन्देह को यह महत्व देता है वह उस तरह का सन्देह है जिसका उद्देश होता है ऊंची महत्वाकांक्षा के सहारे, नये प्रयत्न के सहारे, सतत परिश्रम के सहारे अपने आप को ही शान्त कर लेना। यह उस तरह के सन्देह को स्थान नहीं देता, जो छिछोरेपन तथा अविद्या से उत्पन्न होता है और जो अपने आलस्य और उपेक्षा के समर्थन में अपने आप को सतत बनाये रखता है। यहीं बौद्ध धर्म और गंवारों के सन्देहवाद का भेद स्पष्ट हो जाता है। सन्देहवादी निराशावादी अकर्मण्यता को अपना ध्येय मान लेता है, लेकिन आशा और आकांक्षा से जिसका व्यक्तित्व ओतप्रोत है ऐसा बौद्ध इसे अपनी सीढ़ी का एक पत्थर मानता है, जिसके सहारे वह अपने अन्तिम ध्येय सत्य की प्राप्ति तक पहुंच जाता है।

ब्राह्मणवाद वेदों को अपौरुषेय मानता है और इसी लिये उस की स्थापना है, 'तुम्हें धर्म को लेकर कुछ भी ऊहापोह करके अपने सन्देहों को निवारण करने का प्रयास नहीं करना चाहिये। इस तरह के सन्देहों को तुम्हारे मन में कभी भी स्थान नहीं मिलना चाहिये। बिना किसी भी प्रकार के किन्तु–परन्तु के मेरी

आज्ञा मानो । एक अन्धे आदमी की तरह या किसी ऐसे आदमी की तरह जो इन्द्रिय विहीन हो मेरा अनुकरण करो।' इसलिये यदि विज्ञान के सत्यों का वेद के सत्यों से मेल नहीं खाता तो ब्राह्मण विज्ञान के सत्यों को अस्वीकार कर देता है। इसलिये ब्रह्मगुप्त नाम का कट्टर ज्योतिषी अपने ब्रह्मसिद्धान्त के प्रथम परिच्छेद में ही सूर्य ग्रहण तथा चन्द्र ग्रहण की योग्य व्याख्या के विरोध में लिखता है। उस का तर्क यही है कि इस नयी व्याख्या का वेद से ताल-मेल नहीं बैठता । वह लिखता है, "कुछ लोग कहते हैं कि ग्रहण राहु से ग्रसे जाने का परिणाम नहीं है। यह विचार मूर्खता पूर्ण विचार है । क्यों कि वास्तव में राहु ही है जो चन्द्रग्रहण सूर्य ग्रहण का कारण बनता है । संसार के सभी सामान्य जन यही मानते हैं कि राहु ग्रसता है । वेद जो कि ब्रह्मा के श्रीमुख से निकले हैं और ईश्वर-वचन हैं कहते हैं कि राहु ग्रसता है। इसी प्रकार मनु द्वारा रचित मनुस्मृति का भी कहना है कि राहु ग्रसता है। ब्रह्मपुत्र गर्ग द्वारा रचित संहिता का भी यही कहना है कि राहु ग्रसता है। दूसरी ओर वराहमिहिर, श्रीसेन, आर्यभट्ट तथा विष्णुचन्द्र की स्थापना है कि ग्रहण राहु की देन नहीं है, बल्कि चन्द्रमा और पृथ्वी की छाया के परिणाम हैं । यह बात उन्हों ने सभी जनों के विरोध में कही । क्यों कि यदि राहु चन्द्रमा को नहीं ग्रसता है तो ग्रहण के समय ब्राह्मण लोग जो जो क्रियाकलाप करते हैं, जैसे गरमागरम तेल से मालिश करना, स्नान करना और तब कुछ निश्चित नियमित संस्कारों की पूर्ति। वे सब व्यर्थ सिद्ध होंगे। यदि कोई आदमी इन बातों में विश्वास नहीं करता, तो वह विश्वसनीय क्षेत्र से बाहर का माना जाता है। मनु अपनी स्मृति में लिखता है, 'जब राहु सूर्य या चन्द्रमा को ग्रस लेता है, उस समय पृथ्वी के सभी जल-स्रोत पवित्र हो जाते हैं, गङ्गा नदी के जल के समान।' वेद का कहना है, 'सैनिक नाम के दैत्यों की एक स्त्री का बेटा राहु है।' इसलिये आदमी उस समय दान-पुण्य करते हैं। और इस लिये इस जनमत का विरोध नहीं करना चाहिये । क्यों कि वेद, स्मृति तथा संहिताओं में जो कुछ भी है, सत्य है।" इसलिये यदि ब्राह्मणवाद विज्ञान को स्वीकार कर लेगा तो वह ब्राह्मणवाद नहीं रहेगा।

बौद्धधर्म इस बात का आग्रह नहीं करता कि स्थायी मोक्ष-प्राप्ति के लिये किसी इलहामी-सत्य पर विश्वास करो। व्यक्तिगत विश्वास बौद्ध धर्म की आधार-शीला है। अधिकार वाणी का भार किसी भी बौद्ध को अधिक हैरान नहीं करता। एक ईसाई के लिये यह सम्भव है कि वह धर्म और विज्ञान को पृथक पृथक रहने दे, एक जेब में विज्ञान को पड़ा रहने दे और दूसरी जेब में धर्म को। लेकिन बौद्ध के लिये यह संभव नहीं, क्योंकि धर्म जीवन के सम्बन्ध में किसी भी सही दृष्टिकोण का विरोधी हो ही नहीं सकता। इस लिये बौद्ध धर्म में ऐसी कोई बात नहीं जो आधुनिक वैज्ञानिक चेतना के प्रतिकूल हो। ऐसी वैज्ञानिक खोज जो सतत हो, जो निष्पक्ष हो, जो ज्ञान ज्ञान के लिये न हो बल्कि जो मानवीय कल्याण के लिये

हो। परम्परा के तथाकथित हित में, यह दिखाकर कि वैज्ञानिकों की खोजें कितनी अधूरी या अपूर्ण हैं, विज्ञान का मूल्य कम करने के प्रयास का तथाकथित परम्परा पर ही उल्टा प्रभाव पड़ेगा। यदि वैज्ञानिक सिद्धान्तों के समर्थन के लिये उपलब्ध प्रमाण अपूर्ण हैं, तो तथाकथित परम्परा के पास तो कोई प्रमाण ही नहीं। जैसे वैज्ञानिक सिद्धान्तों पर आश्रित सभी वैज्ञानिक खोजों को बौद्ध जन निस्संकोच अपने उपयोग में लाते हैं, उसी तरह से उन्हें उन वैज्ञानिक परिणामों को भी निस्संकोच स्वीकार करना चाहिये जो सत्य प्रतीत होते हों और इस प्रकार वैज्ञानिक सत्य को और बुद्धत्व लाभ को परस्पर एक दूसरे के नजदीक लाने का प्रयास करना चाहिये।

प्राय: यह दावा किया जाता है कि आधुनिक जगत की जो वैज्ञानिक चेतना है, उस के लिये वह ईसाईयत का ऋणी है। इस दावे के मूल में बड़े सम्मानित लेखकों की यह प्रवृत्ति काम कर रही है कि ईसाई जातियों में कोई भी अच्छी बात दिखाई दे, उस का श्रेय ईसाईयत को देना। क्या उस की अपेक्षा यह कहना अधिक सत्य न होगा कि आधुनिक वैज्ञानिक चेतना उस मानसिक रहजान के पुनर्जागरण का परिणाम है जिसे ईसाइयत के साधु सम्प्रदाय ने सुदीर्घ काल तक दबा कर रखा और जिसका वह गला घोंटता रहा।

खास खास शीलों के बारे में जो थोड़े विस्तार से विचार किया गया है उस से सभी की दिलचस्पी के कुछ प्रश्नों पर विचार करना अनिवार्य हो गया है। बौद्ध धर्म एक व्यक्ति–मूलक धर्म है, अर्थात् ऐसा धर्म जिस पर उस के महान संस्थापक की अमिट छाप है और इसलिये इस का सम्बन्ध परिष्कृत चिन्तन–परम्परा से है। कोई भी धर्म या नैतिक–क्रम किसी एक ही दिमाग की उपज नहीं होता। किसी भी धर्म का संस्थापक अपने समय की मान्यताओं में परिवर्तन ला सकता है, उस की आलोचना कर सकता है, उन्हें अस्वीकार भी कर सकता है, किन्तु उन की उपेक्षा नहीं कर सकता। यदि किसी धर्म की जड़ें उस के ऐतिहासिक अतीत में नहीं गड़ी हुई हैं, तो उस धर्म को न कोई भूमि मिलेगी और न कोई खाद। यहां वहां सूत्रों में हमें ऐसे संकेत मिलते हैं जिन से मालूम होता है कि भगवान बुद्ध जो छिपा था, उसे प्रकट कर रहे हैं और उस की उच्च स्तरीय व्याख्या कर रहे हैं। इसलिये हम बड़ी आसानी से इस मत को अंगीकार कर सकते हैं कि बौद्ध धर्म की जड़ें भारत के भूतकाल में बड़ी गहराई तक गई हुई हैं। और कि बौद्ध धर्म भारत की चिन्तन–सम्पदा में जो कुछ भी सर्वश्रेष्ठ है उस का प्रतिनिधित्व करता है। लेकिन इस बात में मतभेद हो सकता है कि क्या बौद्धों ने ब्राह्मणों से अपनी चिन्तन–सम्पदा प्राप्त की है? अथवा आपस्तम्भ–बौद्धायन और गौतम से जो धर्म–सूत्र सम्बन्धित हैं और जो तथाकथित प्राचीनतर उपनिषद हैं भगवान बुद्ध के बाद में लिखे गये हैं? हमारे लिये कुछ भी कह सकना कठिन है। हमारे

पास इस का भी कोई प्रमाण नहीं हैं कि यदि उन की रचना बुद्ध-पूर्व भी हुई हो, तो भी क्या भगवान बुद्ध उन से परिचित थे ? डा. जी. थीबाउत का कहना है, ' जहां तक मै जानता हूं, हमारे पास इसका कोई प्रमाण नहीं है कि हम यह सिद्ध कर सकें कि जिस प्रकार के विचार छान्दोग्य उपनिषद, बृहदारण्यक उपनिषद सदृश उपनिषदों में उपलब्ध हैं, भगवान बुद्ध उन से पूर्व परिचित थे । और फिर मैं यह भी नहीं समझ सकता कि जो विचारसरणी प्रमुख रूप से अब्राह्मणवादी थी, उसे ब्राह्मणवाद का ऋणी बनाने पर क्यों जोर दिया जाय ? हो सकता है कि जितने हम जानते मानते हैं, उन की अपेक्षा भी प्राचीन भारत में स्वतन्त्र चिन्तन मनन के अधिक केन्द्र रहे हों और वह इस या उस परम्परा के ऋणी होने की बात एक मनगढ़न्त मान्यता मात्र हो ।'

बौद्ध धर्म की शील सम्बन्धी शिक्षाओं और ब्राह्मणों के नैतिक नियमों में एक कमाल का अन्तर हैं। इस में कोई सन्देह नहीं कि पहले के तथा बाद के भी ब्राह्मणों के धर्म-ग्रन्थों में भी वीरता, वफादारी, आतिथ्य जैसे गुणों को बढावा दिया गया है और चोरी, झूठ बोलने तथा दूसरों को हानि पहुंचाने को निषिद्ध ठहराया है और कुछ हालतों में आत्म-संयम रखने के लिये भी कहा है । ' लेकिन यदि इन नियमों की तुलना की जाये,' प्रो. ई. डब्ल्यु हार्पकिंस का कथन है, ' तो हम देखेंगे कि इन में से अधिकांश नियम आदिवासियों के नीतिशास्त्र के अन्तर्गत भी समाविष्ट हैं। इसलिये हमारा कथन है कि हिन्दुओं के नैतिक नियमों का संग्रह समग्र रूप से पुरावशेष हैं और जंगली हैं । यदि धार्मिक अतिशयता और भ्रष्टाचरण को न गिना जाय तो वह आधुनिक नीति शास्त्र की नाममात्र की ही बराबरी कर सकता है । वास्तव में यह पुरातन जंगली नीति-विधान आज की शील-सम्पत्ति के अनुरूप नहीं है । और इस का कारण यही है कि दोनों आदर्शों में भिन्नता है । नैतिकता की जो पुरानी और जंगली कल्पना थी उस में नीति-संग्रह के अनुसार जीना ही आदर्श था । यह स्पष्ट रूप से किसी आदमी की बड़ी प्रशंसा थी, यदि उस के बारे में कहा जाता था कि वह झूठ नहीं बोलता था, चोरी नहीं करता था और कि वह आतिथ्य-परायण था । लेकिन वर्तमान युग में भले ही ये बातें नीति-शास्त्र के अन्तर्गत पड़ी रहें, ये आदर्श गुण नहीं माने जाते । नहीं, इतना ही नहीं, वे केवल शील के माने हुए आधार हैं और ये बातें इतनी अधिक मात्रा में मान्यता प्राप्त हैं कि किसी आदमी के बारे में यह कहना कि यह आदमी झूठ नहीं बोलता, या यह आदमी चोरी नहीं करता उस की कुछ बहुत प्रशंसा करना नहीं है, बल्कि उस का अपमान करने जैसा ही हैं । क्यों कि जब हम उस के बारे में कहते हैं कि वह केवल बच्चों के गुणों का धनी है और किसी भी तरह से यह उस की कोई खास स्तुति नहीं मानी जा सकती क्यों कि यह समझा जाता है कि अब वह बालिग माना गया है और अब वह उस उन्नत अवस्था तक पहुंच गया है जब उस के लिये चोरी न करना या झूठ न बोलना कोई खास गुण नहीं रह गये हैं।

हैं। अब वह उच्चतर आदर्शवाद का जीवन जीने का प्रयास करता हैं, जिस में न्याय–प्रियता, उदाराशयता और परोपकार वृत्ति आदिवासियों के शारीरिक इमानदारी, सत्य भाषिता तथा आतिथ्य का स्थान ग्रहण कर लेते हैं। ये ही वे गुण हैं जो न तो आदिवासियों के नैतिक जीवन का आवश्यक अंश माने जाते रहे हैं और न ब्राह्मणों के। ये गुण आदिवासियों में पाये ही नहीं जाते। इसलिये उन्हें एक ओर छोड़ा जा सकता है। भारत में जिस समय प्राचीनतर नीति–शास्त्र की रचना हुई। उदाराशयता का पदार्पण उपनिषदों के समय में होता है, लेकिन यह भी मात्र सीमित स्वातंत्र्य है। जहाँ तक परोपकार–वृत्ति का सम्बन्ध है, ब्राह्मणवाद इस से सर्वथा अपरिचित हैं। लेकिन बौद्धों में यह गुण विद्यमान हैं और विद्यमान हैं इस के साथ उदाराशयता तथा न्याय–प्रियता भी। इसलिये यह स्वीकार करना ही पड़ेगा कि उच्चतर शीलसम्पदा की दृष्टि से आधुनिक शील के मुकाबले पर खड़ी की जा सकने वाली शील सम्पदा बौद्ध–धर्म के ही पास है। इतना ही नहीं बौद्ध-धर्म की परोपकारवादिता सर्वोपरि हैं।" इतना ही नहीं बौद्ध धर्म की प्रमुख विचारसरणी मैत्री है, सर्वत्र व्याप्त प्रेम।

इतना होने पर कुछ आलोचक यह कह ही सकते हैं कि बौद्ध धर्म का आदर्श नैतिक जीवन अहंकाराश्रित है, क्यों कि इस का अन्तिम आदर्श व्यक्तिगत परि-पूर्णता है। लेकिन थोड़ा सा विचार करने पर ही इस टीका का लचरपन स्पष्ट हो जाता है। प्रकृति की नजर न इन्द्रिय–भोगों पर है और न प्रसन्नता पर बल्कि परिपूर्णता पर, इस के इन्द्रिय–व्यापारों की परिपूर्ण क्रियाशीलता। आदमी को पशुओं से जो पृथक किया जाता है उस का कारण है कि उस में कुछ मानसिक तथा नैतिक शक्तियां विद्यमान हैं। और इन शक्तियों के सामंजस्यपूर्ण सम्पूर्ण विकास के द्वारा ही आदमी अपनी मानवता को साक्षात्कार कर सकता है और अपने आप को अपने मानव-सहोदरों के लिये उपयोगी बना सकता है। सच्ची नैतिकता की यह मांग है कि हम न केवल अपने आप को दूसरों के लिये समर्पित कर दें बल्कि अपने आप का आत्म–समर्पण के लिये अपनी व्यक्तिगत शक्ति को अधिक से अधिक विकसित करें। इसलिये बुद्धि का अनुगमन करते हुए आदमी के लिये सच्चा आदर्श अपनी शक्तियों को विकसित करने के प्रयास के अतिरिक्त दूसरा कुछ हो ही नहीं सकता। यदि आत्मविकास का प्रयास स्वार्थपरता है, तो यह ऐसी स्वार्थपरता है जो अनिवार्य है। एक सुस्थित, भला, सफल होनेवाला आत्म–प्रेम प्रत्येक गुण के लिये आवश्यक आधार है और यही आत्म–प्रेम दूसरों के प्रति प्रेम करने के लिये भी आवश्यक आधार है। मैटरलिंक का कथन है कि जो बुद्धि-मान आदमी सोच समझ कर आत्म–प्रयास के लिये प्रयत्नशील रहता है, उस के इस प्रयास में एक अन्धे, असहाय आदमी के दूसरों के लिये जीने की श्रद्धा प्रदर्शित करने के प्रयास की अपेक्षा अधिक सक्रिय परोपकार निहित है। इसलिये आदमी को यह शोभा देता है कि वह दूसरों के लिये

जीने की बातें करने की अपेक्षा अपने लिये ही जीये । चीनी धम्मपद का कहना है कि अपना–आप ही प्रमुख है, इस लिये आदमी के लिये यह आवश्यक है कि वह अपने आप प्रयास करे और बोधि प्राप्त कर ले । अपना भला करने के अनन्तर वह दूसरों को भी उपदेश दे सकता है । यदि वह सतत प्रयत्नशील रहेगा तो वह बोधि प्राप्त कर लेगा । जो ज्ञानी है, वह पहले अपना अनुशासन करेगा, तब समय पाकर वह दूसरों को भी अनुशासित कर सकेगा । आत्म–सुधार करने का सतत प्रयास करते हुए वह निश्चयात्मक रूप से ऊँचे से ऊँचे शिखर पर विराजमान होगा । यदि आदमी अपना ही हित नहीं साध सकता तो ऐसा आदमी किसी दूसरे का भी क्या हित साध सकता है ? अपनी आन्तरिक तथा सामाजिक योग्यता बढ़ाने का प्रयास करने का नाम 'आत्मार्थ' नहीं है, बल्कि दूसरों को ऐसा न करने देने के प्रयास का नाम स्वार्थान्धता है । बोधि की परिपूर्णता प्राप्त करने के प्रयास में परार्थ की सिद्धि होती है । 'सर्वसत्व सुखेच्छया बोधि चित्तम् समुत्पाद्य' का मतलब है कि सभी प्राणियों की हित–कामना से बोधिचित्त को उत्पन्न करके अर्थात् सभी प्राणियों का हित साधने का प्रयास करने के लिये ही वह बोधिचित्त को उत्पन्न करने का प्रयास करता है । यह बोधिचर्यावतार का कथन है । इसी प्रकार अभिधर्मकोश व्याख्या में भी कहा गया है कि बोधिसत्व दूसरों के लिये ऊँचे से ऊँचे सुख की इच्छा करता है और अपने लिये बोधि की कामना करता है ताकि उस के माध्यम से वह दूसरों का हितसाधन कर सके । हर आदमी को आत्म–सुधार का प्रयास करना चाहिये, ऐसा करने से वह अनायास दूसरों का भी हित साधता ही है । जब तक मन में करुणा न हो, अनासक्ति न हो और परोपकार की भावना न हो, आदमी बोधि–प्राप्ति कर ही नहीं सकता ।

बौद्धधर्म में प्रज्ञा के बिना यथार्थ शील का पालन नहीं हो सकता, और बिना शील पालन के यथार्थ प्रज्ञा का भी लाभ नहीं हो सकता । जैसे दीप की लौ में प्रकाश और ऊष्णता साथ साथ बंधे रहते हैं उसी प्रकार प्रज्ञा और शील की जोड़ी है । प्रो. ई. डब्ल्यु. होपकिन्स ने ठीक ही कहा है कि बौद्धधर्म में शीलपालन और प्रज्ञा–प्राप्ति में किसी भी प्रकार का अन्तर्विरोध नहीं है । हां, इसाइयत में एक को दूसरे की प्राप्ति के लिये अनिवार्य नहीं समझा जाता । ईसाइयत, जब इस की अनुमति भी देती है, तो भी अधिक से अधिक मानसिक स्वतन्त्रता पर कभी कभार ही जोर डालती है । लेकिन बौद्धधर्म आरम्भ में ही अपने धर्म को मानसिक स्वतन्त्र चिन्तन की भूमिका पर स्थापित करता है । बोधि केवल, मानसिक प्रकाश ही नहीं है, बल्कि वह है सारी मानवता के लिये करुणा–मुक्त मानसिक प्रकाश । नैतिक श्रेष्ठता की चेतना में बोधि का सार निहित है । "अपने पड़ौसी के साथ भी अपनी ही तरह प्यार करो, या अपने शत्रु को भी अपने ही समान जानो" जैसे आदेश निरर्थक निष्प्राण निर्देश बन जाते हैं, जब तक वह यह न जान ले कि अपनी पड़ौसी को भी या अपने शत्रु को भी क्यों प्रेम किया जाय ? यदि अपने

शत्रु को भी इसलिये प्रेम करना आवश्यक है कि ऐसा करने से आदमी को बोधि की प्राप्ति होगी, स्वार्थ–परता है तो किसी दूसरे का इसलिये उपकार करना कि ऐसा करने से या तो उसे स्वर्ग–प्राप्ति होगी या नरक से निजात मिलेगी, और भी अधिक बुरा है।

बौद्ध धर्म की यह शिक्षा नहीं है कि आदमी स्वभावतः बुरा है । बोधिचर्यावतार की यह देशना है कि 'अथ दोषाः ऽयम् आगन्तुकाः, सत्य प्रकृति पेषलाः' अर्थात दोष बाह्य आगन्तुक हैं, और प्राणी प्रकृति से निर्मल होते हैं । इस लिये बौद्धधर्म अपने शीलों का पालन कराने के लिये किसी बाहरी शक्ती का आश्रय ग्रहण नहीं करता। कोई भी बौद्ध शीलों को बुद्ध द्वारा दिये गये आदेशों के रूप में ग्रहण नहीं करता। जिन्हें प्रत्येक बौद्ध अपना आदर्श मानता हैं, उन्हीं से इन शीलों की उत्पत्ति होने के कारण प्रत्येक बौद्ध के लिये इन शीलों का ईसाइयत के हुकमनामों से कहीं अधिक मूल्य है। तो भी वे हुकमनामे नहीं है । क्यों कि किसी भी आदमी को यह अधिकार नहीं कि वह अपने भाइयों पर हुकमदरार्जा करता फिरे । वे एक ऐसा रास्ता मात्र हैं, जिस पर चलने से आदमी दुनिया की बुराइयों से बच सकता है। जो कोई इस दिखाये हुए मार्ग पर नहीं चलेगा, उसे फल भुगतना पड़ेगा। यद्यपि किसी भावी जीवन में न कोई पारितोषिक मिलते हैं और न दण्ड दिये जाते हैं, तो भी कार्य–कारण का नियम लागू है और वह जैसे भौतिक जगत में प्रभावी है, वैसे ही नैतिक जगत में भी उतना ही प्रभावी हैं। बौद्ध नैतिक पद्धति असन्दिग्ध तौर पर प्रतिफलों का अध्ययन है, कर्मों और उन के विपाकों या फलों का, जो कुछ भी उगता है, वह कभी न कभी कहीं न कहीं बोया ही रहता है । शेर का शिकार खेला ही जायगा और अपराधी भी दण्डित होकर ही रहेगा। जिस आदमी को भी अपने किये का फल भुगतना पड़ता है, वह किन्हीं भी दूसरे व्यक्तियों के द्वेष के कारण नहीं, बल्कि अपने ही कुकर्मों के कारण। जिस अपराधी का अपराध अप्रकट रहता है, वह भी अपने अकुशल–कर्मों के फल से बच नहीं पाता। यदि कोई चित्त–विकृति की उस अन्तिम दयनीय अवस्था को न पहुंच गया हो और यदि उस की इच्छायें, प्रेरणा और आदर्श ऐसे हों जो सामान्य आदमी को उत्साहित करते हों, तो उस के अपने कुकर्मों से उसे जो कष्ट होना है, उस से वह किसी भी प्रकार नहीं बच सकता। जैसे कि मिलिन्द प्रश्न में कहा है, "आदमी अपनी करनी को आदमियों से छिपा सकता हैं – लेकिन आदमी को अपने किये पाप–कर्म का ज्ञान तो रहता ही है। वह अपने से तो नहीं छिपा सकता। दुष्कर्म करने से आदमी पश्चाताप से भर जाता है और जिस आदमी को पश्चाताप होता है, उसका हृदय उस के लिये पाप–कर्म की जानकारी से कभी छुट पा ही नहीं सकता। उसे शान्ति नहीं होती, वह दुखी रहता है, उसे हृदय की जलन सताती है। उसे निराशा घेर लेती है । उसे कोई सान्त्वना नहीं मिलती। ऐसा लगता हैं कि उस का पापकर्म उस पर भूत की तरह सवार हो गया। कोई

पादरी विशेष पादरी हो सकता है लेकिन वह अपने कुकर्मों की कृतियों की स्मृति से मुक्ति नहीं पा सकता। बहुत संभव है कि अपराधी कुछ समय तक मौज मना लें लेकिन अन्त में पृथ्वीतल से उस का नाम निशान मिटने ही वाला है, उतने ही निश्चय के साथ जैसे इस समय सिंहों की जाति पृथ्वीतल से धीरे धीरे नामशेष होती जा रही है। यह प्रक्रिया उस अनन्त अनिवार्य कर्म-विपाक का ही परिणाम है जो कि हमें ज्ञान और शान्ति की ओर ले जाता है।

बौद्ध शील-सम्पदा सोलह आने स्वायत्त है, यह यहूदी-ईसाई या हिन्दुओं की नैतिक मर्यादाओं की तरह परतंत्र नहीं। यहूदी-ईसाई आचार पद्धति में आदमी के कार्यों का शुभाशुभ स्वरूप किसी परा प्राकृतिक अस्तित्व द्वारा दी गई आज्ञाओं के पालन या अवज्ञा पर निर्भर करता है। कहा जाता है कि उस परा-प्राकृतिक चेतना ने समय-विशेष पर और स्थान-विशेष पर अपने आप को आदमी के सन्मुख प्रकट किया था। हिन्दु-धर्म में नित्य-आत्मा को सदाचार का आधार माना गया है। लेकिन शङ्कराचार्य के भी कथन के अनुसार किसी भी नित्य आत्मा का अस्तित्व किसी भी अनुमान प्रमाण से सिद्ध नहीं हो सकता और उस के अस्तित्व केवल वेदाश्रित है, इस लिये किसी भी कर्म का शुभ-कर्म या अशुभ-कर्म माना जाना भी धर्म-ग्रन्थों के आदेशों पर ही आश्रित है। लेकिन शील का मूल श्रोत स्वयं आदमी ही होना चाहिये। नैतिक-नियमों का पालन तभी संभव है जब हम ने स्वयं उन के पालन का निश्चय किया हो। टी. एच. ग्रीन ने अपनी 'प्रोलेगोमेना टू एथिक्स' नामक पुस्तक में लिखा हैं 'नैतिक कर्तव्य का सार इसी बात में है कि आदमी ने उसे स्वयं स्वीकार किया हो, चाहे राज्य का बनाया कानून हो और चाहे गिरजे का बनाया कानून हो वह आदमी पर तभी लदता है, जब वह आदमी उसे स्वयं अंगीकार कर लेता है ताकि वह उस का पालन कर एक सम्पूर्ण मनुष्य के आदर्श की ओर अग्रसर हो सके।' तो भी वेदान्त की ओर से यह कहा जाता है कि ब्रह्म या सर्वव्यापक परमात्मा और व्यक्तिगत आत्मा में जो अभेद है, वह नैतिकता का अपेक्षित आधार बन सकता है। अविद्या-रहित मनुष्य के लिये सभी भेद अन्तर्धान हो जाते हैं और सभी कुछ तत्त्वमसि, तू ब्रह्म है, हो जाता है। यह बात एक खोटी मान्यता है। क्योंकि नैतिक मान्यताओं का सम्बन्ध उसी जगत् से है, जिस में भेद व्याप्त हैं। और जब तक आदमी संसार में रहता है तब तक आत्मा और परमात्मा के अभेद का साक्षात्कार नहीं कर सकता। फिर जिस जीवन्मुक्त ने आत्मा-परमात्मा के अभेद को जान लिया हैं, वह वेदान्त के शिक्षण के अनुसार नैतिक माप-दण्डों से ऊपर उठ जाता है। शङ्कराचार्य के पट्ट-शिष्य आनन्द गिरि का कहना है कि जो जीवन्मुक्त हो गया है, वह अपने शेष जीवन में कुछ भी पाप पुण्य करता रह सकता है। वह किसी भी कर्म से मलिन नहीं होता। आनन्द-गिरि के विचार के समर्थन में धर्म-ग्रन्थों के ऐसे उद्धरण उद्धृत किये जा सकते हैं जैसे कि 'जिस ने सत्य को जान लिया उस पर न शुक्ल-

कर्मों का प्रभाव पड़ता है और न अकुशल-कर्मों का।' 'यदि उस ने सभी वस्तुओं को एक ही जान-मान लिया, तो चाहे वह यज्ञ में वध करने के लिये सौ घोड़े ले आये, या सैंकड़ों पवित्र ब्राह्मणों की ही हत्या कर डाले, कोई अन्तर नहीं पड़ता।' 'जिस के बारे में कोई भी यह नहीं जानता कि वह श्रेष्ठ है या दुष्ट है, पण्डित है या मूर्ख है, सदाचारी है या दुराचारी है, वह ब्राह्मण है । अपने कर्तव्य के पालन के बिना हो-हल्ला किये लगे रहकर, आदमी को इस पृथ्वी पर ऐसे अज्ञात व्यक्ति की तरह विचरना चाहिये जैसे कि वह अन्धा हो, अचेतन हो या बहरा हो।' वेदान्त दर्शन की जो सर्वेश्वरवादी मान्यतायें हैं, उक्त विचार उन के तर्कसंगत परिणाम है। जो कुछ भी इस विश्व में है जब सभी कुछ विश्वात्मा का साकार रूप मात्र है तो कोई भी कर्म अपवित्र या अनैतिक हो ही कैसे सकता है ? यही सब कहकर अघोरपंथी अपनी जिगुप्सा पैदा करने वाली जीवन-चर्या का समर्थन करता है। इस में तनिक भी आश्चर्य करने की बात नहीं, जब हम देखें कि वेदान्त का जो ज्ञानी पुरुष है, उस की उपमा या तो किसी छोटे बच्चे से दी जाती है, या बुद्धि हीन पुरुष से या किसी प्रेतात्मा द्वारा ग्रसित पुरुष से।

यदि नित्य आत्मा हो भी, तो भी उस का नैतिक मान्यताओं से कोई सम्बन्ध नहीं हो सकता। क्यों कि वह नित्य आध्यात्मिक तत्व है, इसी लिये वह कालातीत है। लेकिन जितने भी नैतिक प्रश्न है उन सब का सम्बध दुनियावी इच्छाओं और आकांक्षाओं से है, जिन सब का सम्बन्ध समय से है । जो आत्म-स्वरूप नित्य आत्मा है वह किसी भी शुभ-कर्म या अशुभ-कर्म से प्रभावित ही कैसे हो सकता है। क्या यह जीवन के सभी उतारों तथा चढ़ावों से प्रभावित होकर भी नित्य कूटस्थ आत्मा बना रह सकता है ? इस प्रकार का 'आत्मा' नैतिक जीवन को कैसे प्रभावित कर सकता है ? हो सकता है कि यही कहा जाय कि नित्य आत्मा के साक्षात्कार का ही दूसरा नाम नैतिक-जीवन है। लेकिन यदि कोई नित्य आत्मा पहले से विद्यमान ही है, तो इस साक्षात् करने का अर्थ ही क्या है ? हो सकता है, जैसा हम सोच सकते हैं, कि वह अपने सदाचार प्रधान जीवन में भी नित्य आत्मा का साक्षात्कार कर रहा हो और अपने दुराचारी जीवन में भी, अपने अप्रमादी जीवन में भी और अपने प्रमादी जीवन में भी। अपना आप हो जाओ, या अपने आप को जानो, यह किसी ऐसे आदमी के लिये जिस ने संपूर्ण मनुष्यत्व की पहले से कल्पना कर रखी है, एक नैतिक उपदेश हो सकता है, अन्यथा यह सर्वथा निरर्थक है।

इस बात को प्रमाणित करने के लिये कि परा-प्राकृतिक अस्तित्वों को नैतिक मान्यताओं से कुछ लेना-देना नहीं है कुछ बहुत तर्क-वितर्क करने की आवश्यकता नहीं है । परा-प्राकृतिक अस्तित्व आदमियों की कल्पना के मानस-पुत्र हैं और उन्हें ऐसे ही गुणों से समन्वित किया जा सकता है, जिन से आदमी मुक्त हैं। जिसे

आदमी ने देखा है जब तक उसे ही उस ने आदर–बुद्धि से देखना और प्रेम करना नहीं सीखा है, तब तक वह जिसे उसने देखा ही नहीं, उसे आदर–बुद्धि से देखना और उसे प्रेम करना कैसे सीख सकता है ? आदमी अदृश्य पुलिस के डर से नैतिक जीवन व्यतीत नहीं करता। क्या आदमी अपने माता–पिता, स्त्री और बच्चों से इस लिये प्रेम करता है कि यदि वह वैसा न करे तो उसे दण्ड मिलेगा ? क्या यह इतिहास से प्रमाणित नहीं होता कि समाज में व्याप्त बड़ी से बड़ी दुष्टता और अन्याय–प्रियता का ईश्वर से भयभीत होने और नरक में विश्वास रखने से बड़े मजे में मेल बैठता है। हमें पोप के रोम को नहीं भूलना चाहिये। हमें इस अनुश्रुति को भी याद रखना चाहिये कि श्रीरङ्गम का प्रसिद्ध वैष्णव मन्दिर नेगपटम के बौद्ध विहार की स्वर्ण–प्रतिमा को लूट लाने से बना है। दूसरे बहुत से ऐसे लोग हैं, जो अपने देवताओं को ऐसे ऐसे पापों का कर्ता मानते हैं जैसे पापों के करने की बात वे स्वयं सोच भी नहीं सकते। जब शुक ने राजा परीक्षित को भागवत पुराण सुनाया, तो राजा परीक्षित ने जब कृष्ण की लम्पटता का ब्योरा सुना तो उसे आश्चर्य हुआ कि जिसका औतार ही 'धर्म संस्थापनार्थाय' हुआ और जो धर्म–संग्रह का उपदेष्टा, रचयिता तथा मार्ग–दर्शक रहा, वह ऐसे दुश्चरित्र का धनी कैसे हो सकता है ? इस अत्यन्त समुचित प्रश्न का जो उत्तर दिया गया है, "पुरुषोत्तम पुरुषों के ऐसे वैसे कृत्य उन के दोष नहीं माने जाने जाहिये .....पुरुषोत्तम के अतिरिक्त किसी दूसरे को ऐसे कुकर्मों की नकल करने का कभी विचार भी नहीं करना चाहिये। .....महापुरुष का वचन सत्य होता है और कभी कभी उन का आचरण ...बुद्धिमान आदमी को उन के सदाचरण का अनुकरण करना चाहिये। क्योंकि मुनि निरङ्कुश होते हैं और जो मन में आता है, करते हैं, तो जो अध्यात्म पुरुष है उसे किस तरह काबू में रखा जा सकता है, विशेष रूप से जब उस ने स्वेच्छा से औतार धारण किया हो।" इसलिये परा–प्राकृतिक पुरुष इस बात के लिये स्वतन्त्र हैं कि वे अपने आप को उन नैतिक–नियमों का पालन करने से स्वतंत्र मानें जिन का पालन सर्व सामान्य जनों को करना ही पड़ता है। तो हमें यह क्यों मानना चाहिये कि शुभ–कर्मों तथा अशुभ–कर्मों में भेद करने के लिये किन्हीं परा–प्राकृतिक अस्तित्वों में विश्वास करना जरूरी है।

भविष्य में पारितोषिक की आशा और भविष्य में ही सजा का भय (स्वर्ग–नरक) आदमी की चर्य्या को प्रभावित कर सकते हैं, लेकिन यह प्रभाव नैतिक प्रभाव नहीं होता। इमॅनुअल कैण्ट ने कहा है कि "क्या ऐसे आदमी को हम ईमानदार कह सकते हैं, शीलवान् कह सकते हैं, जिसे यदि मिलने वाले दण्ड का भय न हो तो वह प्रसन्नता पूर्वक दुश्शीलता को अपना सकता हो। क्या उस के बारे में यही सोचना ठीक न होगा कि वह दुष्कर्म से तो दूर दूर रहता है, लेकिन अपने मन में दुश्शीलता को ही जगह दिये रहता है। वह 'शील' माने जाने वाले आचरण का प्रशंसक है, लेकिन वह 'शील' से घृणा करता है।" भावी जीवन की आशा

भी नैतिक जीवन का सहारा नहीं बन सकती । अपनी 'एवोल्युशन आफ रीलिजन' पुस्तक में प्रो. केअर्ड ने लिखा है कि अमृतत्व की आशा एक अस्वास्थ्यकर धन्धा बनाई जा सकती है। इस से हम यहीं और समस्त मानवता का दुःख दूर करने की चिन्ता की ओर से उदासीन हो जा सकते हैं .... यदि भावी जीवन के सम्बन्ध में दुनियावी प्रमाणों की कमी से हम में से कुछ भावी जीवन की ओर से उदासीन भी हो जायें ... धार्मिक दृष्टि से यह घाटे की ही बात नहीं है । परा-प्राकृतिक की हानि अध्यात्म का लाभ सिद्ध हो सकती है ।

बौद्ध धर्म नैतिक जीवन के इन दुर्बल आधारों की अपेक्षा नहीं रखता । यह केवळ व्यक्ति की चेतना को ही नैतिकता का आधार मानता है । यह आदमी की स्वाभाविक आवश्यकताओं की ओर ध्यान देता है। आदमी इस जीवन की चिन्ताओं और दुःखों से मुक्त होना चाहता है । वह अनन्त सुख की आकांक्षा रखता है । उसे इस की प्राप्ति कैसे हो सकती है? सब से पहली बात यह कि जैसा बोधिचर्यावतार में सिद्ध किया गया है, पुण्य शारीरिक सुख प्रदान करता है । यदि आदमी दूसरों के प्रति कृपालु होता है और दूसरों के काम आता रहता है, तो दूसरे भी उसे अकारण कष्ट नहीं देते । कोई भी आदमी बिना दूसरों की सहायता से अपनी सभी इच्छाओं की पूर्ति कर ही नहीं सकता । इसलिये यदि वह दूसरों की सहायता चाहता है तो उसे उन लोगों के प्रति दया और सहानुभूति रखनी ही होगी । क्यों कि वे भी सुखी जीवन व्यतीत करना चाहते हैं, इसलिये उसे प्रयास करना चाहिये कि दूसरे भी अपनी चिन्ताओं और दुःखों से मुक्त हों । एक आदमी का दुःख किसी दूसरे को कैसे दुःखी बना सकता है ? ठीक वैसे ही जैसे एक आदमी के पाँव में होनेवाली पीडा उस के हाथों को भी कष्ट पहुंचाती है । यद्यपि शरीर के कई अंग होते हैं तो भी हम सारे शरीर को एक मानते हैं और इसी दृष्टि से उस का संरक्षण करते हैं। इसी लिये यद्यपि संसार में नाना प्राणी हैं, तो भी उन्हें एक ही मानना चाहिये, क्यों कि सभी तो दुःख से मुक्ति और सुख की प्राप्ति के प्रयास में संलग्न हैं। एक आदमी का शरीर दूसरों के रज और वीर्य के सम्मिश्रण का परिणाम है, लेकिन अभ्यास वश आदमी अपने शरीर को अपना शरीर कहता है । यदि जो दूसरों के संसर्ग से उत्पन्न हुआ है उसे हम अपना-आप कह सकते हैं, तो फिर दूसरों के शरीर को भी अपना शरीर मान बैठने में कौनसी कठिनाई हो सकती हैं? आदमी हमेशा वही बना रहता है, यह सत्य नहीं है, लेकिन तो भी आदमी अपने बारे में कल्पना करता है कि वह वही है । क्या दूसरे के साथ अपने आप को एक ही मान बैठना उतना कठिन है । यदि कहीं कोई आत्मा नही है, तो सभी समान रूप से शून्य है । तब क्या सभी प्राणियों का सामान्य एकत्व अनायास सुस्पष्ट नहीं होता ? यही तरीका है बौद्धों के तर्क करने का । सामान्य बौद्ध के लिये कर्म का सिद्धान्त नैतिक जीवन का मूल प्रेरणा स्रोत माना जा सकता है। लेकिन जो विज्ञ-जन हैं उन के लिये नैरात्म्य का अन्दरूनी बोध उन के नैतिक जीवन का मुख्य

आधार हो सकता है। सभी प्राणियों की शून्यता का साक्षात्कार, परिणाम स्वरूप सभी प्राणियों की परस्पर की समता की अनुभूति । यह वही बोध है जो मैत्री, करुणा, मुदिता का मूल स्रोत है, जो सभी शुभ–कर्मों के मूलाधार हैं।

गहरी अन्तर्दृष्टि से आज से दो हजार वर्ष पहले तथागत ने ऐसे सत्यों का ज्ञान प्राप्त किया, जिन की देशना आधुनिक युग का विज्ञान करता है । विज्ञान का कहना है कि आदमी मानवता रूपी संस्थान में एक लघुतम कोशिका है । शेष संस्थान से पृथक एक व्यक्ति के तौर पर उसका कुछ भी मूल्य नहीं है । दूसरे प्राणियों को रहने दें तो व्यक्ति के लिये जन्म ग्रहण करना या उत्पन्न होना ही संभव नहीं । अपनी सभी छिपी शक्तियों के लिये वह अपने पूर्वजों की शक्तियों का ऋणी है जो उस की आखों में से झांक रहे हैं और उसके कानों में से सुन रहे हैं । उस की प्राकृतिक शक्तियों और उस की स्वाभाविक सामर्थ्य भी समाज के दूसरे मानवों के सहयोग से ही उपयोगी दिशा में कार्यरत हो सकती हैं। मानवता की प्राणदायिनी शक्तियों ने न केवल आदमी को जन्म दिया है, बल्कि वे जीवन पर्यन्त उसका पालन–पोषण करती हैं । मानवता के उत्थान के साथ आदमी की उन्नति होती है और पतन के साथ उसका पतन होता है । मानवता के जीवन में एक नगण्य कथानक सा कोई भी प्राणी सदाकालिक जीवन की बात सोच नहीं सकता। लेकिन जिस प्रकार बीती हुई पीढ़ियों ने उसे सुखी बनाने में हिस्सा लिया है, उसी प्रकार वह भी भावी पीढ़ियों के जीवन को सुखी बनाने में हिस्सा ले सकता है । यदि व्यक्ति की आकांक्षा हो कि वह हमेशा बना रहे तो वह समष्टि के जीवन में जीवित रह कर और समष्टि के लिए ही जीवित रह कर ऐसा कर सकता है। इस लिये जो कुछ सारी मानवता के लिये श्रेयस्कर है, जिस से सारी मानवता के लिये श्रेष्ठतर परिस्थिति उत्पन्न होती है, वही व्यक्ति के लिये भी कल्याणकर है । जो मानवता के जीवन के लिये खतरा है या उसे ह्रासोन्मुख बनाता है, वह व्यक्ति के लिये भी बुरा ही है । उन्नत मानवता उसका स्वर्ग है, अवनत मानवता उस का नरक। मानव जीवन को संरक्षण प्रदान करना और उस का मूल्य बढ़ाने का प्रयास करना शुभ–कर्म है, पुण्य है और मानवता को पतनोन्मुख बनाना और उसे गड्ढे की ओर ले जाना अशुभ–कर्म है, पाप है।

यदि आदमी चाहता है कि उसे दुःख से शीघ्र मुक्ति मिल जाय, तो उसे अनिवार्य तौर पर सत्पथ पर अनुगमन करना ही होगा । यहां उद्देश्य व्यक्ति का अपना स्वार्थ है सही, तो भी यह प्रयास घड़ी की सूई की तरह ठीक ठीक परिणामकारक होता है । यदि आदमी को स्पष्ट तौर पर इस की अनुभूति हो जाय कि उसका हित दूसरों के हित के साथ जुड़ा हुआ है, तो वह अनिवार्य तौर पर दूसरे किसी को भी हानि पहुंचाने से कतरायेगा । दूसरे का हित साधने के लिये कभी कभी वह आत्मार्थ की भी उपेक्षा कर देगा यदि उसे यह विश्वास हो जाय कि उस का

आत्म-त्याग उसे ही लाभ पहुंचाने वाला होगा। एक आदमी अपने शत्रु से भी घृणा नहीं करेगा यदि उस की समझ में यह बात आ जाय कि शत्रु से प्रेम करने से वह बोधि (=ज्ञाना) की ओर अग्रसर होगा । कोई भी आदमी दूसरों से इस लिये प्रेम नहीं करता कि वह उन्हें चाहता है । दूसरी ओर वह दूसरों को इसी लिये चाहता है कि ऐसा करना उसे अच्छा लगता है । बृहदारण्यक उपनिषद् में याज्ञ-वल्क्य ने अपनी भार्य्या को ठीक ही कहा था, "मैत्री ! पति के प्रेम के लिये पति से प्रेम नहीं किया जाता, अपने लिये ही पति से प्रेम किया जाता है । पत्नी के लिये पत्नी से प्रेम नहीं किया जाता, अपने लिये ही पत्नी से प्रेम किया जाता है। बच्चों के लिये बच्चों से प्रेम नहीं किया जाता, अपने लिये ही बच्चों से प्रेम किया जाता है। धन के लिये धन से प्रेम नहीं किया जाता, अपने लिये ही किया जाता है । ब्राह्मणों के संघ के लिये ब्राह्मणों के संघ से प्रेम नहीं किया जाता, अपने लिये ही किया जाता है। क्षत्रियों के संघ के लिये क्षत्रियों के संघ से प्रेम नहीं किया जाता, अपने लिये ही किया जाता है। राज्यों के लिए राज्यों से प्रेम नहीं किया जाता, राज्यों से प्रेम किया जाता है अपने लिये । देवताओं के लिये देव-ताओं से प्रेम नहीं किया जाता, देवताओं से प्रेम किया जाता है अपने लिये। जीवित रहने के लिये जीवित रहने से प्रेम नहीं किया जाता, जीवित रहने से प्रेम किया जाता है अपने लिये । किसी से भी प्रेम करने के लिये प्रेम नहीं किया जाता, प्रेम किया जाता है अपने लिये।" राजा प्रसेनजित ने एक बार अपनी रानी मल्लिका से पूछा, "क्या तुम ने कभी अपने से अधिक भी किसी को प्यार किया है या नहीं ?" उस ने आश्चर्य जनक सरलता से उत्तर दिया, "महाराज, सचमुच मैं ने अपने से अधिक किसी को प्यार नहीं किया।" बिना किसी हिचकिचाहट के प्रसेनजित् नरेश ने भी अपने बारे में यही बात कही। उन दोनों ने अपनी बातचीत की जानकारी तथागत को दी । तथागत का अनुमोदन था, –

'मैं सभी जगह विचरा हूँ किन्तु मैं ने कभी कोई भी ऐसा नहीं पाया है जो किसी दूसरे को अपने-आप से अधिक चाहता हो।

बौद्धधर्म में यह ठीक ही है कि नैतिकता का आधार व्यक्तिवाद है और परो-पकार व्यक्तिवाद का ही व्यवहारिक रूपान्तर है । अपने अपने को प्रेम करने के आधार से बढ़कर अपने पड़ौसी को प्रेम करने के लिये इस से बड़ा दूसरा आधार खोजा ही नहीं जा सकता। ह्यूम ने भी जैसे कहा ही है –'आत्मार्थ और सामा-जिक भावनाओं तथा प्रवृत्तियों में ऊपरी दृष्टि से देखने से जो भी विरोध मालूम देता हो, लेकिन उस में कोई इस से अधिक विरुद्धत्व नहीं है, जितना आत्मार्थी और महत्वाकांक्षी या आत्मार्थी और बदला लेने वाला या आत्मार्थी और बेकार। यह आवश्यक है कि किसी न किसी प्रकार का कोई न कोई एक ऐसा मौलिक गुण

होना चाहिये जो कि आत्मार्थ का आधार हो सके, जो अपनी आकांक्षाओं की पूर्ति को सरसता प्रदान कर सके। इस के लिये मानवता या करुणा से बढ़कर कोई दूसरा तत्व नहीं। हम अपनी इस या उस इच्छा की पूर्ति के लिये अपना द्रव्य खर्च करते हैं। जो कंजूस आदमी अपनी वार्षिक आय का संग्रह करता है और बाद में किसी को सूद पर कर्ज दे देता है, वह अपनी धनलोलुप्ता की इच्छा की ही संतुष्टि करता है। यह प्रतिपादन करना आसान नहीं कि जो आदमी किसी भी उदारता के कर्म पर धन खर्च करता है, वह उस आदमी की अपेक्षा घाटे में रहता है, जो किसी भी दूसरी मद्द पर खर्च करता है, क्योंकि कितना ही बड़ा आत्मार्थ हो, उसे लेकर आदमी कितना ही खर्च करे वह अपनी किसी न किसी आसक्ति की भावना की तुष्टि के लिये ही करता है।' इस लिये यह कहने की अपेक्षा कि ऐसा आदमी मिलना कठिन है जो अपनी अपेक्षा किसी दूसरे पर भी अधिक स्नेह करता हो, हमें यह कहना चाहिये कि ऐसा आदमी भी मिलना कठिन है जिस की परोपकारी भावनाओं का जोड़ उसी की आत्मार्थी भावनाओं के जोड़ से कम हो। परोपकारी भावनाओं का जोड़ कुछ इक्कीस ही होगा।

धन का संग्रह या इन्द्रियों का संतोष ही आदमी के जीवन का उद्देश नहीं हो सकता। लेकिन जैसा धर्म का आदेश है आदमी के जीवन का उद्देश सम्पूर्णता की प्राप्ति ही हो सकता है, सौन्दर्य की सम्पूर्णता, प्रज्ञा की पारमिता, कुशल की परि-पूर्णता और सम्पूर्ण स्वतन्त्रता। क्या मनुष्यता की भावी परिपूर्णता के प्रति यह श्रद्धा आदमी को उत्साह से भर सकती है? हां, इस ने भूतकाल में भी मानवता को ऊपर उठाने में जबर्दस्त प्रेरक शक्ति का काम किया है। और इस का कोई कारण नहीं है कि यह वर्तमान में और भविष्य में भी उतनी ही अधिक प्रेरक शक्ति क्यों न सिद्ध हों? मानवता, जैसा हम उसे इस समय पाते हैं ऐसे दयनीय प्राणियों का समूह है, जिस की अनेक जंगली आकांक्षाएं हैं और जिनकी पूर्ति की कोई आशा नहीं, जो संघर्ष करते हैं, जिनकी असफलतायें सफलताओं की अपेक्षा कहीं अधिक कटु हैं, या जो निराशा के गहरे गर्त में डूबे हुए हैं। सभी एक समान, चाहे तरुण हों, या वृद्ध हों, चाहे धनी हों, या दरिद्र हों, चाहे भले हों, या बुरे हों, सभी जीवन के विशाल पथ पर लुढ़के चले जा रहे हैं, श्मशान के अतिरिक्त और कोई गन्तव्य स्थान नहीं। ऐसी मानवता उत्साह की जनक न होकर, उस से भी अधिक दयनीय हो सकती है। लेकिन कोई भी ऐसी आदर्श मानवता जैसा कि बुद्धों का धर्म काय में ही निवास करना, आदमी में क्रियाशीलता की ओर अग्रसर करने वाले उत्साह को उत्पन्न करेगा। श्री. ह्यूम का ही कथन है कि 'चित्त की मूल प्रवृत्ति है कि वह कुशल की ओर ही झुकता है और अकुशल से बचता है, भले ही वह मानसिक क्रिया मात्र हो और भविष्य से ही सम्बन्धित हो।' इतिहास ने हमें यह दिखा दिया है कि आदमी आदर्श वस्तुओं की ओर कितने वेग से अग्रसर होता है, भले ही वर्तमान में वे अविद्यमान ही हो। इतना ही नहीं, इतिहास ने

यह भी दिखाया है कि आदमियों ने अपनी धन सम्पत्ति का, अपने रक्त का और अपने सर्वस्व तक का बलिदान किया है किन्हीं आदर्शों को साकार करने के लिये । अपने मिथ्या-विश्वासों तक में अपनी कल्पनाओं से साम्य रखने वाला अंश ही सब से अधिक प्रभावोत्पादक ठहरता है । ऐसा भी नहीं होता कि समय-विशेष पर आदर्श-विशेष सर्वथा अविद्यमान ही रहता है । हो सकता है कि मात्रा की दृष्टि से बहुत ही कम हो, तो भी आंशिक तौर पर आदर्श की पूर्ति हुई ही रहती है । आदमी में उस के जीवन की भावी सम्भावनाओं की झलक विद्यमान रहती है, उस विद्या के प्रकाश की किरण जो असभ्य आदमी के हृदय तक में ऐसी आकांक्षाओं, ऐसी कामनाओं, ऐसे प्रयासों तक को जन्म देती है, जो प्रयास उस आदर्श को साकार करने के लिये किये जाते हैं, जो बुद्धि के लिये अगोचर होता है।

▣ ▣

चौथा परिच्छेद

बौद्ध धर्म और जातिवाद

'जिस प्रकार बादल बिना किसी भेद–भाव के सर्वत्र वर्षा करते हैं, वैसे ही तथागत भी सभी पर अनुकम्पा करते हैं । ऊंच और नीच के प्रति उन की वही समान भावना रहती है, जो ज्ञानी और अज्ञानी के प्रति, जो शीलवान के लिये वही दुश्शील के लिये । उन का शिक्षण इतना पवित्र है कि वह ऊंच और नीच तथा धनी और दरिद्र में भेद नहीं करता । यह उस जल की तरह है, जो सभी को स्वच्छ करता है । यह उस अग्नि की तरह हैं जो पृथ्वी से आकाश तक छोटी–बड़ी जितनी भी चीजें हैं, सभी को आत्मसात कर लेती हैं । ये उस आकाश की तरह हैं जहां छोटे–बड़े सभी का स्वागत करने के लिये पर्य्याप्त स्थान है, स्त्री–पुरुषों के लिये, लडके लड़कियों के लिये और शक्ति सम्पन्न तथा दुर्बल लोगों के लिये भी ।' इन शब्दों के साथ शाक्यमुनि अपने अनुयाइयों पर उस मुक्ति की व्यापकता स्पष्ट करते थे, जिस का उन्हों ने आविर्भाव किया था । यह सर्व व्यापकता की बात व्यवहार में किस हद तक उतरी, यह जाति–प्रथा की हानिकारक हिन्दू–संस्था के प्रति बौद्धधर्म का क्या रुख था, इस से स्पष्ट हो जाता है ।

एक बार की घटना है। भगवान बुद्ध के ज्येष्ठ शिष्यों में से एक आनन्द स्थविर एक कुएँ के पास से गुजर रहे थे । वहां मातङ्ग जाति की एक कन्या पानी भर रही थी । आनन्द ने उस से पीने के लिये कुछ पानी मांगा । उस का उत्तर था, 'मैं एक अछूत कन्या हूं । आप मुझ से पानी मांग ही कैसे सकते हैं ?' आनन्द का उत्तर था, 'बहन, मुझे तुम्हारी जाति नहीं चाहिये । मुझे पीने के लिये पानी चाहिये ।' चण्डाल कन्या अति प्रसन्न हुई और उस ने आनन्द को पीने को पानी दे दिया । आनन्द ने उसे आशीर्वाद दिया और अपने रास्ते लगे । लड़की को जब यह पता लगा कि आनन्द भगवान बुद्ध के शिष्य थे, तो वह वहां जा पहुंची जहां भगवान् बुद्ध ठहरे हुए थे । भगवान् बुद्ध ने आनन्द के प्रति मातङ्ग कन्या की भावना समझ उसे उपदेश दे उस की आंखें खोल दीं और उसे भी भिक्षुणी बना लिया।

जब चण्डाल–कन्या की दीक्षा हो चुकी, तो राजा प्रसेनजित, श्रावस्ती के ब्राह्मण और क्षत्रिय–गण अत्यन्त क्षुब्ध हुए और वे सभी मिलकर इस की चर्चा करने के

लिये भगवान बुद्ध के पास आये। भगवान बुद्ध ने जाति-भेद की निस्सारता प्रकट की। उन्हों ने कहा – 'राख और सोने में कितना भेद है? एक चाण्डाल और एक ब्राह्मण में कौनसा भेद है। जिस प्रकार दो लकड़ियों की रगड़ से आग की उत्पत्ति होती है, न तो ब्राह्मण की उत्पत्ति उस तरह ही होती है, न वह आकाश से उतरता है, न हवा से उड़कर आता है, और न वह पृथ्वी से उभर कर आता है। जैसे चाण्डाल किसी न किसी स्त्री के गर्भ से उत्पन्न होता हैं, वैसे ही ब्राह्मण भी किसी न किसी औरत के ही गर्भ से उत्पन्न होता है। जितने भी मानव-प्राणी हैं सभी के अंग समान ही होते हैं, किन्हीं दो मानवों में थोड़ा भी भेद नहीं होता। उन्हें भिन्न भिन्न जातियों के कैसे माना जा सकता है? मानवता में किसी भी प्रकार की भिन्नताओं का स्वयं प्रकृति ही विरोध करती है।'

'ब्राह्मण' नामक पदार्थ यही खास भारतीय उपज है। पास पड़ौस के देशों में कहीं कोई 'ब्राह्मण' होता ही नहीं। उन देशों में या तो स्वामी होते हैं, या उन के गुलाम। अमीर लोग मालिक होते हैं और गरीब लोग गुलाम। अमीर आदमी गरीब हो जा सकता है, गरीब आदमी धनी। भारत में भी जब किसी क्षत्रिय, किसी वैश्य या किसी शूद्र के पास भी पैसा हो जाता है, तो ब्राह्मण जाति के लोग उस की सेवा करने लग जाते हैं। वे उस की आज्ञाओं की प्रतीक्षा करने लगते हैं और उसे सन्तुष्ट रखने के लिये मधुर वचन ही बोलते हैं। उस की आज्ञाओं का पालन करने के लिये वे उस के जागने से पहले जाग जाते हैं और उस के सोने से पहले सोते नहीं हैं। तो फिर चारों वर्णों में किसी भी प्रकार का भेद रहा ही कहाँ? ब्राह्मणों का यह कथन कि अकेले वे ही उच्चवर्णीय हैं, दूसरे नहीं, एक निरर्थक कथन मात्र है।

यदि कोई ब्राह्मण 'पाप' करता है तो उसे हर दूसरे आदमी की तरह फल भोगना पड़ता है। यदि ब्राह्मण मोक्ष चाहता है तो भी उसे हर दूसरे आदमी की तरह पाप करने से विरत रहना होगा। क्या जो संसार का नैतिक सविधान है, वह भी आदमियों में जो ऊंच-नीच के भेद हैं, उन्हें मिथ्या सिद्ध नहीं करता? और क्या स्थानीय योग्यतायें और प्रज्ञायें सर्वत्र एक ही समान नहीं हैं? क्या जिस शूद्र से उस की 'जाति' के कारण घृणा की जाती है, कुशल-विचार और कुशल-कार्य करने की सामर्थ्य नहीं रखता? यदि स्नान करने से कोई ब्राह्मण शूद्र-साफ हो सकता है तो क्या कोई दूसरा भी स्नान करने से शूद्र-साफ नहीं हो सकता? यदि जल का किसी ब्राह्मण के प्रति कोई खास पक्षपात नहीं तो क्या अग्नि ही किसी जाति-विशेष के प्रति पक्षपाती होने का परिचय देती है? क्या उच्चस्तरीय ब्राह्मणों द्वारा कीमती लकड़ी से पैदा की गई अग्नि आग का काम देती है और निम्मस्तरीय जातियों द्वारा सस्ती लकड़ी से उत्पन्न की गई अग्नि आग का काम नहीं देती? जब जब भिन्न भिन्न जातियों के स्त्री-पुरुषों में संभोग की क्रिया उत्पन्न होती है,

तो क्या उन से मानवीय सन्तान ही उत्पन्न नहीं होती ? क्या घोड़ी और गधे के संसर्ग से उत्पन्न होने वाली खच्चरों की तरह से उन के संसर्ग से कोई दूसरी जाति जन्म ग्रहण करती है ? तो यह मानने का क्या आधार है कि मानवों में भिन्न भिन्न जातियां उपलब्ध हैं ? दूसरी ओर विवेकशील ब्राह्मण भी यह स्वीकार करते हैं कि व्यक्ति का शील ही आदमी को प्रतिष्ठा प्रदान करता है । क्यों कि दान देते समय भी, भले ही वह किन्हीं विशेष लक्षणों से युक्त न भी हो, भले ही उस का 'उपनयन' भी न हुआ हो, लोग शीलवान को ही दान का सुयोग्य पात्र समझते हैं । इस से यह स्पष्ट होता है कि किसी भी व्यक्ति के सदाचरण या दुराचरण की तो प्रामाणिक जानकारी प्राप्त की जा सकती है, किन्तु किसी के भी जन्म या वंश परम्परा के बारे में कुछ भी विश्वसनीय रूप से नहीं कहा जा सकता ।

पौदों में, कीड़ों में, चार पैर वालों में, सांपों में, मछलियों में और पक्षियों में एक एक योनि की पहचान कराने वाले बहुतेरे चिह्न हैं । लेकिन आदमियों में यह बात नहीं । न तो बाल, न खोपड़ी की बनावट, न चमड़ी का रंग, न मुंह और न शरीर का कोई दूसरा अंग ही एक आदमी से दूसरे को पृथक करनेवाले किसी चिह्न-विशेष का प्रदर्शन करते हैं । जन्म और वंशानुगत परम्परा के हिसाब से सभी मानव एक ही हैं । उन में देशों की भिन्नता के कारण ही विभेद पैदा हो जाते हैं। कुछ किसान कहलाते हैं, कुछ शिल्पी कहलाते हैं, कुछ व्यापारी, कुछ राजा, कुछ डाकू, और कुछ पुरोहित, इसी प्रकार । एक ओर उसी एक जाति में भिन्न भिन्न लोग भिन्न भिन्न धन्धे करते हैं । क्या ब्राह्मणों में ही कुछ लोग चिकित्सक नहीं हैं, कुछ लोग मृतक शकुन विचारक नहीं हैं, कुछ लोग संगीतज्ञ, व्योपारी नहीं हैं ? कुछ लोग पशुओं, मुर्गियों और गुलामों के मालिक नहीं हैं ? कुछ लोग अपनी लड़की को शादी के समय बहुत सा धन देने वाले धनी वर्ग के और लड़के की शादी के समय बहुत सा धन प्राप्त करने वाले धनी-वर्ग के नहीं हैं ? कुछ लोग मांस बेचने वाले कसाई नहीं हैं ? कुछ लोग शकुन बताने वाले, कुछ लोग धरना देने वाले, कुछ लोग जंगलों में रहने वाली जंगली जातियों की तरह जीवन व्यतीत करने वाले नहीं हैं ? कुछ लोग घरों को तोडने, चोरी करने वाले, कुछ लोग लम्बे बालोंवाले, मैले दान्तों वाले, बड़े बड़े नाखूनों वाले, मैले शरीरवाले, ऐसे भीख मांगने वाले नहीं हैं ? और क्या ऐसे भी कुछ लोग नहीं हैं जो स्वयं इच्छा मुक्ति का दावा करते हैं और दूसरों को भी इच्छा-मुक्त कराने की बात करते हैं ? तब फिर यह कैसे कहा जा सकता है कि ब्रह्मा ने ब्राह्मणों की रचना यज्ञ करने कराने और वेद पढ़ने पढ़ाने के लिये की, क्षत्रियों की राज्य करने और हुक्म चलाने के लिये की, वैश्यों की खेत जोतने के लिये की और शूद्रों की दूसरों की सेवा करने और उन की आज्ञाओं का पालन करने के लिये की ?

यदि हम बारीकी से देखें तो एक राजकुमार के शरीर और एक गुलाम के बदन में कहीं कुछ भी विशेष नहीं मालूम देता । बड़ी बात यह है कि किसी

दरिद्र के चौखटे में और जिसे बुद्धिमान से बुद्धिमान लोग भी नमस्कार करते हैं, उन के भीतर किस का निवास है ? उच्च वर्ण और नीच वर्णों की बात चीत या ब्राह्मणों के ब्रह्मा की एक मात्र सन्तान होने की बातचीत कोरी बकवास हैं । चारों वर्ण समान रूप से परिशुद्ध हैं । जो दूसरों से घृणा करता है, जो प्राणियों की हत्या करता है और उन्हें कष्ट देता हैं, जो चोरी करता हैं, जो बलात्कार करता है, जो अपना कर्जा नहीं चुकाता, जो अपने बूढ़े माता पिता के साथ अच्छा व्यवहार नहीं करता, जो उन का ठीक से पालन पोषण नहीं करता, जो गलत परामर्श देता है और सत्य बात को छिपाता है, जो आये हुए अतिथि का स्वागत नहीं करता, जो आत्म–प्रशंसा और परनिन्दा करता है, जो दूसरों के गुणों की उपेक्षा करता है और उन की सफलता से जलता है, वह चाण्डाल है । जो निरुपाय है, वहीं ब्राह्मण हैं । जो क्रोध करता है और घृणा करता है, जो शरारती हैं और ढोंगी है, जो ठगी करता है और धोखे देता है । जो दूसरों को अपराध करने के लिये उत्तेजित करता है, जो धन–पिशाच है, जो पापी है, जिसे पाप–कर्म करने में न लज्जा है और न भय है वह अछूत है । न जन्म से कोई वृषल बनता हैं, न ब्राह्मण, कर्म से ही आदमी वृषल बनता है और कर्म से हीं ब्राह्मण ।

धर्म की दृष्टि से एक जाति और दूसरी जाति में कहीं कोई अन्तर नहीं । सद्धर्म पुण्डरीक सूत्र में तथागत महाकाश्यप को कहते हैं – 'महाकाश्यप ! तथागत अपनी धर्म देशना में निष्पक्ष होते हैं, वे पक्षपात से काम नहीं लेते ।' 'जिस प्रकार सूर्य तथा चन्द्रमा का प्रकाश सारी दुनिया पर समान भाव से पड़ता है, भलाई करने वालों पर भी, बुराई करने वालों पर भी, उच्च वर्णियों पर भी, नीच वर्णियों पर भी, सुगन्धित पदार्थों पर भी, दुर्गन्ध युक्त पदार्थों पर भी, इसी प्रकार तथागत द्वारा उपदिष्ट ज्ञान सभी प्राणियों तक समान रूप से पहुंचता है ।'– इसी ग्रन्थ में एक दूसरे स्थान पर तथागत ने कहा है, 'यह ऐसा ही है जैसे किसी कुम्हार ने एक मिट्टी से भिन्न भिन्न तरह के बर्तन घड़े हों, कुछ बर्तनों में चीनी रखी जाने को हो, कुछ में घी रखा जाने को हो, कुछ में दही और दूध, कुछ दूसरे घटिया प्रकार के बर्तनों में घटिया प्रकार की चीजें । जिस मिट्टी से उन का निर्माण हुआ हैं वह एक ही प्रकार की है । ब्राह्मण और अन्त्यज में, एशिया के निवासी में और यूरोप के निवासी में कहीं कोई अन्तर नहीं । बर्तनों की भिन्नता केवल उन वस्तुओं के कारण है जो उन में रखी गई हैं ।' इस विषय में धर्म की शिक्षा अद्वैत वेदान्त के शिक्षण से सर्वथा विरुद्ध है। यद्यपि अद्वैत–वेदान्त बौद्ध धर्म के माध्यमिक दर्शन का इतना अधिक ऋणी है कि वैष्णव वेदान्ताचार्य शङ्कराचार्य के शङ्कर वेदान्त को छिपा हुआ बौद्धधर्म (प्रच्छन्न बौद्धधर्म) ही मानते हैं, तो भी रूढिवादी होने के कारण शाङ्कर वेदान्त मनु का ही अन्धा अनुकरण करता है । उस का कहना है कि शूद्र को किसी भी प्रकार का कोई ज्ञान न दिया जाय और

एक मात्र द्विजन्मा द्विज (ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य) ही मुक्ति का अधिकारी है। दूसरी ओर बौद्ध धर्म सभी के लिये अपने दरवाजे खुले छोड़ता है।

बिना किसी बाधा या कठिनाई के सभी का प्रवेश संघ (भिक्षुसंघ) में हो सकता है। केवल नाबालिगों, सैनिकों, गुलामों तथा अंग-विकलों का प्रवेश निषिद्ध है । ये अनिवार्य अपवाद हैं । देश कितना ही अच्छी तरह शासित हो, उस के संरक्षण के लिये सैनिकों की आवश्यकता रहती ही है । बिना पर्य्याप्त कारण के उन्हें उन के (देश-रक्षा के) कार्य से छुट्टी नहीं दी जा सकती, लेकिन सरकारी अनुमति से वे संघ में प्रवेश पा सकते हैं। नाबालिगों की तरह गुलाम भी 'स्वतन्त्र' नहीं माने जाते । बिना उनके मालिकों की रजामन्दी के उन का भी संघ-प्रवेश आपत्तिजनक हो सकता है। लेकिन इस का यह मतलब नहीं कि धर्म गुलामी को प्रश्रय देता है । चीनी ब्रह्मजाल सूत्र ने गुलामों को रखने और गुलामों का धन्धा करने को निषिद्ध ठहराया है। श्री. एम. डी ग्रूट ने कहा हैं कि 'डेढ़ हजार वर्ष से भी अधिक समय से पूर्व गुलाम प्रथा को निषिद्ध ठहराने का श्रेय बौद्ध धर्म को प्राप्त है ।' तब भी भगवान् बुद्ध के समय में गुलाम-प्रथा एक प्रथा थी और भगवान बुद्ध को उस से निपटना था । गुलामी की प्रथा का डंक निकाल डालने के लिये तथागत ने गुलामों के स्वामियों को आदेश दिया कि उन्हें अपने गुलामों के हित-कल्याण के लिये प्रयत्नशील रहना चाहिये । उन्हें अपने गुलामों को उन की सामर्थ्य के अनुसार काम देना चाहिये । उन्हें अच्छा खाना और अच्छी मजदूरी देनी चाहिये, बीमार पड़ने पर उन की तीमार दारी करनी चाहिये, समय समय पर उन्हें स्वादिष्ट भोजनों में हिस्सेदार बनाना चाहिये । समय समय पर उन्हें छुट्टी भी देनी चाहिये । अपने प्रस्तर राजादेशों में से एक में अशोक ने जोर देकर कहा है कि गुलामों और नौकरों चाकरों के साथ मेहरबानी का सलूक करने में धर्म है, मातापिता की आज्ञाओं का पालन करने में धर्म है, दान देने में धर्म है और प्राणियों पर दया करने में धर्म है । यह विश्वास करना कि कुछ लोग केवल दूसरों की सेवा करने के लिये ही पैदा हुए हैं, बौद्ध धर्म की भावना के सर्वथा प्रतिकूल है । प्रत्येक मनुष्य के लिये उस आत्म-संयम और आत्म-विकास को हस्तगत कर सकना संभव है, जिसे निर्वाण का नाम दिया गया हो, वह आदमी भले ही ब्राह्मण हो, भले ही चाण्डाल हो, भले ही गोरा हो और भले ही काला हो।

रोगी और अपंग लोगों के लिये प्रवेश पाना कठिन है, क्यों कि बोधि प्राप्ति के लिये जो प्रयास अपेक्षित है, उस के करने में वे असमर्थ सिद्ध होते हैं। क्यों कि जो भिक्षु का जीवन है वह आलस्य और प्रमाद का जीवन नहीं है वह दूसरों की भलाई के लिये सदैव अप्रमाद पूर्वक कुछ न कुछ करते रहने का जीवन है। तथागत के वचन हैं, 'भिक्षुओ, कुशल-कर्मों से मत हिचकिचाओ । कुशल-कर्म यह

बुद्ध की मूर्ति - कम्बोडिया

सुख का ही प्रति वचन है । क्यों कि जिस चीज की हम इच्छा करते हैं, कामना करते हैं, वह हमें कुशल-कर्म करने से ही प्राप्त होती है ।'

जो भिक्षु-संघ में प्रविष्ट होते हैं, उन के लिये कहीं कोई 'जाति' नहीं रहती। जिस प्रकार गङ्गा, यमुना, अचिरवती, सरयु तथा महानदी जैसी बड़ी बड़ी नदियां भी जब समुद्र में प्रविष्ट होती हैं तो अपना पुराना नाम भूल जाती हैं, तदोपरान्त वे केवल महासमुद्र कहलाती हैं, उसी प्रकार प्रव्रजित होने से पूर्व वे भले ही किसी भी जाति के रहे हों, प्रव्रजित होने पर सभी कुल पुत्रों के पूर्व के नाम गोत्र विलीन हो जाते हैं । तदनन्तर वे केवल 'शाक्यभिक्षु' कहलाते हैं ।

थेरगाथा में जिन स्थविरों का नामोल्लेख मिलता है, उन में हमें भयानक डाकू अंगुलिमाल का नाम मिलता है, सुनीत भंगी का नाम मिलता है, स्वपाक नाम के कुत्ता-खोर का नाम मिलता है, स्वाति नाम के मछली-मार का नाम मिलता है, नन्द नाम के गवाले का नाम मिलता है और नाम मिलता है उपालि नाम के नाई का । भिक्षुणियों में गणिका अम्बपालि थी, वैश्यापुत्री विमला, दासीपुत्री पूर्णा और छापा नामक एक शिकारी-पुत्री । सुनीत ने अपने दीक्षित होने की जो कथा स्वयं कह सुनाई है उस से प्रकट होता है कि 'छोटी जाति' के आदमियों के लिये भी भिक्षु-संघ में दीक्षित होना कितना आसान था ! सुनीत की आप बीती है- "मेरा जन्म निम्न वर्ग में हुआ । मैं गरीब था, दरिद्र था । मेरा काम भी निम्न कोटि का था, कुम्हलाये हुए फूलों को झाडू से एकत्र करना । मुझे लोग घृणा करते थे, नीची नजर से देखते थे और अनादर करते थे । मैं भी दबादबा रहता था । तब मैंने मगध की ओर अग्रसर हो रहे बुद्ध-प्रमुख भिक्षु-संघ को देखा । मैं ने अपनी टोकरी फेंक दी और उन की वन्दना करने के लिये उन की ओर लपका। मुझ पर दया करके वे रुक गये । वे, पुरुषों में पुरुषोत्तम । मैं ने उन के चरणों की वन्दना की और उन से प्रार्थना की कि मुझे अपने एक 'भिक्षु' के रूप में स्वीकार करें । भगवान ने मुझे इतना ही आदेश दिया – 'आ, ऐ भिक्षु' । बस इतनी ही मेरी दीक्षा हुई। तथागत की आज्ञा थी, भिक्षु ! अपने प्रकाश से दुनिया को इतना प्रकाशित करो कि दुनिया देखे कि तुम इतने सु-आख्यात धर्म-विनय में दीक्षित होकर कितने विनम्र और कितने सहनशील हो गये हो ।"

जो भिक्षु-संघ में दीक्षित होते थे, उन्हें तो 'जाति' का त्याग कर ही देना था, लेकिन ऐसा नहीं लगता कि भगवान बुद्ध अपने गृहस्थ अनुयाइयों को भी ऐसा ही करने के लिये मजबूर करते रहे हों । शाक्यमुनि गौतम के समय की सामाजिक परिस्थिति का भी शायद यह तकाजा नहीं था कि जाति-प्रथा के विरुद्ध एक जहाद घोषित किया जाय । प्रत्येक सामाजिक संस्था की तरह 'जाति' भी एक प्राकृतिक विकास की उपज हैं । पुरुष सूक्त के एक ही अपवाद को छोड़कर सारे ऋक्-वेद में ऐसा एक भी संकेत नहीं है जिस से यह सिद्ध किया जा सके कि जिस

ब्राह्मणी अर्थ में हम आज 'जाति' शब्द को ग्रहण करते हैं उस अर्थ में उस समय भी 'जाति' विद्यमान थी। वैदिक मन्त्रों में क्षत्रिय-वर्ग और ब्राह्मण-वर्ग शेष सामान्य जनों, वैश्यों के ऊपर प्रतिष्ठित था। लेकिन तब तक उस समय के समाज संस्थान में ब्राह्मणों ने सर्वोपरि स्थान नहीं ग्रहण किया था। ऐसा लगता है कि भगवान् बुद्ध के समय के ब्राह्मण इस प्रयास में लगे थे कि उन्हें क्षत्रियों के ऊपर माना जाय। अम्बट्ठ सुत्त में भगवान बुद्ध ने क्षत्रियों को ब्राह्मणों के ऊपर माना है। इस से यह स्पष्ट है कि चाहे पुरुष-पक्ष से देखो, चाहे स्त्री-पक्ष से देखो, क्षत्रिय ही सर्वश्रेष्ठ हैं और ब्राह्मण उन से नीचे हैं। इस के अतिरिक्त ब्रह्मसनत्कुमार ने भी कहा था – 'वंश परम्परा को महत्व देने वालों में क्षत्रिय सर्वश्रेष्ठ हैं। लेकिन जो सम्यक् ज्ञान आचरण करता है, वह देव-मनुष्यों में सर्वश्रेष्ठ है। हे अम्बट्ठ, सनत्कुमार का जो यह कथन था, वह यथार्थ था, अयथार्थ नहीं था, उस ने ठीक ही कहा था, गलत नहीं कहा था कि जो वंश-परम्परा को महत्व देते हैं, उन में क्षत्रिय ही सर्वश्रेष्ठ हैं।' श्री रीज़ डेविडस् का कहना है कि "हमारे पास इस का कोई प्रमाण नहीं कि बुद्ध धर्म के उत्थान के समय गङ्गा की उपत्यका के निवासियों में और उन्हीं के समकालीन भूमध्य सागर के तट पर रहने वाले लोगों में कोई खास भेद था। बाद के विकास की स्थापना में जो खास महत्व की बात थी, भारत में ब्राह्मणों की सर्वोपरियता, वह अभी विवादास्पद थी। जितनी भी नई सामग्री मिल रही है, उस से यही लगता है कि यह संघर्ष ब्राह्मणों के अनुकूल नहीं, बल्कि उनके प्रतिकूल ही लड़ा जा रहा था। भगवान् बुद्ध के समय में अभी 'जाति' बनकर स्थिर नहीं हुई थी, अभी उस का निर्माण हो रहा था। महान जन-समूह मोटे तौर पर चार वर्गों में विभक्त था, चार सामाजिक विभाजन, जिन की विभाजक रेखायें अस्पष्ट थीं थौर अभी स्थिर नहीं हुई थीं। सीढी के एक सीरे पर थीं कुछ ऐसी नसलें, कुछ ऐसे लोग, जिन के धन्धे उतने सराहनीय न थे, दूसरी ओर चुने हुए लोग थे जो अपने सर्वोपरि होने का दावा करते थे। जो जन्म से ब्राह्मण थे (यह आवश्यक नहीं कि उन्हें यज्ञादि करानेवाला पुरोहित वर्ग ही माना जाय, क्योंकि वे सभी धन्धे करते थे।) वे क्षत्रियों को उन के ऊंचे आसन से नीचे धकेलने के प्रयास में रत थे। उन्हें सफलता मिली, किन्तु बहुत बाद में जब बौद्धधर्म का काफी ह्रास हो चुका था।"

बौद्ध गृहस्थों मे जो जाति-प्रथा विद्यमान रही हो, उसे धार्मिक समर्थन तनिक भी अप्राप्य था। उसे कुछ सामाजिक मान्यता प्राप्त थी। सम्राट अशोक के जीवन की यह एक घटना इस बात का स्पष्ट उदाहरण है कि भारतीय बौद्धों में उस समय जाति-प्रथा की कैसी क्या मान्यता थी? बौद्ध बन चुकने के बाद सम्राट अशोक की चर्य्या का एक अंग था कि यदि उसे कहीं बौद्ध भिक्षुओं के दर्शन हो जायें तो वह उन के चरणों पर सिर रखकर प्रणाम करता था। एक समय सम्राट अशोक के एक मन्त्री ने आपत्ति की 'स्वामिन! यह आप को शोभा नहीं देता कि

आप सभी जातियों के भिक्षुओं के पैरों पर सिर रख रखकर प्रणाम करते फिरें।' सम्राट ने प्रत्युत्तर दिया – "हाँ, सौन्दर्य और शक्ति से जिस अहंकार और व्यामोह ने जन्म ग्रहण किया है, उस से प्रेरित होकर तुम मुझे धार्मिक लोगों के चरणों पर सिर रखकर नमस्कार करने से रोक रहे हो। जिस सिर की कुछ भी कीमत नहीं है, जिसे समय आने पर कोई मुफ्त भी लेना न चाहेगा, उसे किसी के चरणों पर रखकर यदि कुछ पवित्रता प्राप्त की जा सके और कुछ पुण्य अर्जित किया जा सके तो इस में क्या दोष है? तुम शाक्य–भिक्षुओं में उनकी 'जाति' के अतिरिक्त और कुछ नहीं देख रहे हो, तुम्हें उन के गुण नहीं दिखाई दे रहे हैं? तुम अहंकार के मारे फूलकर कुप्पा हो रहे हो और स्वयं भी गलत रास्ते पर अनुगमन कर रहे हो और दूसरों को भी पथ–भ्रष्ट कर रहे हो? शादी–विवाह का अवसर हो, या किसी को कोई निमन्त्रण देना हो तो 'जाति' का विचार किया जा सकता है, लेकिन धर्म को उस से कुछ भी लेना–देना नहीं। धर्म का सम्बन्ध गुणों से है और गुणों का सम्बन्ध जाति से नहीं। जब किसी ऊंची जाति का कोई आदमी कोई 'पाप' करता है तो दुनिया भर के लोग उसकी टीका करते हैं, तो क्या जब निम्न जाति का कोई व्यक्ति अपने गुणी होने को प्रकट करे, तो क्या उसका गौरव नहीं होना चाहिये? आदमी के चरित्र के कारण ही आदमी का शरीर श्रद्धा भाजन भी बनता है और घृणास्पद भी हो जाता है। शाक्य–भिक्षुओं का गौरव किया जाना चाहिये क्यों कि करुणानिधान बुद्ध ने अपने उपदेशों से उन के चरित्र को निर्मल बना दिया है।"

अपने धर्म प्रचार के सिलसिले में भगवान् बुद्ध ने 'जाति' को उपयोगी मानकर उस का इस्तेमाल नहीं किया। लेकिन हिन्दू धर्म का इतिहास दूसरा ही है, उस हिन्दू धर्म का जो ब्राह्मणी ग्रन्थों और ब्राह्मणी परम्परा को प्रमाणभूत मानता हैं, जो ब्राह्मण देवताओं और उन के औतारों की पूजा करता है, जो गौ की पूजा करता है और मानता है कि उस के मूत्र और गोबर में पवित्रता का गुण है, जो खानेपीने और शादी–विवाह के सम्बन्ध में कुछ नियमों को स्वीकार करता है, जो सभी संस्कारों के अवसर पर ब्राह्मणों की उपस्थिति अनिवार्य ठहराता है। हिन्दु–धर्म जाति प्रथा के माध्यम से अपने धर्म का विस्तार करता हैं। जो लोग जाति प्रथा को नहीं मानते वे म्लेच्छ हैं। यदि जाति–प्रथा को अपना लें तो म्लेंच्छ भी हिन्दू हो सकते हैं। जितने चाहे उतने बाह्य लोगों को हिन्दु–धर्म में प्रवेश मिल सकता है, बशर्ते कि वे विद्यमान जातियों में बिना किसी प्रकार की गड़बड़ी किये अपने आप को एक नई–जाति मानने के लिये तैयार हों, ब्राह्मणों के सम्मुख सिर झुकाने और उन्हें उन की फीस देने के लिये तैयार हों। भारत की जाति–विहीन आदिवासी नसलें ब्राह्मण धर्म की मान्यताओं को स्वीकार करके और जाति–प्रथा को अपना कर हिन्दू बन गई हैं। इतिहास का कहना है कि राजपूतों की उत्पत्ति महत्वाकांक्षी आदिवासियों और विदेशी आगन्तुकों के सम्मिश्रण से हुई।

आज दिन हम किसी भी बौद्ध देश में जाति प्रथा के अवशेष नहीं देखते। बर्मी भाषा में 'जाति' के लिये कोई शब्द ही नहीं है। नेपाल के बौद्ध नेवारों के लिए 'जाति–वाद' एक सर्वथा अपरिचित शब्द है। उन में जन्मगत समानता पूर्णरूप से विद्यमान है।

हिन्दु धर्म में जाति–प्रथा न केवल एक सामाजिक संकेत है, बल्कि धार्मिक लक्षण भी । एक हिन्दु की सामाजिक स्थिति ही नहीं, उस के चिह्न और उस का वर्णन करा देने वाले लक्षण तक उस के धर्म की सम्पत्ति हैं। क्यों कि वह भारत में रहता है या किसी नसल–विशेष और राष्ट्रीयता–विशेष से सम्बन्धित है, इसलिये मनुष्य विशेष हिन्दु नहीं है, वह हिन्दू केवल इसलिये है कि वह ब्राह्मणी साम्प्रदायिकता को मानता है । कोई भी ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य या शूद्र होता है केवल अपने जन्म के कारण । यह कहा जाता है कि शेष तीनों वर्णों में से किसी भी एक वर्ण में उत्पन्न आदमी के लिये यह असम्भव है कि वह ब्राह्मण बन सके । ब्राह्मण का पद सभी प्राणियों में उच्चतम है । महाभारत का कहना है, "पशु जीवन से आदमी मानवीय जीवन की ओर अग्रसर होता है । यदि उसे नर–तन मिल गया तो वह निश्चय से पुक्कस या चाण्डाल के घर जन्मग्रहण करेगा । उस पाप–योनि में जन्म ग्रहण कर, बड़े लम्बे अर्से तक उसी योनि में भटकना पडता है । एक हजार वर्ष तक उसी सामाजिक स्थिति में जन्म ग्रहण करते रहने के अनन्तर उसे शूद्र होकर जन्म ग्रहण करना पड़ता है । वैश्य वर्ण में जन्म ग्रहण करने का अवसर मिलने तक उसे तीस हजार वर्षों तक शूद्र वर्ण में ही जन्म ग्रहण करना होगा । शूद्र की स्थिति के लिये जितने समय का उल्लेख किया गया है, उसे से साठ गुणा अधिक समय लगता है क्षत्रिय होकर जन्म ग्रहण करने के लिये । जितना समय क्षत्रिय होकर जन्म ग्रहण करने में लगता है, उस से दो सौ गुणा अधिक समय लगता है एक ऐसे ब्राह्मण का जन्म ग्रहण करने में जो शस्त्रधारी हो । पिछली कालसीमा को तीन सौ गुणा करने से जितना समय होता है, उतना समय लगता है एक ऐसा ब्राह्मण होकर जन्म ग्रहण करने में जो गायत्री–मन्त्र तथा अन्य दूसरे वेद–मन्त्रों का उच्चारण करता हो । इस काल सीमा को चार सौ गुणा करके ग्रहण करने से जितना समय होता है उतना समय लगता है एक ऐसा ब्राह्मण होकर जन्म ग्रहण करने में जो वेदों से सुपरिचित हो ।" केवल ब्राह्मण ही सुख–दुःख से ऊपर उठकर, इच्छा और घृणा से दूर रह कर, अहंकार और दुष्ट वाणी से रहित होकर मुक्ति प्राप्त कर सकता है । इस लिये ब्राह्मण में कुछ दैवी देवत्व है । "अपनी उत्पति से ही ब्राह्मण देवातिदेव है ।" "ब्राह्मण भले ही अविद्वान हो, वह महान देव है ।" भले ही वे पण्डित हों, तब भी वह न किसी क्षत्रिय का और न किसी वैश्य का सत्कार करने के लिये खड़ा होगा । शूद्र के घर में पूजा–भाजन देवता ओं के सामने भी ब्राह्मण को सिर नहीं झुकाना चाहिये । एक ब्राह्मण यदि शूद्र की सेवा में रहता है तो वह एक ऐसा पाप करता है जिसका प्रायश्चित्त तीन वर्ष तक प्रत्येक चौथे भोजन के समय स्नान करने से होता है। यदि जीविका चलाने के लिये ऐसा करना

अनिवार्य हो तो एक ब्राह्मण बिना किसी हिचकिचाहट के शूद्र का सामान छीन ले सकता है। यदि शूद्र किसी ब्राह्मण के घर अतिथि बन कर आ जाय तो उसे खाना देने से पहले उस से काम लेना चाहिये। अनैतिक ब्राह्मण की पूजा करनी होगी, किसी शूद्र की नहीं भले ही उस ने अपनी इन्द्रियों को वश में कर रखा हो। भले ही ब्राह्मण सभी तरह के निम्म श्रेणी के धन्धे करने में लगा हो, वह पूज्य ही रहेगा। मनु का कहना है कि जो राजा उस समय बैठा केवल देखता रहता है कि जब कोई शूद्र न्यायाधीश बन कर फैसले सुनाता रहता है, तो उस राजा का राज्य दलदल में फंसी हुई गौ की तरह धंस जाता है। सेवा में रत रहने के सिवाय शूद्र के लिये कहीं कोई कर्तव्य नहीं क्यों कि ब्रह्मा ने शूद्र की रचना ही ब्राह्मणों की सेवा के लिये की है। भले ही किसी स्वामी ने किसी शूद्र को ऊपर उठा दिया हो, तो भी वह अपने सेवा करते रहने के कर्तव्य से मुक्त नहीं हो सकता, क्यों कि उस की जो स्वाभाविक स्थिति है, उस से उसे कोन उबार सकता है? यूं भी कोई भी शूद्र मुक्ति की आकांक्षा नहीं कर सकता, क्योंकि अपने जन्म से ही वह आध्यात्मिक सामर्थ्य से शून्य है।

भारतीय जातियों को मध्यकालीन यूरोप की श्रेणियों या शिल्प-संघों के समान स्थापित करने के प्रयास हुए हैं। लेकिन जातियों और शिल्प-संघों में समानताओं की अपेक्षा असमानतायें बहुत अधिक हैं। पहली तो बात यही कि इन शिल्प-संघों ने अपने किसी सदस्य को भी अपने शिल्प-संघ की सीमा से बाहर शादी-विवाह करने के लिये मना नहीं किया। उन्हों ने अपने शिल्प-संघ से बाहर के किसी आदमी को अपना शिल्प सीखने से भी कभी मना नहीं किया। भिन्न भिन्न शिल्प-संघों के सदस्यों का खान-पान एक साथ होता था और अपने समान स्वार्थ के संरक्षण के लिये भिन्न भिन्न संघों के सदस्य एक साथ मिलकर संघर्ष भी करते थे। जातियों की प्रवृत्ति विभाजन और अधिक अधिक विभाजन की है। जिन जिन धन्धों का वे शिल्प-संघ प्रतिनिधित्व करते थे, उन्हें विकसित करने के लिये उन्हों ने बहुत कुछ किया। लेकिन जाति-पांति की संस्था ने भारतीय कला-शिल्प के पक्ष में कुछ नहीं किया। भारत में भी शिल्प-संघ या श्रेणियां रहीं हैं, लेकिन श्रेणियां जातियों से न केवल सर्वथा भिन्न रही हैं, बल्कि उन के विरुद्ध रही हैं। "व्योपार और उद्योग के क्षेत्र में शिल्प-संघों ने जाति-वाद के प्रतिबन्धों के विरुद्ध विद्रोह का प्रतिनिधित्व किया है। शिल्प-संघ जब अपने जोबन पर थे, तब यह वही समय था, जब बौद्ध धर्म का अधिकतम प्रभाव था और जिन जनपदों में बौद्ध धर्म जोरों पर था, वहीं शिल्प-संघ भी सशक्त थे। सही बात तो यह है कि जहाँ शाक्यमुनि गौतम बुद्ध की शिक्षा नहीं पहुंची, वहाँ शिल्प-संघ भी असफल ही रहे। एक बड़ी हद तक धर्म के प्रभाव से, शिल्प-संघों ने अपनी स्वतन्त्र शक्ति का परिचय दिया और वे किसी हद तक मजदूरों और शिल्पियों को दूसरों की नजर में ही नहीं, उन की अपनी नजरों में भी ऊंचा उठाने में सफल

हुए । कुछ हद तक जातियों द्वारा मर्यादित धन्धों के आधार पर ही शिल्प–संघों का संगठन हुआ। लेकिन आपसी संरक्षण के लिये संस्था निर्माण करने के विचार से पश्चिम के शिल्प–संघों की तरह, ये शिल्प–संघ भी विकसित हो गये । सभी मजदूरों के लिये शिल्प–संघों की सदस्यता के द्वार खुले थे । हर आदमी को यह स्वतन्त्रता थी कि वह अपने पिता के धन्धे को त्याग कर अपनी जाति के धन्धे को न कर दूसरे धन्धे को करे । इस तरह के अवसर कम ही आते थे, लेकिन तब भी ऐसे अनेक अवसर आते थे जिन से यह बात स्पष्ट की जा सकती है कि शिल्प–संघों के समय में धन्धों का निर्णय जातियों के अनुसार न होता था और धन्धों का 'जाति' से सम्बन्ध न था । कोई भी शागीर्द यदि वह नया धन्धा सीखने जाता था, तो भी वह तब तक अपने पिता की 'जाति' में ही रहता था, जब तक वह उस के नियमों का पालन करता था। लेकिन एक मजदूर के नाते उसे उसी धन्धे को करने वाले दूसरी जातियों के मजदूरों के बराबर अधिकार थे। शिल्प–संघ का कोई भी सदस्य उस धन्धे को नहीं कर सकता था, जिस पर उस धन्धे का प्रतिनिधित्व करने वाले शिल्प–संघ का अधिकार रहता था। शिल्प–संघ काम के घण्टे तै करते थे, मजदूरी तै करते थे और छुट्टियों का निश्चय करते थे । और जो व्यापारियों के व्यापारी–संघ थे वे अपने सदस्यों से सदस्यता शुल्क भी वसूल करते थे । जो निश्चय करते थे, उसे जोर जबर्दस्ती लागू करते थे। लोगों को जात–बिरादरी से निकालने की सजा भी दी जाती थी। जब बौद्ध धर्म के प्रचार का आन्दोलन ठण्डा पड़ गया और ब्राह्मणवाद फिर नये सिरे से सिर उठाने लगा, शिल्प-संगठनों का ह्रास होने लगा और उन का प्रभाव घटते घटते वे मात्र जाति–वाद की संस्थायें बन गईं। जैसे पश्चिम में, वैसे ही पूर्व में भी शिल्प–संघों का अन्तर्धान होने से मजदूर असंगठित हो गये हैं। इन का मुकाबला ऐसे औद्योगिकरण से हुआ है जिस की नीति ही है कि पूंजी और श्रम में यदि कोई सांझी चेतना है, तो उसे नष्ट कर डालना । तो भी शिल्प–संगठनों का भारत में कुछ स्थायी प्रभाव पड़ा है । इस ने व्योपार और श्रम की उस प्रतिष्ठा को जो उसे आज भी प्राप्त है, बनाये रखा है। इस ने उस कुप्रभाव का मुकाबला किया है, जिस ने भारत को बहुत हानि पहुंचाई होती, यदि ब्राह्मणवाद पर कोई लगाम न लगी होती।

इतनी दूरी के समय पर रहकर हमारे लिये निश्चयात्मक रूप से यह कह सकना कठिन है कि जाति–पांति की उत्पत्ति कैसे हुई ? लेकिन इस में कोई सन्देह नहीं कि नसल की भिन्नता का ही जाति की उत्पत्ति से विशेष सम्बन्ध रहा है और लोगों द्वारा अपनाये गये धन्धों से नहीं । प्राचीनतम समय में जो विदेशी आर्य बाहर से आये, वे एक बड़ी हद तक एक ही तरह के लोग रहे होंगे। उनके साथ स्त्रियां पर्याप्त संख्या में नहीं आई होंगी। धीरे धीरे उन आगन्तुकों की संख्या बढ़ गई होगी । जो अधिक दुस्साहसी लोग थे, वे अपने लिये पडौसी द्रविडों के नये

प्रदेश जीतने के लिये निकल पड़े। वे ज्योतिषी बन कर गये और जादूगर बनकर गये। वे अपने साथ नहीं के बराबर औरतें ले गये। उन्हों ने अश्वेत–वर्ण की जातियों को प्रभावित किया। अपने आप को पुरोहित मान लिया और अश्वेत–वर्ण जातियों में से ही यथेच्छ औरतें ले ली। तब उन्हें लगा कि उन के मूल साथियों से उन का सम्पर्क टूट गया है, कुछ तो दूरी के कारण और कुछ उन नये सम्बन्धों के कारण जो उन्हों ने स्थापित किये थे। दूसरी नसल से शादी–विवाह कर लेने के कारण कुछ हद तक उन्हों ने अपने में परिवर्तन अपना लिया था। लेकिन तब भी उन में रक्त–शुद्धि का एक अभिमान था। लेकिन जब उन्हों ने अपने मतलब भर की स्त्रियों को जन्म दे दिया, तब उन्हों ने अब और आगे के लिये सम्पर्क बन्द कर दिया। जब उन्हों ने ऐसा किया तो वे आज की जातियों की तरह की ही एक जाति बन गये। अश्वेत वर्ण जातियों के साथ पूरी तरह गड्डमड्डुता नहीं हुई, क्योंकि उन्हों ने केवल दूसरों की औरतें लीं, अपनी दी नहीं। यथार्थ में उन आर्यों ने उन द्रविडों के साथ वही व्यवहार किया जैसा अमरीका के कुछ बगीचों के मालिकों ने उन अफ्रीकी लोगों के साथ किया था, जिन्हें वे बाहर से लाये थे।

जाति–पांति प्रथा का मूल कुछ भी रहा हो, इस में कुछ सन्देह नहीं कि इस का विकास उन्हीं स्वार्थी लोगों ने किया है जो इस से लाभान्वित होते रहे हैं। जिस तरह प्राचीन रोम के मुख्य पादरी बड़े शक्तिशाली और प्रभावी व्यक्ति हो गये थे, क्योंकि वे बलिवेदी सम्बन्धी संस्कारों के सारे ब्योरे से सुपरिचित थे, उसी तरह भारत में यज्ञयागादि के ब्योरे की सम्पूर्ण जानकारी रखने के कारण ब्राह्मण भी शक्तिशाली हो गया। जाति प्रथा ब्राह्मणों के फायदे की थी, इसलिये उन्हों ने इसे फुलाया और अपने फायदे की चीज बना लिया। इस प्रकार ऐतरेय ब्राह्मण में हमें पढ़ने को मिलता है कि 'निश्चय से देवगण उस राजा द्वारा चढ़ाई गई पूजा को स्वीकार नहीं करते जो बिना पुरोहित के होता है। इस लिये जो राजा यज्ञ करना चाहता है, उसे चाहिये कि एक ब्राह्मण को मुखिया बना दे।' राजा को यदि स्वर्ग प्राप्त करना हो, तो पुरोहित की पांचों नाशक शक्तियों को सन्तुष्ट करना होगा। उन पांचों को शान्त करने का उपाय या 'विनम्रता की भाषा बोलना, ब्राह्मण के पाँव धोना, उस की पूजा करना, उस के पेट को भरना और उस की उपस्थेन्द्रिय की भयानक ऊष्णता को शान्त करना।' जहाँ जहाँ भी ब्राह्मण लोग गये उन्हों ने यही कोशिश की कि उन का सामाजिक चौधराना बना रहे। इस के लिये उन्हें इस बात का प्रचार करना पड़ा कि वे अपौरुषेय ग्रन्थों तथा स्मृतियों के संरक्षक होने से दूसरे सभी लोगों की अपेक्षा विशेष है। जहाँ जहाँ भी वे भारत में पसरे उन्हों ने भिन्न भिन्न वर्णों के अधिकारों तथा कर्तव्यों की व्याख्या की, उन वर्णों की क्रमिक असमानता की सीढ़ी पर प्रत्येक वर्ण का स्थान निश्चित किया। और अपने लिये सर्वश्रेष्ठ पद पक्के कर लिये। ब्राह्मणों ने अपने लिये जो जो दावे किये थे, उन सब के प्रति उत्तरकालीन बौद्धों का क्या रुख था

यह वज्रसूची नामक छोटी सी पुस्तिका से स्पष्ट हो जाता है। प्रसिद्ध महाकाव्य बुद्ध–चरित के रचयिता अश्वघोष को ही वज्रसूची का भी रचयिता माना जाता है। अश्वघोष का समय ईसा–पूर्व प्रथम शताब्दी का उत्तरीय अर्धांश हैं। वज्र-सूची के तर्कों का सार कुछ कुछ इस प्रकार है।

थोड़ी देर के लिये मान भी लिया जाय कि वेद, स्मृतियां और धर्मशास्त्र सत्य हैं और मान्य हैं और इन ग्रन्थों के विरुद्ध जो भी शिक्षण है, वह सब असत्य है तथा अमान्य है, तब भी ब्राह्मणों का यह दावा कि चारों वर्णों में वे ही सर्व–श्रेष्ठ वर्ण हैं मान्य नहीं ठहराया जा सकता।

आखिर ब्राह्मणत्व है क्या? क्या जीव में ब्राह्मणत्व विद्यमान हैं? क्या वश परम्परा में है? क्या देह में है? क्या विद्या में है? क्या आचरण में है? क्या कर्म–काण्ड में है? अथवा क्या वेदों के ज्ञान में है?

यदि जीव में ही ब्राह्मणत्व है, तो जैसा वेदों में लिखा है कि चौपायें और दूसरे जानवर देवता बन गये, कैसे सही हो सकता है? महाभारत के अनुसार कलिंजर के सात शिकारी, दस हिरण, मानस सार झील का एक हंस, तथा शरद्वीप का एक चक्रवाक कुरुक्षेत्र में ब्राह्मण होकर पैदा हुए थे। वे वेदों के पण्डित हो गये थे। अपने धर्मशास्त्र में मनु ने कहा है, कि "यदि कोई चारों वेदों, वेदाङ्गों और उपांगों का पण्डित किसी शूद्र से दक्षिणा स्वीकार करता है, वह बारह जन्मों तक गधा होकर पैदा होगा, साठ जन्मों तक सूअर और सत्तर जन्मों तक कुत्ता।" इस से यह स्पष्ट होता है कि ब्राह्मणत्व जीव में नहीं है।

यदि ब्राह्मणत्व वंश–परम्परा पर निर्भर करता है तो स्मृति के उस कथन से इस का कैसे मेल बैठ सकता है कि अनेक मुनियों की मातायें ब्राह्मणियां नहीं थीं। अचल मुनि का जन्म तक एक हथिनी से हुआ था, केश पिङ्गल का एक उल्लु–मादा से, शुक्र मुनिका एक तोती से, कपिल का एक बन्दरी से, श्रृङ्ग ऋषी का एक हरिणी से, व्यास का एक मछली मारने वाले की औरत से, कौशिक मुनि का एक शूद्रा से, पाराशर का एक चाण्डाल स्त्री से, तथा वशिष्ट का एक वैश्या से। यद्यपि विश्वामित्र क्षत्रिय था, तो भी वह एक ब्राह्मण वंश परम्परा का संस्थापक बन गया था। कान्वायन ब्राह्मणों का कहना है कि उन का मूल पुरुष अजामीढ़ था, जो स्वयं एक क्षत्रिय था। नामागरिष्ट के दो पुत्र, जो स्वयं वैश्य थे, ब्राह्मणत्व को प्राप्त हुए थे। यदि ब्राह्मण पिता और ब्राह्मण माता से उत्पन्न बालक ही ब्राह्मण हो सकता है तो एक दास या दासी का पुत्र भी ब्राह्मण हो सकता है। यदि जिस के माता–पिता दोनों ब्राह्मण हों वही ब्राह्मण हो सकता है, तब यह भी निश्चित होना चाहिये कि माता–पिता दोनों परिशुद्ध ब्राह्मण हैं। लेकिन ब्राह्मणों की वंशपरम्परा के बारे में मातृपक्ष के बारे में यह सन्देह है ही की ब्राह्मणियों ने शूद्रों के साथ संभोग किया है। महाभारत (वनपर्व) में युधिष्ठिर

का कहना है कि मनुष्यों में किसी की भी जाति के बारे में कुछ भी निश्चयपूर्वक नहीं कहा जा सकता, क्यों कि चारों वर्णों में संभोग सम्बन्धी गड्डमड्ड होती है। यह मेरा मत है। चारों वर्णों के लोगों ने चारों वर्णों की औरतों से सन्तानोत्पत्ति की है। और सभी आदमियों में, वाणी, मैथुन–धर्म, जन्म तथा मृत्यु समान रूप से घटते हैं। ऋषी भी यज्ञ करते समय इस सत्य को स्वीकृति प्रदान करते ही हैं, जब वे कहते हैं, 'भले ही हम किसी भी जाति के हों हम यज्ञ करते हैं।' फिर मानव-धर्म शास्त्र के अनुसार जो ब्राह्मण मांस खाता है, उस का ब्राह्मणत्व उसी समय नष्ट हो जाता है। जो मोम बेचता है, जो निमक बेचता है और जो दूध बेचता है, वह भी तीन दिनों में शूद्र बन जाता है। यदि ब्राह्मणत्व जन्म पर निर्भर करता हो, तो वह किसी भी धन्धे के करने से, भले ही वह धन्धा कितने भी निम्न स्तर का हो, किसी भी तरह कैसे नष्ट हो सकता है ? क्या एक बाज पृथ्वी पर उतरने मात्र से कौआ बन सकता है ?

तब क्या शरीर ब्राह्मण होता है ? तब तो अग्नि जब ब्राह्मण की लाश को जलाती है, तो आग ही हत्यारी हुई ? उस ब्राह्मण के सभी रिश्तेदार भी हत्यारे हुए, क्यों कि वह ही उसके शरीर को चिता पर रखने वाले हैं। फिर चाहे उस की मां शूद्र ही हो तब भी जिस की उत्पत्ति एक ब्राह्मण से होगी, वह ब्राह्मण ही माना जायगा। क्यों कि वह अपने पिता के मांस का मांस होगा और अपने पिता के शरीर की हड्डी होगा। लेकिन महा–भारत के अनुसार ब्राह्मण पिता और शूद्रा माता की सन्तान पारा–शव कहलाती है। शव या लाश से उत्पन्न हुई सन्तान। शूद्र माता शव या लाश के समान ही मानी गई है। फिर ब्राह्मण के शरीर से जो भी पुण्य–कार्य सम्पन्न होते हैं, ब्राह्मणी सिद्धान्त के अनुसार शरीर के नष्ट होने पर उन का नाश नहीं होता। इस लिये शरीर में ब्राह्मणत्व नहीं होता।

तो क्या ब्राह्मणत्व पाण्डित्य में विश्वास करता है ? यदि ऐसी बात होती तो अपने विद्या–बल के फलस्वरूप बहुत से शूद्र ब्राह्मण माने गये होते। बहुत से शूद्र ही नहीं, बहुत से म्लेच्छ तक चारों वेदों के पण्डित हैं, व्याकरण और ज्योतिष के पण्डित हैं, मीमांसा तथा वेदान्त के पण्डित हैं, सांख्य, न्याय तथा वैशेषिक दर्शन के पण्डित हैं, तब भी उन में से एक भी न ब्राह्मण कहलाता है और न कभी कहलाया गया है। आचरण और कर्मों को भी ब्राह्मणत्व का आश्रय–स्थान नहीं माना जा सकता। क्यों कि बहुत से शूद्र हैं जो सर्वत्र ब्राह्मणों के आचार–शास्त्र का पालन करते हैं और घोर तपस्या भी करते हैं। तब भी उन्हें कोई ब्राह्मण नहीं कहता।

तो फिर एक शूद्र के लिये श्रेष्ठ जीवन निषिद्ध क्यों ठहराया गया है ? क्यों कहा गया है कि शूद्र के लिये ब्राह्मण की सेवा करना और उस की आज्ञा का पालन करना पर्याप्त है ? क्या यह इस लिये कि जब हम चारों वर्णों के नाम लेते

हैं तो शूद्र का नम्बर अन्त में आता है ? जिस किसी भी क्रम से किन्हीं के नाम बोले या लिखे जाते हों, वह क्रम किसी के पद या प्रतिष्ठा का निश्चय कैसे कर सकता है ? क्या शूद्र केवल इसी लिये निम्नतम स्तर पर फेंक दिया गया है, क्यों कि सूत्र–विशेष में उस का नाम कुत्ते के भी नाम के बाद आता है। क्या दान्त होंठों से केवल इसी लिये बढ़कर हैं कि व्याकरण के किसी नियम के अनुसार होठों का दान्तों के बाद उल्लिखित होना श्रुतिमधुर है ? नहीं नहीं यह किसी भी तरह सत्य नहीं कि शूद्र दुष्ट है और ब्राह्मण श्रेष्ठ है केवल इस लिये कि जब हम चारों वर्णों की चर्चा करते हैं, तो शूद्र का नाम अन्त में आता है । यदि यह बात भी अमान्य ठहरती है, तो इस से जो यह स्थापना है कि शूद्र को ब्राह्मण की सेवा करने और उस की आज्ञा का पालन करने मात्र से संतुष्ट रहना चाहिये धराशायी हो जाती है ।

फिर जैसा कि ब्राह्मण कहते हैं कि सभी मनुष्यों की उत्पत्ति ब्रह्मा से हुई है, तब उन में यह अलंध्य चतुर्मुखी विभिन्नता पैदा ही कैसे हो सकती है । यदि एक ही पिता और माता की चार सन्तानें हों, तो एक ही पिता और माता होने से उन बच्चों में समानता होगी। चौपायों, पक्षियों, पेड़ों सभी के रचनाक्रम और आकार–प्रकार में भिन्नता है, हम आसानी से उन्हें एक दूसरे से भिन्न कर सकते हैं। लेकिन सभी आदमी भीतर बाहर से एकरूप हैं। उन में भेद बहुत ही गौण बातों में होता है, जैसे एक ही माता–पिता की सन्तान में मामूली भिन्नता रहती है। इस लिये इस से स्पष्ट है कि सभी मनुष्य एक ही 'जाति' हैं । फिर कटहल के पेड़ में, पेड़ के धड़ को भी फल लगता है, तनों के जोड़ों में भी फल लगता है, जड़ों में भी फल लगता है और शाखाओं में भी फल लगता है । तो क्या एक फल दूसरे से इतना भिन्न होता है कि जो फल जड़ में से उत्पन्न होता है, उसे हम शूद्र–फल कह सकें ? निश्चय से नहीं । इसी तरह से आदमियों के भी चार भिन्न भिन्न वर्ण नहीं हो सकते, क्योंकि, जैसा कि ब्राह्मणों का कथन है, उन की उत्पत्ति मनुष्य के शरीर के चार भिन्न भिन्न भागों से हुई है । इस के अतिरिक्त यह भी विचारणीय है कि ब्राह्मण को भी ठीक वैसे ही सुख–दुःख की अनुभूति होती है जैसे चाण्डाल को। दोनों का जन्म एक ही तरह होता है, दोनों का जीवन एक ही तरह चलता है, दोनों का मरण एक ही तरह होता है। न तो उन की मानसिक प्रक्रिया भिन्न भिन्न होती है, न शारीरिक प्रक्रिया। उन के जीवन के उद्देश्य भी एक जैसे ही होते हैं। उन के जीवन में भय भी रहता है और आशा भी रहती है। इस लिये चातुर्वर्णी सम्बन्धी चर्चा मन्द–बुद्धि की द्योतक है। सभी आदमी एक ही जाति के हैं।

जब इस प्रकार के बौद्धधर्म के प्रहारों की चोट हिन्दू–धर्म को महसूस होने लगी, उस समय ऐसा लगता है कि ब्राह्मणों ने अपने धर्म को सहारा देने के लिये अनेक प्रयास किये । इसी तरह के एक प्रयास ने महाभारत को जन्म दिया।

महाभारत का बुद्धोत्तरकालीन होना उस के इस प्रकार के उल्लेखों से प्रमाणित होता है, जैसे उस में उन भिक्षुओं की चर्चा है, 'जो वेदों को नहीं मानते और सिर मुण्डायें भिक्खमंगों की तरह पीत परिधान धारण किये हुए विचरते रहते हैं।' सारे महाभारत का रचना काल ईसा की दूसरी शताब्दी से लेकर चौथी शताब्दी तक हो सकता है। महाभारत की रचना का मूल उद्देश कुछ भी रहा हो, इस में सन्देह नहीं कि महामारत का वर्तमान स्वरूप ब्राह्मणों के इस प्रयास का परिणाम है जो उन्हों ने हिन्दुधर्म के साम्प्रदायिक स्वार्थ को सिद्ध करने के लिये हिन्दु-धर्म के पुनरुद्धार के युग में किया। यह मिथ, दर्शन, इतिहास और पवित्र नियमों का विश्वकोष है और 'पांचवे वेद' के पद पर प्रतिष्ठित है। इस की रचना विशेष रूप से कम पढ़े-लिखें लोगों के लिये हुई है, साथ ही शूद्रों के भी ऊपरके वर्ग के लिये, तथाकथित सत्-शूद्रों के लिये हुई है। इस पांचवें-वेद को तैयार करने की क्या जरूरत आ पड़ी थी? उत्तर सीधा सादा है। नास्तिक बौद्धों के ग्रन्थों तक सभी की पहुंच थी। उन के पढ़ने के लिये सम्प्रदाय-विशेष या धर्म-विशेष का होना आवश्यक नहीं था। लेकिन ब्राह्मणों के वेदों को केवल द्विज ही पढ़ सकते थे। इस लिये अपने बौद्ध प्रतिद्वन्दियों से निपटने के लिये ब्राह्मणों को एक ग्रन्थ घड़ना पड़ा जो अ-द्विजों की भी पहुंच के भीतर हों। इसीलिये उस में लिखा है कि एक शूद्र न केवल असंस्कृत-द्विज बन जा सकता है, बल्कि एक पुन-र्जीवित व्यक्ति की तरह उस का सम्मान भी होना चाहिये, यदि उस का हृदय पवित्र हो और वह जितेन्द्रिय हो, क्योंकि न जन्म से, न दीक्षा से, न विद्या से और न वंशपरम्परा से ही कोई पुनर्जीवित बन सकता है, केवल सदाचार के ही फल-स्वरूप आदमी पुनर्जीवित कहला सकता है। शूद्रों के सम्बन्ध में ब्राह्मणवाद का क्या शिक्षण था, यह ब्राह्मण-ग्रन्थों और कतिपय सूत्र ग्रन्थों से स्पष्ट है और उप-निषदों तक में हमें उक्त उपदेश नहीं मिलता। ब्राह्मण-वाद के नाम से सिखाया पढ़ाया जानेवाला यह शुद्ध बौद्ध धर्म हैं। लेकिन ब्राह्मणों से इतनी आशा नहीं की जा सकती कि वह भगवान् बुद्ध की तरह इस बात की घोषणा करें कि मानव मात्र अपने आप को मुक्त करके ब्राह्मणत्व प्राप्त कर सकते हैं। ऐसा करना उस महान क्षत्रिय सुधारक भगवान बुद्ध की शिक्षाओं को श्रेष्ठतर स्वीकार कर लेना होगा। इस लिये महाभारत ब्राह्मणवाद की खुले तौर पर बड़ाई करता है और दूसरे वर्णों के लोगों को अप्रकट रूप से इस बात के लिये प्रेरित करता है कि वह क्षत्रिय शाक्यमुनि की शिक्षाओं से दूर दूर रहे। इसलिये वासुदेव पृथ्वी माता से प्रश्न करता है, "क्या करने से गृहस्थ रहते हुए आदमी निष्पाप हो सकता है?" पृथ्वी माता की सुस्पष्ट शिक्षा है, – 'आदमी को ब्राह्मण और केवल जन्म के ब्राह्मण की पूजा करनी चाहिये। केवल ब्राह्मण ही सभी प्राणियों द्वारा पूज्य-स्थिति को प्राप्त हो सकता हैं।' एक दूसरे स्थलपर घोर तपस्या में रत एक चाण्डाल को कहा गया है कि सभी तरह से सर्वोत्तम ब्राह्मणत्व घोर तपस्या करके नहीं प्राप्त

किया जा सकता ।

क्यों की क्षत्रिय उपदेशक भगवान बुद्ध का जन मानस पर बहुत अधिक प्रभाव था, इसलिये कृष्ण से रूप में एक दूसरा नायक घड़ने की नितान्त आवश्यकता आ पड़ी। यह कृष्ण बादलों का अश्वेत देवता था, जिस में बुद्ध के शत्रू मार के सभी अवगुण विद्यमान थे ।* बुद्धों की मान्यता है कि एक बुद्ध मानव मात्र को आने वाले विनाश में संरक्षण प्रदान करने के लिये पैदा होता हैं, जब जब इस विश्व में अविद्या की बढ़ोत्तरी हो जाती है । इसलिये सद्धर्मपुण्डरीक में भगवान बुद्ध के ये वचन मिलते हैं, " मैं तथागत हूं । मैं स्वामी हूँ, जिस से ऊपर कोई नहीं है, जो दूसरों को संरक्षण प्रदान करने के लिये पृथ्वी पर जन्म ग्रहण करते हैं।" इसी की नकल करके कृष्ण से भी गीता में कहलवाया गया है, " मैं साधु पुरुषों को संरक्षण प्रदान करने के लिये और दुष्टों का नाश करने के लिये जब जब धर्म की हानि होती है और अधर्म वृद्धि पर होता है, प्रत्येक युग में औतार धारण करता हूँ ।" धर्म शब्द का अर्थ, जैसी शङ्कराचार्य ने व्याख्या की है, जाति–वाद मात्र है। जातियों का धर्म तथा धार्मिक आज्ञाओं का धर्म । शङ्कराचार्य ने भगवद्गीता पर जो भाष्य लिखा है, उस की भूमिका में लिखा है – " जब धर्म को मानने वालों के मन पर तृष्णा का राज उग्रतर हो जाता है, अधर्म धर्म पर बाजी मार ले जाता है, विवेक का ह्रास हो जाता है, अधर्म जोर पकड़ लेता है, तब नारायण नाम से प्रख्यात आदिकर्ता विष्णु ने विश्व में न्याय की स्थापना के लिये, पृथ्वी पर के ब्राह्मणों के संरक्षण के लिये उन्हों ने कृष्णावतार धारण किया । माता देवकी थी, पिता वसुदेव था क्यों कि ब्राह्मण वर्ग के ही संरक्षण से ही वैदिक धर्म सुरक्षित रह सकता था । क्यों कि उसी वर्ण पर जातियों और धर्म–आज्ञाओं का अस्तित्व निर्भर करता है । इस के अनुकूल ही भगवद्गीता में वे घटिया आदर्श दिये गये हैं । गीता सभी शास्त्रों तथा सभी उपनिषदों का सार कहलाती है । आरम्भ से अन्त तक इस भगवद्गीता का एक ही उद्देश्य है और वह जाति–पाँति के पक्ष का समर्थन करना । भगवान बुद्ध ने कहा कि प्रत्येक मनुष्य को अपनी अपनी जमीर के अनुसार अपने अपने कर्तव्य का निश्चय करना चाहिये । लेकिन इस के विपरीत कृष्ण ने अर्जुन को कहा कि जो मैत्री और करुणा की भावनायें उस के युद्ध करने के मार्ग में बाधक बनी हुई हैं, उन के सामने नहीं झुकना, लेकिन जो कुछ उस का क्षात्र–धर्म करने को कहता है, उसी को करना । वह ठीक वैसा ही है जैसा शङ्कर ने यज्ञों में पशुओं की बलि देने का समर्थन किया है, क्यों कि ऐसा करना वेदों की आज्ञा है, यद्यपि यह मानवता की भावना के सर्वथा विरुद्ध है । इस में कोई संदेह

* मत्स्य पुराण में जहां बौद्ध मार अथवा काम के कामोत्सव का वर्णन है, काम को ही कृष्ण कहा गया है । ललित विस्तर में केवल एक बार कृष्ण का नाम आया है । बड़े बड़े देवताओं में से एक देवता के रूप में । और भगवान बुद्ध के शत्रु मार और उस के मिशन को कृष्ण का कार्य ही कहा गया है ।

नहीं कि इस चातुर्वर्णी व्यवस्था को नया आधार देने का प्रयास किया गया है। पुरानी मान्यता थी कि जो अब्राह्मण मोक्ष प्राप्त करना चाहते हों, उन्हें अनेक जन्म ग्रहण करने के अनन्तर ब्राह्मण की योनि में जन्म ग्रहण करना चाहिये। इस के स्थान पर गीता में दूसरे सिद्धान्त का प्रतिपादन है कि हर आदमी अपने अपने कर्तव्य का पालन कर मोक्ष लाभ कर सकता है और कि ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य तथा शूद्र के कर्तव्य उन उन के गुण–कर्म के अनुसार तै किये गये हैं। "मैं ने ही गुण–कर्म के अनुसार चारों वर्णों की रचना की। क्या यह मेरे लिये उचित होगा कि मैं वर्ण संकरता का जनक होऊँ और प्राणियों को नष्ट करूं? जो मनुष्य वर्ण-धर्म के पथ पर नहीं चलते हैं, वे नरक के अन्धकार में जा पडते हैं और मुश्किल से बाहर निकलते हैं। इसलिये तुम्हें समाज–संरक्षण का ख्याल करके भी अपने ही कर्तव्य का पालन करना चाहिये। जिस तरह से अज्ञजन कर्मों के प्रति आसक्ति के कारण कर्म–रत रहते हैं, प्रज्ञावान को चाहिये कि वह बिना आसक्ति के कर्म करने में लगा रहे। किसी बुद्धिमान को भी यह नहीं करना चाहिये कि वह अपने अपने कर्म के करने में लगे हुए अज्ञ जनों को उन के कर्मों से विरत कर दे। दूसरे के भली प्रकार किये धर्म (कर्तव्य) से अपना ही अव्यवस्थित होने पर भी, कर्म श्रेष्ठ है। जो अपने स्वभावानुकूल अपने कर्तव्य का पालन करेगा उसे कुछ भी पाप नहीं लगेगा। दूसरे के कर्तव्य करना भयावह होता है। अपना ही कर्तव्य पालन करना चाहिये।" इस प्रकार बौद्धधर्म की शिक्षाओं के सर्वथा विपरीत भगवद्गीता की शिक्षा है कि किसी भी आदमी को अपना कर्तव्य निश्चित करने की स्वतन्त्रता नहीं दी जा सकती।

इन शिक्षाओं का यथार्थ भावार्थ स्पष्ट है। इन में शूद्रों पर जोर डाला गया है कि वह शाक्यमुनि गौतम बुद्ध और उन के शिष्यों की शिक्षाओं को मानकर जाति–प्रथा से मुंह न मोड़ें। ब्राह्मणी सिद्धान्तों के अनुसार क्षत्रिय और वैश्य वेद पढ़ने के अधिकार में हिस्सेदार थे, लेकिन इस की एक मर्यादा थी। वे वहीं तक पढ़ पढ़ा सकते थे या समझ समझा सकते थे जैसे और जहाँ तक उन के आध्यात्मिक गुरुओं ने, ब्राह्मणों ने उन्हें समझाया। एक मात्र ब्राह्मणों को यह अधिकार प्राप्त था कि वे वेदों की मनचाही व्याख्या करें। इसलिये ब्राह्मणों की दृष्टि में शाक्य–मुनि का बड़े से बड़ा अपराध यही था कि उन्हों ने स्वयं मात्र एक क्षत्रिय होकर अपने अधिकार–क्षेत्र की सीमा से बाहर पैर रखा। वे एक शिक्षक बन बैठे और दान भी स्वीकार करने लगे। ब्राह्मणों की समझ थी कि एकमात्र वे ही दान लेने के हकदार हैं। और सब से बुरी बात यह कि वे उन शूद्रों को, जिन्हें ब्राह्मण शिक्षित होने का अधिकारी न मानते थे, शिक्षित बनाने लग गये थे। कुमारिल भट्ट ने अपने तन्त्रवार्त्तिक में ठीक यही आरोप बुद्ध पर लगाया है। कुमारिल का कहना है कि जो स्वयं एक क्षत्रिय है, जिस ने दूसरों को शिक्षा देने और दान देने का कार्यक्रम अपना कर स्वयं अपनी ही मर्यादा का भङ्ग किया हैं, उसका क्या

भरोसा कि वह किसी भी गम्भीर विनय के पालन की नींव रख सकेगा ? क्योंकि यह कहा गया हैं, 'आदमी को चाहिये कि ऐसे आदमी की संगति से बचे जो ऐसे कर्मों के करने वाला है जो उस के भावी सुख को नष्ट करने वाले हैं। जो आत्म-विनाश करने वाला हैं, वह किसी का भी हित कैसे साध सकता है ?' और बुद्ध तथा उन के शिष्यों का यही मर्यादा-भंग उन की विशेषता माना जाता है, क्योंकि उन्हों ने स्वयं कहा है, 'कलियुग में किये गये सभी पापों को मैं अपने सिर ओढ़ लेता हूँ। दुनिया का उद्धार हो जाय।' इस प्रकार एक क्षत्रिय के कर्तव्यों से विमुख होकर, जो लोगों का हित साधते हैं ऐसे दूसरों को शिक्षित करने के कर्तव्य को अपनाना और जिन शूद्रों को शिक्षित करने की बात ब्राह्मण सोच भी नहीं सकते थे, उन्हें शिक्षित करना उस के द्वारा दूसरों पर की गई अनुकम्पा है। ऐसा करके निस्सन्देह उन्हों ने अपनी सीमाओं का उल्लंघन किया। ऐसे पुण्यमय जीवन के लिये ही तो वे प्रशंसित हैं। जितने भी लोग उन के द्वारा दिखाये गये पथ पर चलते हैं, और श्रुति-स्मृति के आदेशों की अवज्ञा करते हैं, वे अपने दुष्कर्मों के लिये बदनाम हैं। इसलिये गीता का मुख्य उद्देश ब्राह्मण वर्ग के आधिपत्य और प्रभाव का संरक्षण करना है, साथ ही साथ यह भी दिखाना है कि उसे उन लोगों की चिन्ता है, जिन के हित साधने का कार्य्य बुद्ध-धर्म ने किया है। गीता में जो कुछ भी श्रेष्ठ और ऊपर उठाने वाला है वह वही सब कुछ है जो गीता ने अपने प्रतिद्वन्दी धर्म से खुलकर ग्रहण किया है ताकि उस का उद्देश्य पूरा हो और शूद्र लोग अपने पुराने धर्म को त्याज्य न समझने लग जायें। शेष जो कुछ है वह पुनरुक्तियों का संग्रह है, अन्तर्विरोधों का संग्रह है, बेहूदगियों का संग्रह है। यह सभी रूढ़िगत मान्यताओं का एक ही जगह तालमेल बैठाने का असफल प्रयास है। इस में कुछ आश्चर्य नहीं होना चाहिये यदि यह ज्ञात हो कि गीता का परिचय 'एक ऐसा अद्भुत गायन करके दिया गया है, जिस के पढ़ने-सुनने से रोंगटे खड़े हो जाते हैं।'

भारतीय साहित्य इस बात का साक्षी है कि ब्राह्मणों ने ऐसे प्रयासों का हमेशा विरोध किया हैं जो उन्हें अन्य हिन्दुओं के साथ बराबरी के स्तर पर बिठाने के हुए हैं। जाति ही हिन्दु धर्म का मुख्य सहारा रही है। 'हिन्दु धर्म तत्व' के ब्राह्मण लेखक का कहना है कि "भारत खण्ड में हिन्दु-धर्म इतनी अच्छी तरह सुरक्षित रहा है ..... यही जाति-पांति के भेद ही हिन्दु-धर्म का सहारा रहे हैं। जब ये जाति-पांति के भेद मिट जायेंगे तो इस में सन्देह नहीं कि हिन्दु-धर्म धराशायी हो जायेगा।" जाति-पांति के अस्त्र का प्रयोग करके ही ब्राह्मणों ने हमेशा अपने धर्म-विस्तार के कार्य को जारी रखा है। यदि वह विद्यमान जातियों के अस्तित्व में खलबली नहीं पैदा करते, तो सभी दूसरे लोग हिन्दु-धर्म ग्रहण कर सकते हैं। उन्हें अपने पुराने रीतिरिवाजों को छोड़ने की जरूरत नहीं, पुराने मिथ्या-विश्वासों को छोड़ने की जरूरत नहीं, पुराने देवी-देवताओं को छोड़ने की

जरूरत नहीं। शर्त इतनी ही है कि वे ब्राह्मणों की प्रमुखता में अपने आप को एक नई जाति मानने के लिये तैयार हों। यही वह तौर–तरीका है जिस से असभ्य आदिवासी लोगों का ब्राह्मणीकरण हुआ है। अब यहाँ चार ही जातियां नहीं हैं, लेकिन हजार से भी अधिक हैं। ब्राह्मणों में ही सौ से अधिक उपजातियां हैं। अब लगभग हर एक पेशा या धन्धा करने वाले की अपनी जाति है। दूसरी जातियों के साथ इतर जातियों का कोई सामाजिक सम्बन्ध भी नहीं होता और वे आपस में किसी देशभक्ति की भावना से भी जुड़ी नहीं रहती। हर जाति केवल अपने लिये जीति है। उसे दूसरी जाति के दुःखों के प्रति न कोई सहानुभूति की भावना रहती है और न किसी प्रकार की करुणा की। और इस भारतीय समाज को इतने अधिक बन्डलों में बांधने का दुष्परिणाम क्या हुआ है ? जो समाज जाति–वाद के आधार पर संगठित होगा, उस के सामने अराजकता का बड़ा खतरा आ उपस्थित होगा। अराजकता के डर ने इसे एकराज–तंत्र पर निर्भर कर दिया है। यही अराजकता के विरुद्ध खड़े रह सकने के लिये प्रबलतम संरक्षण है। राजनीति से अधिकांश जातियों के बहिष्कार ने उन में सार्वजनिक भावना और एकात्मता की दृष्टि के लिये जगह नहीं रहने दी है। जाति–पांति ग्रसित हिन्दु देश–प्रेम की भावना से सर्वथा अपरिचित बना रहता है। भारत नाम का महाद्वीप जहाँ करोड़ों लोग वास करते हैं शताब्दियों तक डाकू लुटेरों के लिये लूट–खाने की भूमि–मात्र रहा है। जब से महान अलिक्जैण्डर नें भारत को जीता और अगौरवान्वित किया, विदेशी ही उस के शासक रहे हैं। भारत को इस बात के लिये अनोखी प्रसिद्धि प्राप्त रही है कि वह क्रमशः यूनानियों द्वारा, सीथिनियों द्वारा, हूणों द्वारा, अरबों द्वारा, अफगानों द्वारा, मंगोलों द्वारा, पुर्तगीजों द्वारा, डचों द्वारा, फ्रांसीसियों द्वारा और अब अंग्रेजों द्वारा शासित है। विदेशी इस देश को तलवार और आग से तबाह करते रहे हैं और इसी देश से भर्ती की गई सेनाओं के द्वारा थोड़े से विदेशी अपने से हजारों गुणा एतद्देशियों का रास्ता रोके रख सकते हैं। हिन्दुओं ने न केवल विदेशियों का मुकाबला कर सकने की सामर्थ्य गँवा दी, वे मानसिक जड़ता के गत में भी जा पहुँचे हैं। जैसा कि श्रीमान् क्रोजियर का कथन है कि जहाँ जाति का असीम अधिकार होता हैं, जहां एक जाति और दूसरी जाति के बीच की दीवारें अलंध्य होती हैं, जहां नाम–गोत्र ही सभी कुछ माना जाता है वहां व्यवहारिक योग्यता, सूझबूझ, मौलिकता तथा ऐसा अप्रमाद जो आदमी को किसी की भी अथवा उस की अपनी कठिन परिस्थिति में से ऊपर उठने–उठाने में मदद मिलती है, इन सब गुणों को कुछ भी महत्व नहीं दिया जाता। इस का परिणाम यही हैं कि ऐसी जातियां दीर्घकाल से चिन्तन के स्तर पर जड़त्व को प्राप्त हो चुकी हैं। जाति–वाद की एक प्रकृति यह है कि इस से नकलचियों की एक जाति पैदा होती है जो किसी भी तरह के मौलिक चिन्तन का काम नहीं कर सकती। मौलिक कार्य आदमी की ऐसे चरित्र का परिणाम

होता है, जिस में चुनाव की स्वतंत्रता रहती है। जो कष्टकर बंधन होते हैं उन का समूह, जो जातिवाद का परिणाम होता है, उस व्यक्ति के नीजी जीवन और उस के सार्वजनिक जीवन को ऐसा ग्रसता है कि उस से न केवल धन की उत्पत्ति सीमित हो गई है बल्कि उत्पत्ति और मांग के जो नियम हैं उन के कार्यशील होने पर भी बाधा आ उपस्थित हुई है। ये उत्पत्ति और मांग के नियम ही जातियों और प्राकृतिक श्रोतों के बीच सम्बन्ध स्थापित करते हैं।

जातिवाद के भयानक परिणामों की ओर से भी निश्चित रहकर हिन्दु धर्म के वर्तमान समर्थक उस के विषय में चिकनी चुपड़ी बातें करते रहते हैं। वे जाति-वाद के समर्थन में अपनी अपनी समझ में वैज्ञानिक तर्क देते हैं। उन का कहना है कि जाति–वाद का आधार नृ–कृत वैज्ञानिक है। जाति का संस्कृत पर्याय वर्ण हैं, जिस का शब्दार्थ होता है रंग। यह आग्रह पूर्वक कहा जाता है कि ऊंची जातियों में, तथा कथित आर्यों में और जिन्हें नीच जाति के लोग कहा जाता है, उन में रंग का फर्क है। उसी के फलस्वरूप उन में नसली–फर्क है। यह भेद कम या अधिक सापेक्ष नहीं है। यह लगभग निरपेक्ष है। जो ईसाइयत परमात्मा के पितृत्व और मानव मात्र के भ्रातृत्व का इतना दावा करता है उस ने भी अपनी अनुयाइयों को इतनी शक्ति नहीं दी कि वह इस बचकाने वर्ण–पक्षपात को उतार कर फेंक दे सकते। कुछ ही समय पुराने एक ईसाइयों की पत्रिका में एक ईसाई धर्म–दूत ने लिखा है – "यह एक अत्यन्त कठिन विषय है, एक ऐसा विषय जिस के बारे में हमें सोचना चाहिये कि आदर्श की दृष्टि से क्या करना योग्य है और व्यवहार की दृष्टि से क्या किया जा सकता है? हम पूछते हैं कि ऐसा क्यों हैं? यह स्वच्छ आदमी की मैले कुचैले आदमी के प्रति घृणा का परिणाम नहीं है और न यह सांस्कृतिक आदमी की किसी असभ्य आदमी के प्रति अरुचि का परिणाम है। हमें मजबूरी से यही उत्तर देना पडता है कि गोरे आदमी और काले आदमी के बीच जो दूरी है उस का कारण एक स्वाभाविक सहज वर्ण–भेद का भाव है। यह एक सहज विरोध का भाव है जिस के कारण एक अच्छा खासा सुसंस्कृत अंग्रेज भी किसी ठीक ठाक कपड़े पहने काले आदमी के साथ बैठना पसन्द नहीं करेगा!" यह स्पष्ट ही है कि न तो हिन्दु–धर्म के ये नये वकील जानते हैं और न जाति–पांति के समर्थक ईसाई पादरी ही यह जानते हैं कि वर्ण की भिन्नता से किसी के गुण भिन्न नहीं होते। अनुवीक्षण यन्त्र गोरे बालों वाली और काले बालों वाली में कोई भेद नहीं करता। आदमी की चमड़ी में भले ही वह काले से काले वर्ण के नीग्रो की हो, या अत्यन्त श्वेत वर्ण यूरोप निवासी की ही, केवल काले रंग के रक्त–कण रहते हैं। श्वेत–वर्ण यूरोपी की चमड़ी न दूध से उत्पन्न होती है और न प्राचीन देवताओं के रक्त से – रक्त का रंजन सर्वत्र एक समान ही होता है और वह काला होता है। इस में गुणात्मक भेद नहीं होता, इस में केवल परिमाणात्मक परिवर्तन होता है। किसी किसी हालात में यह रक्त

प्राज्ञ परमिता - बोरो-बदर

की रंजकता इतनी अधिक मात्रा में होती है कि उस का प्रभाव चमड़ी के ऊपरी भाग पर भी दृष्टिगोचर होता है, कुछ दूसरी हालतों में यह नीचे की तहों में छिपा रहता है। लेकिन रक्त-रंजन हमेशा रहता ही है। सभी लोगों के नवोत्पन्न बच्चे एक ही रंग के होते हैं और सौन्दर्य लिये हुए। एक ही माता-पिता के बच्चे भी हमेशा एक ही रंग के नहीं होते । चमड़ी का रंग जलवायु के परिवर्तन के साथ बदल जाता है। उष्ण कटिबन्ध में कुछ अधिक समय तक रहने वाले यूरोपी का रंग कुछ भूरा हो जाता है और यदि एक नीग्रू शीत कटिबंध प्रदेश में पर्य्याप्त समय रहता है, तो उनका रंग भी पर्य्याप्त श्वेतवर्ण का सा हो जाता है। वर्ण को लेकर जो पक्षपात किसी के मन में घर कर जाता है, उसे सहजोत्पन्न मानना अपने मानस-शास्त्र के मूल-भूत अज्ञान का परिचय देना है। कोन्डिल्लक ने कहा है कि नैसर्गिक वृत्ति नाम की कोई चीज़ नहीं है । यह एक थोथा शब्द मात्र है, जिस की रचना सभी वैज्ञानिक व्याख्याओं का विरोध करने के लिये हुई है । बहुत सी ऐसी प्रवृत्तियां हैं, जिन्हें परिस्थिति ने जन्म दिया है, वे आदमी में सहजोत्पन्न स्वभाव जनित हो गई हैं और सच्चे धर्म से यह अपेक्षा की ही जायगी कि वह ऐसी स्वयंभू समाज-हित विरोधिनी प्रवृत्तियों को नष्ट कर डाले।

मानव समाज को भिन्न नसलों में विभक्त करने के सारे प्रयास सर्वथा बेकार सिद्ध हुए हैं। अधिक से अधिक इतना स्वीकार किया जा सकता है कि नृ-वंशशास्त्री जिन तथाकथित नसलों की चर्चा करते हैं, वे सुविधापूर्ण वर्णन के लिये काल्पनिक वर्गीकरण मात्र हैं। उन का वही उपयोग है जो भौतिक विज्ञान के सिद्धान्तों का। श्री. लामार्क की शब्दावलि का प्रयोग करें तो वे केवल कलाकृतियां हैं, मानसिक व्यायाम का परिणाम । वास्तविक प्रकृति में इन का कुछ भी प्रतिरूप विद्यमान नहीं है । प्रा. जोसिया रायसे का कहना है कि हमारी नसल-मान्यता का अधिकांश किसी ग्रन्थ में आई उस काल्पनिक बातचीत के समान है जो स्थूल दृष्टि से देखने पर "प्रामाणिक विज्ञान" सी मालूम देती हे । अब मानवता की उत्पत्ति की एकता का सिद्धान्त व्यापक तौर पर स्वीकृत हो चुका है । खोपड़ी की शक्ल में जो आकार-प्रकार का अन्तर है, चमड़ी के रंग का अन्तर, बालों के रंग का अन्तर, आंखों का अन्तर तो जल-वायु के परिवर्तन के कारण, देश से बाहर चले जाने के कारण और वर्ण-संकर संतान की उत्पत्ति के कारण हुआ है। आदमियों का कोई वर्ग ऐसा नहीं है जो परस्पर मिल जुल नहीं सकता और लाभान्वित नहीं हो सकता। विद्यमान लोगों में अब किन्हीं लोगों के बारे में यह नहीं कहा जा सकता कि वे अमिश्रित अपरिवर्तित लोगों का प्रतिनिधित्व करते हैं । शरीर रचना और भौतिकता सम्बन्धी मान्यताओं से भी अधिक मानसिक और नैतिक प्रदत्त शक्तियों का विचार और सभी तरह के जल-वायु में ऐतिहासिक विकास की एकरूपता का विचार हमें इस बात की शिक्षा देता है कि हम यह मानें कि सारी मानवता एक विशाल भ्रातृत्व है । प्रत्येक आदमी में सर्वत्र उस

की सीखने की अन्तर्भूत शक्ति विद्यमान है और उसी मात्रा में। ऊंचे और निचले वर्णों का मानसिक स्तर जो भिन्न भिन्न है, वह प्राकृतिक देन का भेद नहीं है, लेकिन मौका न मिलने का है । वैज्ञानिक जानकारी प्राप्त करने और वैज्ञानिक पद्धतियों को अपनाकर जापानियों ने अपने दृष्टिकोण में आमूल परिवर्तन कर लिया है । दूसरी जातियां भी जापानियों की ही तरह अपनी मानसिक शक्ति शीघ्रतापूर्वक बदल सकती हैं, यह इतिहास ने पूरी तरह प्रामाणित कर दिया है ।

जिस रक्त की पवित्रता के लिये कुछ लोग जान देते रहते हैं, शुद्ध कल्पना मात्र है। जिस वर्णसंकरण से वर्तमान हिन्दू घबराते हैं, वह तो शताब्दियों पहले कब का हो चुका है। पुणें के श्री. डी. आर. भण्डारकर का कहना है कि भारत में शायद ही कोई वर्ण या जाति हो जिस में विदेशी मिलावट न हो। न केवल राजपूतों और मराठों सदृश क्षत्रिय जातियों में विदेशी रक्त का सम्मिश्रण है, बल्कि उन ब्राह्मणों के रक्त में भी मिलावट है, जो अज्ञानवश यह सोचते हैं कि उन के रक्त एकदम शुद्ध पवित्र हैं, उन में मिलावट नहीं है । वर्तमानकाल के ब्राह्मणों की नसों में भी प्राचीनकाल के शूद्रों का रक्त बहता है, ठीक वैसे ही जैसे आज के श्वेतवर्ण यूरोपीय की नसों में चतुर्थक युग के नीग्रो का रक्त बहता है। संभवत: इस वर्ण संकरता के लिये उन की औरतों का सौन्दर्य और उनकी जीवन–शक्ति उत्तरदायी है । डा. टेलर का कथन है कि उसने गोरे–काले लोगों के उत्तराधिकारियों में त्रिस्तान द कुन्हा में सर्वाधिक सुन्दर औरतें देखीं । दक्षिण भारत में हम सौन्दर्य के श्रेष्ठ नमूने पश्चिमी तट की स्वच्छन्दता–प्रिय नैय्यरों तथा थेय्य औरतों में देखते हैं। श्री. फिनोट ने अपने दीर्घकालीन–जीवन के दर्शन–शास्त्र में लिखा है कि दीर्घ जीवन के कई अद्भुत नमूने उन्हें मल्लटोज में देखने को मिले। परिवारों और लोगों में नये रक्त के संचार के बहुत अच्छे परिणाम देखने को मिले हैं। सामान्य रूप से जहां कहीं भी दो जातियों में संकरण हुआ है; बिना उसे जो बढियां किसम कहलाती है किसी प्रकार की हानि पहुंचायें जो घटिया किसम हैं वह सुधरती रही है। संकरण का विरोध करने वाले निराशावादी लोगों के कथन को यह कहकर कुठलाया जा सकता है कि जो लोग आपस में मिल गये हैं, उन सभी ने उन्नति की है। सभ्यता और उन्नति की पंक्ति में जो सब से आगे खड़े हैं वे वे ही लोग हैं जिन का सम्मिश्रण हुआ है, जिन के रक्त में विजातीय द्रव्य भरपूर रहे हैं। भिन्न भिन्न देशों के बढ़िया किसम के लोगों की भी जब हम बात सोचते हैं, हमें यह जानकर आश्चर्य होता हैं कि सभी प्रायः जात–पांत तोड़कर किये गये विवाहों की उपज हैं। हैवलॉक एलिस का कहना हैं श्रेष्ठ अमरीकी लेखकों और चिन्तकों का भी मिश्रित परिवारों में से ही आविर्भाव हुआ है। अमरीका के आविष्कारकों में सर्वाधिक प्रसिद्ध एडिसन इसी श्रेणी के थे। आवश्यक हों तो हम जितने चाहें उतने नाम गिना सकते हैं। दूसरी ओर रक्त की परिशुद्धि बनाये रखने के जितने प्रयास किये गये उन सब के भयानक परिणाम हुए हैं।

इतिहास ने इस बात के दर्शन कराये हैं कि यूरोप के उच्चकुलीन वर्ग के लोगों ने अपने आप को जनसाधारण से अलग थलग ही रखने की कोशिश की, उन का या तो पतन हो गया और या वे समाप्त ही हो गये ।

आजकल यह एक सामान्य सी बात हो गई है कि हर आदमी वंश-परम्परा पर बड़ा जोर देता है । जिन बंश-परम्परा के नियमों का उल्लेख किया जाता है हो सकता है उन के कारण आंखों या बालों के रंग में फर्क पड़ता हो, कद में फर्क पड़ता हो, आदमी के स्वभाव और शक्ति में भी फर्क हो सकता है, लेकिन यह बात सरलता से मानी नहीं जा सकती कि उन का आदमी के मानसिक जीवन से भी सम्बन्ध है । मानसिक योग्यता परिस्थिति और शिक्षण का परिणाम होने के कारण प्राप्त किया गया गुण है । इस का कोई प्रमाण नहीं है कि वह पैतृक देन है। दूसरी ओर इस बात के भरपूर प्रमाण हैं कि वह पैतृक देन नहीं हैं । मानसिक योग्यता में समानता का रहस्य उस का पैतृक-देन होना नहीं है, बल्कि सामीप्य है। उदाहरण, शिक्षण तथा एक ही जैसे हालत में होनेवाला अभ्यास पुत्र-पिता में मानसिक समानता होने के लिये पर्याप्त कारण हैं ।

कुछ लोग ऐसे भी हैं जो सोचते हैं कि हम चुने हुए लोगों द्वारा सन्तान उत्पन्न कराकर शीलवान् लोगों की एक नसल ही कायम कर देंगे और इस प्रकार किसी एक जाति की ही नहीं, समस्त विश्व की नैतिक उन्नति को सहज बना देंगे । उस तरह का मत उन्हीं लोगों का हो सकता है जिन्हों ने शील अथवा सदाचार के सम्बन्ध में एकदम मिथ्या-धारणा बना रखी हो । आदमी की शील सम्पूर्ण रूप से उस के मन से सम्बन्धित है । यह व्यक्ति की अपनी प्रवृत्ति और उस की क्रिया-शीलता पर इतनी अधिक मात्रा में आश्रित है कि कोई भी आदमी किसी दूसरे के बारे में तो क्या अपने बारे में भी यह नहीं कह सकता कि वह सदैव नीतिमान रहा है या उस का हर कार्य नीति-आश्रित रहा है । इतना ही नहीं, जो अत्यन्त विकसित नीतिमान मनुष्य है, उस में भी सामान्य मनुष्य की सामान्य अवस्था की प्रवृत्ति इतनी प्रबल रहती है कि जो सदाचार व्यक्तिगत विकास का परिणाम है, वह दूसरी प्रवृत्तियों को दबाकर स्वयं उभर ही नहीं सकता । यदि आदमी को उस की वंश-परम्परा के भरोसे छोड़ दिया जाय, तो वह एक नैतिक प्राणी की अपेक्षा एक पशु की पाशविकता का ही अधिक प्रदर्शन करेगा । संक्षेप में इतना ही कहा जा सकता है कि जैसे प्रतिभा भी वंश-परम्परा का परिणाम नहीं होती, उसी प्रकार मनुष्य की शील-सम्पदा भी पैतृक-दायाद नहीं होती । इस से आगे, पर-म्परा-प्राप्त शील, जिस में शील के कर्तव्य-परायणता, निश्चय करने की स्वतन्त्रता आदि गुणों का अभाव होगा, इस शील का क्या मूल्य होगा ? जिस शीलवान पुरुष को ऊपरी थापा-थापी से जैसे तैसे घड़ दिया है, यदि उस का घड़ा जाना सम्भव भी हो, वह उस पशु से ऊपरी स्तर का नहीं हो सकता, जो सभी कुछ आन्तरिक अभ्यास के फलस्वरूप करता है । आदमी की बौद्धिक और शीलसम्बन्धी संस्कृति

आदमी के जान–बूझ कर किसी आदर्श की ओर अग्रसर होने के प्रयास का प्रतिफल है। इसलिये उस का सम्बन्ध वंश–परम्परा की अपेक्षा उस के शिक्षण से ही अधिक है। आदमी की प्रवृत्ति सतत परिवर्तनशील है, और वह भाषा, कला, कानून तथा संस्थाओं द्वारा उस परिवर्तन को स्थायित्व प्रदान कर देती हैं। इस प्रकार वह नये हालात को जन्म दे देती है। यह परिस्थिति वंशानुगतता की अपेक्षा अधिक महत्व की है। देश–विशेष के नागरिकों का तथाकथित जातीय–स्वभाव भी, कुछ उन का आन्तरिक चरित्र नहीं होता, वह प्रधानरूप से भिन्न भिन्न अनुश्रुतियों का प्रकटीकरण मात्र होता है। अपनी 'वंश परम्परा' नाम की पुस्तक में प्रो. जे. एम. थामसन ने लिखा है कि जो उपयोगी बात हम जोर देकर कह सकते हैं कि आदमी में बड़ी शीघ्रता के साथ परिवर्तन आ रहा है। सामाजिक संस्थान उन परिवर्तनों को साकार कर देते हैं। इस कथन का इस से अधिक कुछ भी अभिप्राय नहीं है कि आदमी प्रमुख तौर पर बनता हैं, वह जैसा होता है, वैसा पैदा नहीं होता। हर बच्चा एक नया आरम्भ है और दुश्शील आदमी का बच्चा भी धर्म–मार्ग पर चलने के लिये उतना ही स्वतन्त्र है जितना शीलवान आदमी का बच्चा । जन्म से हर प्राणी शूद्र होता है, कर्मों के फलस्वरूप ही वह 'द्विज' बनता है। माता के गर्भ से जन्म ग्रहण करने वाला प्रत्येक प्राणी 'शूद्र' उत्पन्न होता है लेकिन उस सामाजिक परिस्थिति का व्यवहारिक पक्ष ही जिस में वह प्रवेश पाता है, उसे 'द्विज' बनाता है।

भले ही हम आदमी और आदमी के बीच जो प्राकृतिक असमानतायें हैं उन से इनकार न भी करें, तो भी हमें उन्हें विचारशील प्राणी होने और नैतिक संभावनाओं से मुक्त होने के कारण परस्पर एक दूसरे के समान स्वीकारकरना पड़ेगा। मानव की प्रगति का उच्चतम आदर्श अपने उन गुणों का विकास तथा तदनुसार जीवन यापन करना है जिन का विकास उच्चतम नैतिक आदर्श की दृष्टि से किया जाना चाहिये। इस से यह आवश्यक हो जाता है कि हम ऐसी सामाजिक व्यवस्था के अस्तित्व को स्वीकार करें जिस में सफलता की योग्यता उच्चतम नैतिक गुणों पर ही आश्रित मानी जाय। इस का स्पष्ट तौर पर यह अभिप्राय हुआ कि कोई भी ऐसे सामाजिक संसार में जन्म ग्रहण नहीं करेगा जिस में एक आदमी अपने आप को ऐसे सामाजिक बंधनों में बंधा हुआ पाये कि वह अपनी योग्यताओं का अधिकतम विकास न कर सके, अपनी इच्छाओं को अधिक से अधिक परिष्कृत न कर सके और अपने व्यक्तिगत पुण्यकर्मों का सम्पूर्ण लाभ न उठा सके। जाति–पांति की व्यवस्था के रहते जो समाज के एक वर्ग को दूसरे से अत्यन्त निम्न कोटि का मानती है, यह स्पष्ट ही है कि उक्त आदर्श को साकार नहीं किया जा सकता। जाति–पांति का अभिमान और अपने वर्ग को दूसरे से पृथक मानना हमेशा से सुशासन के मार्ग में बाधक सिद्ध हुए हैं। भूत काल में वे संसार के अभिशाप सिद्ध हुए हैं और भविष्य में उस के विनाश के कारण होंगे।

यह बहुधा देखा गया है कि जो शासक वर्ग होता है वह यह मानकर चलता है कि उस में शासितों की अपेक्षा आत्म-विकास करने की योग्यता अधिक है। विज्ञान इस प्रकार की स्थापना का समर्थन नहीं करता। विकास के सिद्धान्त की यह एक बात पक्की तौर पर मान्य है कि जो जाति-विशेष के 'ऊंचे' प्राणी हैं उन में यह प्रवृत्ति होती है कि वे घसरकर सामान्य जनों की अवस्था तक पहुंच जायें और जो उसी जाति विशेष के निम्नकोटि के माने जाने वाले जन हैं वे ऊपर उठते उठते ऊंचे प्राणियों की श्रेणी में जा मिलें। इस लिये इस की पूरी सम्भावना है कि जिन लोगों को अब नीचे का या निम्न कोटि का माना जाता है यदि उन्हें समय और अवसर मिले तो वे उन्नत होकर उस श्रेणी-विशेष की सामान्य अवस्था तक पहुंच जायें, बल्कि उसे भी लांघ जायें। और यह भी असम्भव नहीं है कि इस समय जिन का स्तर ऊंचा माना जाता है, उन के वंशज वापिस सामान्य अवस्था तक नीचे घिसर आयें और उस से भी निम्न स्तर पर जा पहुंचें। इतिहास के पास इस के पर्य्याप्त प्रमाण हैं। हम किसी भी दृष्टि से जाति-पांति के प्रश्न पर विचार करें यह कुछ सड़ी हुई जैसी चीज ही है। मानवी स्वभाव के अनुरूप भगवान बुद्ध ने जाति-पांति की शृंखलाओं को तोड़ डाला और मानवमात्र की स्थापना का प्रचार किया। उन्हों ने घोषणा की : "मेरा धर्म सभी के प्रति करुणा का धर्म है। इसे उन्मुक्त रूप में सभी मनुष्यों तक पहुंचाओ। यह भले-बुरे, धनी-निर्धन सब की सफाई करेगा। यह आकाश की तरह असीम है और किसी की भी उपेक्षा नहीं करता। जिस के भी दिल में करुणा बसी है, वह अपने आप को कहेगा, "दूसरों को धर्माचरण करते देखकर मैं आनन्दित होता हूँ, जैसे मैं स्वयं धर्माचरण कर रहा हूँ। जब दूसरे धर्म से वंचित होंगे तो इसे मैं अपनी व्यक्तिगत हानि मानूंगा। हमारे लिये यह बड़ी बात होगी यदि हम बहुत लोगों का उद्धार कर सकें और हमारे लिये यह और भी बड़ी बात होगी, यदि हम उन से दूसरों का उद्धार करा सकें। इस प्रकार सारा विश्व धर्मामृत का पान करेगा और जितने भी प्राणी दुःख के सागर में डुबकियाँ लगा रहे हैं, वे सब बच जायेंगे।"

इसी भावना से ओत-प्रोत होने के कारण बुद्ध-देशना सभी का धर्म बन गई। वह एशिया में भारत, बर्मा, श्री लंका, तिब्बत, चीन तथा जापान के विशाल क्षेत्र में फैल गई। शनैः शनैः यह यूरोप और अमरीका के लोगों को भी अपने प्रभाव के अन्तर्गत समेटती जा रही है। क्या हम यह आशा न करें कि एक दिन आयेगा जब इस धर्म का मानवता-वादी प्रभाव इतनी दूर दूर तक फैलेगा और गहराई तक जायेगा कि वर्ग-विशेष और वर्ण-विशेष के पक्षपात जो अभी भी कहीं कहीं अवशिष्ट हैं, विस्मृति के गर्त में जा गिरेंगे?

पांचवां परिच्छेद

बौद्ध धर्म और स्त्रियां

ऐसे अनेक कुलीन जन थे, जो प्रव्रजित भिक्षु–संघ में सम्मिलित हो गये थे, उन की पत्नियों ने भी प्रव्रजित होकर भिक्षुणियां बनने की इच्छा प्रकट की। सिद्धार्थ गौतम बुद्ध की मौसी और उनकी दाई प्रजापति गौतमी के नेतृत्व में उन्हों ने भगवान बुद्ध से याचना की कि उन्हें भी प्रव्रजित होकर भिक्षुणी–संघ में प्रविष्ट होने की अनुमति दी जाय। अपनी मान्यताओं के अनुसार भगवान बुद्ध उन के प्रवेश को निषिद्ध नहीं ठहरा सकते थे। लेकिन उन्हें डर था कि यदि उन्हों ने स्त्रियों को प्रवेश दिया तो तैर्थिक लोग उन की संस्थाओं की बदनामी न करने लग जायें। इस लिये उन्हों ने प्रजापति गौतमी को परामर्श दिया कि वह श्वेत वस्त्र धारिणी उपासिका बन जाय और शुद्ध पवित्र जीवन व्यतीत करे। इस परामर्श से गौतमी संतुष्ट नहीं हुई। उस ने अपने साथ आई स्त्रियों को परामर्श दिया कि वे स्वयं अपने अपने सिर के बाल मुण्डा लें और मिट्टी के भिक्षा–पात्र ले बुद्ध के पास चलें। सभी ने वैसा ही किया। उन की निष्ठा ने भगवान बुद्ध के निकट रहने वाले महास्थविर आनन्द को प्रभावित किया। उस ने अपनी ओर से उन की वकालत की। तब भगवान बुद्ध ने इस बात को स्वीकार करते हुए कि तथागतों का आविर्भाव केवल पुरुषों के लिये नहीं होता, विशाखा और दूसरी बहुत सी स्त्रियां धर्म–पथ पर आरूढ़ हो गई थीं, पुरुषों के समान स्त्रियों के लिये भी प्रवेश–द्वार खुले हैं, उन्हें प्रविष्ट होने की अनुमति दे दी। इस प्रकार भगवान बुद्ध ने स्त्रियों की स्वतन्त्र सत्ता को स्वीकार किया और उन्हें पुरुषों के साथ बराबरी का दर्जा दिया।

यद्यपि धर्म से किसी भी तरह यह बात बेमेल नहीं थी, क्योंकि धर्म आदमी और आदमी में किसी भी तरह का भेद स्वीकार नहीं करता। एक आदमी गुणों की दृष्टि से विशिष्ट हो सकता है। अन्यथा और किसी भी तरह का विभेद नहीं। तो भी प्राचीन भारत में स्त्रियों की जो गिरी हुई सामाजिक स्थिति थी और जिस ओछी नजर से स्त्रियों की ओर उस समय देखा जाता था, उस को ध्यान में रखते हुए यह निर्णय एक बड़ा साहसिक निर्णय था। प्राचीन भारत शील सम्बन्धी

शिथिलता के लिये बदनाम था। वैदिक पूजा–पाठ में इन्द्रिय लोलुपता को विशेष स्थान था। वैदिक देवता इन्द्र न केवल नशीले सोम रस का बड़ा पियक्कड था, बल्कि बड़ा व्यभिचारी भी था। पौण्डरीक नाम का एक यज्ञ था, जिसमें लैंगिक प्रक्रिया की पूजा होती थी और जिस ने आगे चलकर महादेव–पूजा के नाम से पुरुष–लिंग की पूजा को मान्यता दी। जो पुरोहित अपने आप को भगवत् स्वरूप मानते थे, वे अत्यन्त लम्पटता का जीवन बिताते थे। पुरोहितों पर यह प्रतिबन्ध था कि वह एक खास धार्मिक संस्कार सम्पन्न होते समय किसी दूसरे की पत्नी के साथ दुराचार नहीं कर सकता था, लेकिन यदि उस से विना ऐसा कुछ किये रहा न जा सकता था, तो वह वरुण और मित्र पर दूध चढ़ाकर अपने उस दुष्कर्म का प्रायश्चित्त कर लेता था। स्पष्ट ही है कि स्त्रियों को नीची नजर से देखा जाता था। अनभिरती जातक में एक पुरानी गाथा उद्धृत है जिस का भावार्थ है कि स्त्रियां पानी की प्याऊ की तरह सभी के उपयोग की वस्तु हैं। बुद्धिमान आदमी उन्हें लेकर क्रोधित नहीं होते। महाभारत के आदि–पर्व में लिखा है – 'पुराने समय में स्त्रियां घरों में कैद नहीं रहती थीं। वे अपने पतियों और दूसरे रिश्ते-दारों पर भी निर्भर नहीं होती थीं। वे स्वेच्छा के अनुसार स्वच्छन्द विचरण करती थीं। वे अपनें पतियों के प्रति ही वफादार न रहती थीं। ऐसा करना कुछ बुरा भी नहीं माना जाता था। क्योंकि यही उस समय का रिवाज था। आज बिना किसी इर्षा–द्वेष के पशु–पक्षी उसी तरह के जीवन का अनुसरण करते हैं। महान ऋषियों ने इस प्रकार के जीवन को अनुकरणीय माना हैं। उत्तर कुरु के लोगों में आज भी यह रिवाज प्रतिष्ठित है। इस में कुछ सन्देह नहीं कि स्त्रियों की इस आचार हीनता पर प्राचीनता की मोहर लगी हुई थी!' फिर इसी महाभारत के उद्योग–पर्व में भी है, 'जो उच्च कुलोत्पन हैं, जो शीलसम्पन्न हैं, उन के घरों में भी किसी लड़की का जन्म ग्रहण करना दुर्भाग्य–पूर्ण ही है। लड़कियां जब किन्हीं मान्य कुलों में भी जन्म ग्रहण करती हैं, तो उन के दुर्भाग्य का ही कारण बनती हैं, पितृकुल का, मातृकुल का और जिस कुल में वे विवाहिता बनकर जाती हैं।' अनुशासन पर्व में स्त्रियों के बारे में इस से भी अधिक भद्दी बात लिखी है। विदेह नरेश जनक की पौत्रि सुकृति का कहना है कि 'धर्म ग्रन्थों का यह फतवा प्रसिद्ध ही है कि जीवन के किसी भाग में भी स्त्रिया स्वतन्त्रता का उपयोग करने के लिये योग्य नहीं हैं। उच्च कुलोत्पन्न भी हों और सौन्दर्य–युक्त भी हों और उन के संरक्षक भी हों तो भी स्त्रियां अपनी मर्यादा का उल्लंघन करने के लिये उत्सुक रहती ही हैं। एक स्त्री से बढ़ कर पापिन कोई नहीं है।' 'स्त्रियां भयानक होती हैं, भयानक शक्तिशाली। वे और किसी भी दूसरे व्यक्ति से उतना प्रेम नही करतीं, या उसे उतना पसन्द नहीं करतीं, जितना उस व्यक्ति को जो उन के साथ संभोग करता हैं। स्त्रियां उन मन्त्रों की तरह हैं जो जीवन को ही नष्ट कर डालते हैं। किसी एक की ही संगिनी बनना स्वीकार करने के अनन्तर वे उसे छोड़कर दूसरों

के साथ रमण करने के लिये भी तैयार रहती हैं। जिस दिन लड़की पैदा होती है, उसी दिन से वह दण्डित होना आरम्भ हो जाती है। यदि वह एक लड़की को जन्म देती है, तो लगभग एक महीने तक और यदि एक लड़के को जन्म देती है तो बीस दिन तक वह 'अपवित्र' या 'अस्पृश्य' बनी रहती है।

इस निन्दनीय सामाजिक अवस्था के विरुद्ध बौद्ध धर्म ने जो विद्रोह किया वह सफल हुआ, यह थेरगाथा की अट्ठकथा से प्रमाणित होता है। थेरगाथा ज्येष्ठ बौद्ध भिक्षुणियों की ही रचना है। डा. रीज़ डेविडस का कथन है कि उस थेरी–गाथा की बहुत सी गाथायें न केवल उन के बाह्य रूप की दृष्टि से अत्यन्त मनोरम हैं बल्कि वे उस ऊंची आध्यात्मिक साधना की भी गवाही देती हैं, जिस का आदर्श बौद्ध जीवन से इतना सम्बन्ध था। जिन स्त्रियों ने "भिक्षुणी" की दीक्षा ली, उन में से अधिकांश ऊंची आध्यात्मिक पहुंच के लिये और नैतिक जीवन के लिये प्रसिद्ध हुईं। कुछ स्त्रियां तो न केवल पुरुषों की शिक्षिका तक बन गईं, धर्म की बारीकियों को समझा सकने वाली, बल्कि उन्होंने उस चिरन्तन शान्ति को भी प्राप्त कर लिया था जो आध्यात्मिक उड़ान और नैतिक साधना के ही फलस्वरूप हस्तगत की जा सकती है।

जिस समय भारत में बौद्ध धर्म प्रतिष्ठित था, उस समय भिक्षुणी–संघों की भी भरमार थी। इन भिक्षुणी–संघों में प्रविष्ट हो जाने पर एक स्त्री एक स्वतन्त्र व्यक्ति बन जाती थी, वह किसी पुरुष की पिछ–लग्गी मात्र नहीं रहती थी। श्रीमति रीज़ डेविडस के वर्णनानुसार 'उस का सिर मुण्डा होता था, भिक्षुओं के चीवर जैसे ही उस के चीवर होते थे, वह आने जाने में स्वतंत्र थी, वह जंगलों की ठण्डी छाया में अकेली घूम सकती थी या पर्वतों के शिखरों पर चढ़कर ध्यान भावना में रत रह सकती थी।' जिस माता की संतान नहीं रही, जिस विधवा की कोई सन्तति न थी, रोने धोने वाली वामा, निकम्मी बैठी रहने का कष्ट सहन करने वाली धनी पति की पत्नी, चिन्ताओं और कार्य–भार से लदी हुई गरीब आदमी की पत्नी, वह तरुणी जो इस अपमान को सहन नहीं कर सकी कि उस की अधिक से अधिक कीमत लगाने वाले को वह सौंप दी गई और वह विचार शील रमणी जो परम्परागत रूढिवादिता के नीचे दबी जा रही थी, सभी प्रकार की परिस्थिति से त्रस्त सभी रमणियों को इन भिक्षुणी–संघों में त्राण मिला।

क्योंकि बौद्ध सुधारों का कार्यक्रम एक प्रकार से विकृत समाज अवस्था के विरुद्ध एक नैतिक प्रतिक्रिया थी, इस लिये यह बहुत आवश्यक था कि स्त्री–पुरुषों के सम्बन्धों पर सावधानी से नजर रखी जाय। इस से भी इनकार नहीं किया जा सकता कि स्त्रियां अनेक बार ऋषि–मुनियों के पतन का निमित्त–कारण बनी हैं। इसी वजह से प्राय: सभी धर्मों ने प्राय: स्त्रियों की गरहा ही की है। जैनों के योगशास्त्र का कहना है कि 'स्त्रियां नरक की ओर जानेवाली सड़क पर जलने

वाले प्रदीप हैं ।' फिर उत्तराध्ययन–सूत्र के अनुसार स्त्रियां वे राक्षसिनियां हैं, जिन की छाती पर मांस के दो ढेर उगे होते हैं, जो लगातार उन के दिलों में परिवर्तन लाते रहते हैं, जो आदमियों को निरन्तर अपने जाल में फंसा लेती हैं और इस के बाद उन के साथ ऐसा खिलवाड़ करती हैं, जैसे वे उन के गुलाम हों। धर्म–निष्ट ईसाइयों द्वारा भी औरतों के बारे में ऐसे ही विचार प्रकट किये गये हैं । एक फ्रांसीसी ईसाई–पादरी के 'पवित्र धार्मिक मार्ग–दर्शिका' में लिखा है, "स्त्री क्या है ? सन्त जेरोम का उत्तर है– 'वह शैतान का प्रवेश–द्वार है। वह पाप की ओर जाने वाली सड़क है । वह बिच्छु का डंक है।' अन्यत्र एक दूसरे स्थल पर उसी सन्त जेरोम ने कहा है, 'स्त्री आग है, आदमी रस्सी है और शैतान फौंकनी है।' सन्त मैक्सिमस ने स्त्री के बारे में कहा है, 'वह आदमियों को उजाड़ देती है। वह एक हत्यारी है जो आदमियों को गुलाम बना लेती है। वह एक शेरनी है जो आदमियों को अपनी छाती से लिपटा लेती है । वह एक जल परी है जो आदमियों को विनाशुन्मुख ले जाती हैं। वह एक दुष्ट विकृत पशु है।' और सन्त अनस्तैसियस का कथन है – 'वह एक सर्पिनी है जो चमकदार चमड़ी से ढकी हुई है। वह राक्षसों का सहारा है । वह शैतानों की प्रयोगशाला है। वह जलता हुआ अग्नि–कुण्ड है। वह एक भाला है जो हृदय को बींध देता है। वह एक तूफान है जो घरों को उजाड़ देता है । वह अन्धकार की ओर ले जाने वाली पथ–प्रदर्शिका है। वह सभी बुराइयां सिखाने वाली शिक्षिका है। वही सभी सन्तों की निन्दा करने वाली बेकाबू जबान है।' और सन्त बोनवेनचर ने लिखा है, 'अपने ठाट–बाट के सहित सजी सजाई एक स्त्री शैतान के हाथ में एक तेज़ धार वाली तलवार है।'"

इस में कुछ भी आश्चर्य नहीं किया जाना चाहिये कि यदि भिक्षुओं को स्त्रियों से सावधानी से व्यवहार करने के आदेश दिये गये हों और भिक्षुणियों को पुरुषों से सावधानी से व्यवहार करने के आदेश दिये गये हों । लेकिन बुद्ध वचनों में कहीं भी एक भी शब्द ऐसा नहीं जिस से प्रकट हो कि भगवान बुद्ध ने पुरुषों से स्त्रियों को निम्नस्तर पर रखा है । यदि उन्हों ने सारिपुत्र और मोद्गल्यायन के प्रति आदर प्रदर्शित किया है तो उन्हों ने राजा बिम्बिसार की पत्नी खेमा और धर्मोपदेश देने वाली भिक्षुणियों में प्रमुख धम्म दिन्ना का कम गौरव नहींकिया है।

ईसाइयत की साध्वियों को धर्मोपदेश करने की जैसी स्वतन्त्रता नहीं थी, वैसी भिक्षुओं जैसी ही पूर्ण स्वतन्त्रता भिक्षुणियों को धर्म प्रचार के सम्बन्ध में थी। किसी भी धर्म में किसी ने भी वैसी महत्वपूर्ण जिम्मेदारी नहीं निभाई होगी, जैसी विशाखा ने। सद्धर्म पुण्डरीक सूत्र का कहना है कि जब भगवान बुद्ध अपने शिष्यों द्वारा घिरे हुए पवित्र शिखर पर विराजमान थे, उस समय वहां उन की छह

हजार भिक्षुणियां भी उपस्थित थीं। बौद्ध धर्म ग्रन्थों में भिक्षुणियों का नामोल्लेख पहले होता है, भिक्षुओं का बाद में। भगवान बुद्ध ने भिक्षुओं को स्त्रियों के आकर्षण के सम्बन्ध में सावधान रहने के लिये कहा, इस का यह मतलब नहीं कि भगवान बुद्ध स्त्रियों को स्वाभाविक तौर पर दुष्ट मानते थे। यदि आदमी को किसी चट्टान के प्रति सावधान किया जाय तो इस का यह मतलब नहीं होता कि वह चट्टान ही स्वभावतः दुष्ट है। यदि कुछ लोग अपने आप को बिना चट्टान से नीचे गिरने दिये, चट्टान को देख ही नहीं सकते तो इस में चट्टान का कोई दोष नहीं। यदि दोष है तो उन का ही दृष्टि-दोष है। ऐसे लोगों को चाहिये कि वे चट्टान से दूर रहें। इसी प्रकार यदि कुछ मनुष्य बिना अपने मन में दुष्ट चेतनाओं को स्थान दिये स्त्री की ओर ताक ही नहीं सकते, तो इस में स्त्री का क्या दोष है? दुष्टता का सम्बन्ध मानवी हृदय से है। यदि किसी आदमी का यह विश्वास हो कि स्त्री के शरीर में जो कुछ विशेष है उस के लिये उस के मन में कोई तृष्णा नहीं है, तो वह किसी भी स्त्री के साथ जितना चाहे उतना हिल-मिल सकता है। भले ही वह कोई उपासक हो, या भिक्षु हो। क्या स्वयं तथागत ने जब वे बुद्धत्व लाभ करने के अनन्तर कपिल वस्तु पधारे थे और राजा शुद्धोदन के महल में पैर रखा था, राहुल माता यशोधरा के बाहर आने से इनकार कर देने पर उसी की कोठरी में प्रवेश नहीं किया था। क्या उन्हों ने सारिपुत्र तथा मौद्गल्यायन को जो उन के संगी-साथी थे, यह नहीं कह दिया था कि 'मैं तो राग-द्वेष से मुक्त हूँ किन्तु राजकुमारी अभी नहीं है। इतने लम्बे समय तक उसे मुझे देखना तक नहीं मिला, इसलिये वह अत्यन्त दुखी है। यदि उस के दुःख को रो-गाकर वह निकलने जाने का रास्ता न मिला तो यह उस के लिये अच्छा न होगा। यदि वह तथागत का स्पर्श भी करना चाहे तो तुम उस में बाधक न बनना।' क्यों कि वह बहुधा आदमी की वासना को उभार देती है, इस लिये बुद्ध ने स्त्री की निन्दा नहीं की है। उन्हों ने केवल दुर्बल चित्त मनुष्यों को सावधान किया है कि वे संभल कर रहें ताकि उस के आकर्षण के फंदे में न फँस जायें।

जहाँ तक सिद्धान्त की बात है बुद्ध ने स्त्री-पुरुष दोनों को समान स्तर पर रखा है। लेकिन व्यवहार में स्त्रियों का दर्जा काफी नीचा है। उस की शरीर रचना उसे आदर्श तक पहुंचने देने में विशेष रूप से बाधक सिद्ध होती है। उस महान शान्ति-सुख का अनुभव करने से पहले व्यक्ति को पर्याप्त संघर्ष करके शारीरिक आकर्षण की दुर्बलता से ऊपर उठना पड़ता है। आदमियों में से भी थोड़े ही इस तरह का संघर्ष कर पाते हैं, लेकिन अधिकांश आदमी सुपथगामी होने में समर्थ हैं। लेकिन अनुभव बताता है कि अनेक देवियों में बुद्धि की बहुत कमी रहती है, वे अहंकार में बहुत डूबी रहती हैं और वे इतनी अधिक कमजोर होती हैं कि वे न तो उस प्रकार का त्याग कर सकती है और न उस प्रकार की आत्म-विजय प्राप्त कर सकती हैं, जैसी आत्म-विजय निर्वाण के उच्च-शिखर तक पहुंचने के लिये

अपेक्षित है । यही कारण है कि अनेक बौद्ध कभी कभी कह देते हैं कि इस से पहले कि वे श्रेष्ठ पथ की अनुगामिनी हो सकें, जो पथ उन्हें महान–मोक्ष तक पहुंचा दे सकता है, उन्हें पुरुष का जन्म ग्रहण करना चाहिये । जहाँ तक धर्म की बात है, धर्म स्त्री–पुरुषों दोनों को समान रूप से सामर्थ्य–वान मानता है । यदि स्त्रियों के मार्ग का भी अन्धेरा हट जाय और वे भी प्रकाश देख सकें तो वे भी पुरुषों की तरह अपेक्षित आदर्श का साक्षात्कार कर सकती हैं ।

क्योंकि बौद्धधर्म संयम और साधना का एक मार्ग है, भले ही कोई स्त्री हो, या पुरुष हो यह प्रत्येक व्यक्ति को एक सम्पूर्ण समष्टि मान कर चलता है । इस लिये बौद्ध धर्म, पुरुष और स्त्री के बीच के उस सम्बन्ध के पचड़े में नहीं पड़ता जिसके अनुसार स्त्री पुरुष के जीवन की पूरक है । लेकिन सभी बौद्ध देशों में बौद्ध-धर्म का कुछ ऐसा प्रभाव पडा है कि स्त्रियों को भी सामाजिक जीवन में पर्य्याप्त महत्वपूर्ण स्थान मिला है । उसे सम्पूर्ण स्वतन्त्रता दी गई है और वह किन्हीं भी कठोर बंधनों से बंधी हुई नहीं है । बर्मा के नागरिकों पर बौद्धधर्म के प्रभाव की चर्चा करते हुए श्री टालबॉयेज व्हीलर का कथन है कि "उन की पत्नियों और लड़कियों को भीतरी कमरों में बन्दी बनाकर नहीं रखा जाता, बल्कि वह सभी मनो विनोद के अवसरों पर मुक्त वायु की तरह स्वच्छन्द रूप से उन उत्सवों में सहभागी होने के लिये स्वतन्त्र हैं । बहुधा घर–गृहस्थी में उन का अपना एक स्वतन्त्र स्थान रहता है । वे अपनी जीविका तक स्वतन्त्र रूप से अर्जित कर लेती है और कभी कभी अपने पतियों या माता–पिताओं के धन्धे की भी देख भाल करती हैं । जैसे हिन्दु घरों में होता है उन की प्रेम–क्रीड़ा निरंकुशता के छोटे–गर्म बिस्तरों तक आबद्ध नहीं रहती, वह सामाजिक व्यवहार से विकसित होकर एक स्वतन्त्र और स्वस्थ क्रीडाङ्गन का रूप ग्रहण कर लेती है । देश में प्रेम जताने के कार्यक्रम ने एक स्वस्थ संस्था का रूप ग्रहण कर लिया है । किसी भी दिन सन्ध्या-काल के समय जब किसी कँवारी की इच्छा होती थी कि वह किसी संगी–साथी की बन जाये, तो वह अपने घर की खिड़की में एक दीपक धरकर, अपने बालों में नये फूल गूंथकर एक चटाई पर बैठ जाती है। उसी बीच गांव की तरुण मण्डली अपनी अच्छी से अच्छी वेष–भूषा में गाँव में टहलने निकलती है और जिन जिन घरों में वह देखती है कि लैम्प जल रहा है, वहाँ वहाँ जा पहुंचती है । इस प्रकार सम्बन्ध स्थापित हो जाते हैं । लड़के और लड़कियों के बीच जो विवाह सम्बन्ध उन के सिर पर जबर्दस्ती थोप दिये जाते हैं, उन के बजाय तरुण और तरुणियों के बीच प्रेम–सम्बन्ध जुड़ते हैं । इन विवाहों से न तो माता–पिता को लेना–देना रहता है, न पण्डे–पुरोहितों को । जिस विवाह का आधार परस्पर का प्रेम है, वही कुछ स्थायित्व लिये हो सकता है और एक पुरुष तथा एक स्त्री के बीच जो ऊँचे से ऊँचा रिश्ता जुड़ता है, ऐसा विवाह उसी का साकार रूप है । ऐसे सभी मत, रीति–रिवाज, व्यवहार परम्परायें और ऐसी सभी आकांक्षायें जो शादी विवाह के

कार्यक्रम को किसी भी दूसरी दिशा में झुका देते हैं, वे सब जॉन स्टुअर्ट मिल के अनुसार प्राचीन बर्बरता के अवशेष मात्र हैं।

बौद्ध साहित्य में कहीं भी बाल-विवाह के उल्लेख नहीं आते। जातकों में जहाँ कहीं भी कोई विवाह-प्रकरण आता है, वह आयु-प्राप्त तरुणों और तरुणियों के बीच ही संपन्न होता है। स्त्री-पक्ष की ओर से भी सम्भवत: सोलह वर्ष की आयु शादी-विवाह के लिये सुयोग्य अवस्था मानी जाती थी। ब्राह्मण-वाद के प्रभाव से बाहर ईसा पूर्व छठी शताब्दी में, धर्म की ओर से निरपेक्ष रहकर भारतीयों ने संभोग सम्बन्धित सामाजिक नियमों को स्वीकार कर लिया था। स्मृतियों और गृह सूत्रों के अनुसार जो लड़की अप्रौढ़ होती है, नंगी विचरती है, वह शादी के लिये सर्वथा उपयुक्त होती है। भारतीय इतिहास वृत्त के सभी प्रसिद्ध स्त्री पात्र जैसे दमयन्ती, सावित्री, द्रौपदी, शकुन्तला, मालविका, जो अब्राह्मण वर्ग की थीं, सभी प्रौढ़ आयु की थीं और उन्हें अपने स्त्रीत्व के सम्बन्ध में पूरी चेतना थी। 'स्वयं-वर' तो केवल क्षत्रियों में ही सुप्रचलित था, क्यों कि बुद्धधर्म के संस्थापक स्वयं क्षत्रिय थे और उन के बौद्ध आन्दोलन के प्रमुख लोग भी क्षत्रिय थे, इसलिये उन्हों ने शादी-विवाह के सम्बन्ध में क्षत्रियों में जो विधि प्रचलित थी उसे ही मान्य ठहरा लिया। इसलिये बौद्धधर्म ने न केवल एक पत्नीत्व के पक्ष को प्रबल किया बल्कि विवाह से पूर्व और पश्चात् संयत जीवन का भी समर्थन किया और बाल-विवाह का भी विरोध किया।

बौद्ध देशों में स्त्री-शिक्षा को लेकर कहीं किसी भी बाधा का सामना नहीं करना पड़ता। यद्यपि बौद्ध भिक्षुणियों से यह आशा की जाती है कि वे सांसारिक विधाओं से कम से कम सम्पर्क रखेंगी, लेकिन लिखना पढ़ना सीखना इस परामर्श से बाहर है। गाँव में भी अधिकांश बर्मी स्त्रियां लिखना पढ़ना जानती है। एक बर्मी विदुषी का कथन है कि आरम्भिक वर्षों में लड़कियां स्कूल चली जाती हैं और वहाँ बर्मी भाषा में लिखे हुए – कभी कभी बर्मी तथा पालि मिश्रित भाषा में लिखे हुए धर्म-ग्रन्थ बांचती हैं। यही उन के अध्ययन का आधार होता है। जो कुछ भी वे सीखती हैं, कुशल-अकुशल कर्मों के सम्बन्ध में, शरीर और मन की क्रिया परिपाटी को लेकर, रोग और चिकित्सा के बारे में, वह सभी कुछ उसी मूल स्रोत से आता है जहाँ से श्रद्धा, औदार्य तथा दया का शिक्षण प्राप्त होता है। बर्मी विदुषी के चरित्र की यही विशेषतायें हैं। बहुत सी लड़कियां अपने स्कूल में ही पत्नी के पांचों कर्तव्यों के बारे में जानकारी प्राप्त कर लेती हैं – १) अपने घर को व्यवस्थित रखना, २) आतिथ्य प्रिय होना, ३) पतिव्रता होना, ४) फजूल खर्च न होना, तथा घर के काम-काज में दक्ष तथा परिश्रमी होना। इस प्रकार की सदाचार की शिक्षा के साथ साथ वे घर को संभालने की शिक्षा भी ग्रहण करती हैं। बर्मा के उच्च वर्ग की स्त्रियां भी उद्योग-प्रिय होती हैं और हिन्दु स्त्री के निकम्मेपन की कामना नहीं करती हैं। बर्मा में छिल्लर व्योपार का

बहुत बड़ा हिस्सा स्त्रियों के ही हाथ में है। और स्त्रियां खुद होकर भी अपने ही बल-बूते पर बड़ी बड़ी व्योपारिक यात्रायें भी करती हैं। बर्मा में कुछ ही लोग ऐसे होंगे जो बिना अपनी पत्नी के परामर्श किये बिना कोई बड़ा कारोबार हाथ में लें। श्री. लंका के महावंस नामक इतिहास से यह सुस्पष्ट है कि पुरातन काल में भी श्री. लंका में स्त्रियों को बहुत स्वतन्त्रता प्राप्त थी। स्याम (वर्तमान थाई-लैण्ड) में भी स्त्रियां बड़े बड़े कामों में, विशेषतया सार्वजनिक कर्तव्यों के पालन में अपनी पतियों की सहायता करती हैं। लामाओं के तिब्बत में भी धन्धों और व्यक्तिगत जीवन में भी स्त्रियों को सम्पूर्ण स्वतन्त्रता प्राप्त है। जी. टी. सिबिकाफ नामक रूसी खोजी ने स्त्रियों के बारे में लिखा है, 'स्त्रियों को पूरी पूरी स्वतन्त्रता और आजादी है। वे बिना किसी सहायक के भी बड़े धन्धों की जिम्मेदारी अपने सिर पर उठा लेती हैं।'

बौद्धों में शादी की विधि अत्यन्त सरल हैं। इस के साथ कोई भी उलझे हुए मिथ्या-विश्वास पूर्ण विधि विधान जुड़े हुए नहीं हैं। श्रीलंका, तिब्बत, मंगोलिया, जापान और दूसरे सभी बौद्ध देशों में शादी एक प्रकार का सामाजिक समझौता मात्र है। इस अवसर पर भावी वर-वधु के माता पिता, दूसरे सम्बन्धी और मित्र-मण्डली मात्र उपस्थित रहती है। बर्मा में भी शादी भावी वर और वधु के बीच एक वचन-बद्धता होती है जो कि गांव के मुखिया लोगों की उपस्थिति में संपन्न की जाती है। जब बर्मी स्त्री शादी करती है न वह अपना नाम बदलती है, न कोई शादी का बाह्य चिन्ह अंगूठी आदि पहनती है और न सिर पर कोई वस्त्र-विशेष ओढ़ती है। कोई भी अपरिचित व्यक्ति न उस के नाम से और न उसे देखकर ही यह जान सकता है कि वह विवाहिता है या नहीं और यदि विवाहिता है तो किस की पत्नी है? पत्नी की सम्पत्ति पर पति का कोई अधिकार नहीं होता। जो कुछ भी वह अपने साथ लाती है, या जो कुछ भी वह कमाती है, या जो कुछ भी वह उत्तराधिकार में प्राप्त करती है, सभी कुछ उस का अपना होता है। वह न केवल अपनी सम्पत्ति की ही नहीं, बल्कि अपने आप की भी पूरी मालकिन होती है। हिन्दुओं में स्त्री सदैव पराधीन तहती हैं। बचपन में अपने माता-पिता पर, तरुणाई में अपने पति पर और बूढ़ी होने पर अपने पुत्रों पर आश्रित रहती है। यूरोप में शादी होने पर एक स्त्री का नाम लुप्त हो जाता है। वह केवल अमुक की पत्नी मात्र रह जाती है। बर्मा में शादी होने पर भी स्त्री स्वयं अपनी मालकिन रहती है, वह अपने पति की सहयोगी मात्र होती है। श्री. टी. जी. स्काट के इस कथन में कुछ भी अतिशयोक्ति नहीं जब वे कहते हैं कि 'जिन अधिकारों के लिये विदेशी स्त्री अभी छटपटा रही हैं, उस की बर्मी-बहन उन अधिकारों का पहले से उपभोग कर रही है।'

बौद्ध धर्म का केन्द्र-बिन्दु या उस का हृदय ही है व्यक्ति की अकाट्य पवित्रता। किसी भी आदमी को एकान्त आज्ञा पालिता के जाल में बंधवा बनकर रखने

के यह विरुद्ध हैं । सर्वोपरि नियम है मैत्री । बौद्ध–विहारों का जो नियम–बद्ध जीवन है, वह स्वतन्त्रता का जीवन है । कोई भी ऐसा बन्धन जो भिक्षु अपने लिये स्वीकारता है, वह उस का अपने पर लागू किया गया उस का अपना बन्धन होता है । नियम–पालन करने से ही स्वतन्त्रता का मधुर फल चखने को मिलता है । विहारों के विहाराधिपति या नायक की आज्ञाओं का पालन दूसरे भिक्षु जो करते हैं, वह प्रायः उस ज्येष्ठ भिक्षु के या तो पाण्डित्य या परिशुद्ध जीवन की स्वीकारोक्ति मात्र होता है । भिक्षु संघ में प्रवेश के अवसर पर भिक्षु जो अनेक शीलों को ग्रहण करता है, उन में एक भी ऐसा नहीं होता, जिस के द्वारा वह किसी की भी आज्ञा का पालन करने के लिये वचन–बद्ध होता हो । इस तरह का धर्म दूसरे धर्मों की तरह पति–पत्नी के बीच किसी भी हालत में भंग न किये जा सकनेवाले सम्बन्ध की कल्पना ही कैसे कर सकता है ? इसलिये सभी बौद्ध देशों में शादी का आदर्श यही है कि यह प्यार और प्रेम का बंधन है, और जब ये न रहें तो यह सम्बन्ध टूट जाना चाहिये । विवाह–बंधन से छूट न पा सकना सभ्यता की श्रेष्ठता का सूचक नहीं है, बल्कि अभी भी पृथ्वी–तल पर विद्यमान, अत्यत्त अविकसित असभ्य लोगों की निम्नतम चारित्रिक कमी का लक्षण है । रोमांचकता तथा ब्राह्मण–वाद के अनुयाइयों को इस बात से संतोष हो सकता है कि अण्डमान के नागरिक उन के जैसे ही हैं, सिंहल–द्वीप के वेद्द उन के जैसे ही हैं, फिलिपाइन के इगोरोटस और इटलोन उन्हीं के जैसे हैं और न्यू गिनी के पापुवन भी उन के जैसे ही हैं । लेकिन जितनी भी प्रगतिशील जातियां हैं उन्हों ने विवाह–सम्बन्ध से मुक्त न हो सकने के विचार को मिथ्या विश्वास कह ठुकरा दिया है । बर्मा में ठीक कारण बता सकने पर विवाह–सम्बन्ध का कभी भी अन्त किया जा सकता है, दोनों पक्षों में से किसी भी एक पक्ष द्वारा । विवाह–सम्बन्ध का उच्छेद करने के लिये जो कारण पर्याप्त माने जाते हैं, वे उन कारणों से भिन्न हैं, और संख्या की दृष्टि से अधिक हैं, जो कारण प्रायः यूरोप में दिये जाते हैं । शराब पीना, अफीम खाना, स्वभाव की प्रतिकूलता, कठोर तथा अप्रिय वाणी, फिजूल–खर्च होना – यदि प्रमाणित हो जायें, तो बड़े लोगों के लिये ये सभी कारण तलाक की मंजूरी के लिये पर्याप्त कारण गिने जाते हैं । इस आजादी के बावजूद बर्मा में विवाहित लोगों की संख्या के अनुपात में तलाक लेने–देने वालों की संख्या बहुत कम हैं, दूसरी ओर तलाक ले दे सकने की स्वतन्त्रता ने स्त्रियों तथा पुरुषों – दोनों पक्षों – को एक दूसरे प्रति व्यवहार करने में बड़ा सावधान बना दिया है ।

कुछ लेखकों का मत है कि विधवाओं का सिर मूण्ड कर जो उन्हें बदशक्ल बना देने का रिवाज है, वह बौद्धधर्म के प्रभाव का परिणाम है । यह अन्दाजा लगाया जाता हैं कि इस रिवाज का मूल उस मजबूरी में है जो विधवाओं के जीवन को भिक्षुणियों के जीवन के अनुकरण पर संयमित बनाने की रही । यदि ऐसा होता

तो हमें जिन लोगों पर बौद्ध धर्म का प्रभाव अधिक मात्रा में रहा है, उन में यह प्रथा विशिष्ट मात्रा में दिखाई देनी चाहिये थी । तो भी बर्मा में जहाँ बौद्धधर्म अभी भी अपने आदिम जोबन पर है और जहाँ इस समय भी भिक्षुणियां हैं, किसी भी विध्वा को सिर मुण्डाने के लिये मजबूर नहीं किया जाता । किसी भी बौद्ध देश में हम यह नहीं पाते कि विध्वाओं को जोर जबर्दस्ती बदसूरत बना डाला जाय । भारत में भी जहाँ जहाँ बौद्ध धर्म का प्रभाव अभी भी बचे खुचे रूप में विद्यमान हैं जैसे तेंगलाई के वैष्णव ब्राह्मणों में, दक्षिण भारत के सातनियों में, बङ्गाल में चैतन्य महाप्रभु के अनुयाइयों, में, जो स्त्रियों को अपने गोसाइयों में दीक्षित करते हैं, विध्वाओं के सिर नहीं मूण्डे जाते हैं । इसलिये हमें इस नामुराद प्रथा के मूल की तलाश अन्यत्र कहीं करनी चाहिये। मृत पित्रों को भोजन कराने (श्राद्ध करने) की प्रथा की तरह, मासिक धर्म के समय औरतों को पृथक रख देने की तरह, विध्वाओं के सिर मुण्डाने की प्रथा का भी मूल भूत–प्रेतों के विश्वास में है । जितनी भी असभ्य तथा अर्ध–असभ्य जातियां हैं, उन में यह विश्वास विद्यमान है कि मरे हुए लोगों के प्रेत सम्बन्धित स्थानों और लोगों के आसपास मण्डराते रहते हैं और इस लिये वे ऐसे मन्तर–जन्तर–टोटके करते हैं जिन से वे प्रेत अपने स्थानों का त्याग कर दें । यह माना जाता है कि मृत व्यक्ती का प्रेत उस की विध्वा के शरीर से सटा रहता है, खास तौर पर उस के बालों में उलझा रहता है, इस लिये यह माना जाता है कि किसी व्यक्ति–विशेष के प्रेत को यदि भगाना हो तो उस का सर्व श्रेष्ठ उपाय है कि उस की विध्वा के बालों को मुण्डा डालना । वास्तव में अभी भी यदि कोई भारतीय मान्त्रिक किसी आदमी के शरीर से किसी ऐसे भूत–प्रेत को भगाना चाहता है, जिस ने उसे दबोच लिया है, तो अपने जन्तर–मन्तर के अन्तिम हिस्से में वह उस व्यक्ति के सिर के कुछ बालों को छाँट देता है ।

बुद्ध–धर्म पर एक आरोप प्राय: लगाया जाता है कि इस की शिक्षायें पारिवारिक जीवन के लिये खतरनाक है । क्यों कि वे लोग जो इसे पूरी तरह अपनाते हैं, विवाह नहीं करते । जो पहले से विवाहित होते हैं, वे अपने माता–पिता, बीबी बच्चों का त्याग कर बेघरवाले हो जाते हैं । यह कोई नया आरोप नहीं है । बौद्ध ग्रन्थों में लिखा है कि राजगृह के लोग भिक्षुओं की आलोचना करते थे कि वे कुलपुत्रों को गृहत्यागी बनने की प्रेरणा देते हैं और इस प्रकार अनेक परिवारों को उजाड़ रहे हैं । जब भगवान बुद्ध को इस आलोचना से सूचित किया गया तो भगवान बुद्ध ने कहा कि जब कोई इस विषय में तुम्हें कुछ कहे तो तुम उत्तर में कहो कि "तथागत सत्य के उपदेश के माध्यम से लोगों का मार्ग–दर्शन करते हैं । वे लोगों को आत्मसंयम, धर्माचरण और शुद्ध हृदय रखने का उपदेश देते हैं ।" आत्मसंयम, धर्माचरण और परिशुद्ध मन के हित में यह अनिवार्य है कि आदमी सभी इन्द्रिय सुखों का त्याग कर दे और सम्पूर्ण ब्रह्मचर्य का पालन करे । यदि

स्वेच्छापूर्वक ब्रह्मचर्य का पालन करने से पारिवारिक जीवन का अन्त हो जाता है तो यह कोई बड़ी हानि नहीं है क्यों कि ऐसा करने से सच्ची पवित्रता और सम्पूर्णता की प्राप्ति होती है । न केवल बौद्ध धर्म बल्कि सभी धर्मों ने ब्रह्मचर्य पर जोर दिया है । वर्तमान सभ्यता भी ब्रह्मचर्य्य को ओछी नजर से नहीं देखती । वर्तमान मान्यताओं के हिसाब से पुरुष तथा स्त्री का मिलना इतना अधिक भावना का विषय है कि उसे आदमी का एक सामाजिक कर्तव्य नहीं माना जा सकता । विवेकशील लोग यह नहीं मानते कि हर किसी को जोर जबर्दस्ती शादी करनी ही चाहिये । तो भी यह पूछा ही जा सकता है कि यदि सभी संभोग शैय्या से दूर ही दूर रहें तो नृ–वंश का क्या होगा ? क्यों कि नृ–वंश को बनाये रखने का माध्यम यह प्रक्रिया ही है । क्या अच्छा होगा कि लोग स्वच्छ मन से, निस्स्वार्थ भाव से और बड़े उत्साह से ऐसा करें और इस प्रकार धर्म–राज्य के नागरिक बन जायें और मार के राज्य की सीमा से बाहर हो जायें । क्या यह अच्छा नहीं होगा कि युद्ध, अत्याचार, दरिद्रता, अकाल, प्लेग और दूसरी महामारियों से नृ–वंश का नाश होने की बजाये उक्त श्रेष्ठतर विधि से मानवता का नाश हो ? किसी महाकवि का कथन है –

जैसे तैसे जीते रहना ही कोई बहुत बड़ा श्रेष्ठ आदर्श नहीं है।

▣ ▣

छठा परिच्छेद

चार महान आर्य सत्य

धर्म की प्रधान शिक्षा भगवान बुद्ध द्वारा संक्षेप में चार मान्यताओं के माध्यम से दी गई है। ये सामान्यतया चार महान सत्यों के नाम से सुविदित हैं। वे थोड़े में बौद्ध-दर्शन तथा बौद्ध नैतिकता का समावेश कर लेती हैं। वे चारों स्थापनायें हैं-

पहला महान् सत्य है कि चेतन जीवन की सभी स्थितियां और सभी अवस्थायें पीड़ा और कष्टों अर्थात् दुःख से समन्वित हैं। जन्म लेना दुःख है, बुढ़ापा दुःख है, रोग दुःख है, मृत्यु दुःख है। जो कुछ हम इच्छा करते हैं उस की अप्राप्ति दुःख है, जिस की हम इच्छा नहीं करते उस की प्राप्ति दुःख है और जो कुछ हमें प्रिय है, उस का वियोग सब से बड़ा दुःख है।

दूसरा महान् सत्य है कि इस दुःख का कारण तृष्णा है, आत्मार्थ का जीवन जीने की बलवती आकांक्षा। अपने चारों ओर की परिस्थिति से उत्पन्न वेदनायें एक पृथक अपने आप का भ्रम पैदा करती हैं। यह भ्रामक आत्मा अपनी क्रियाशीलता का प्रदर्शन अपनी स्वार्थ-मूलक इच्छाओं की पूर्ति के रूप में प्रकट करता है, जो कि आदमी को कष्टों और दुःख के मायाजाल में फंसा लेती हैं। जीवन के तथाकथित मजे वे सुमधुर ध्वनियां हैं जो आदमी को दुःख की ओर आकर्षित करती हैं।

तीसरा महान् सत्य है कि तृष्णा के त्याग से ही दुःख का निरोध संभव है। जब तृष्णा का सर्वनाश होता है, तभी दुःख का अनिवार्यतः अंत होता है। जितनी तृष्णा है उस की जननी इच्छा है और जब तक इस की पूर्ति नहीं होती यह दुःख ही देती रहती है। जब इस की पूर्ति भी हो जाती है, यह पूर्ति स्थायी नहीं होती, क्योंकि यह पूर्ति नई इच्छाओं को जन्म देती है और उसी से नयी नयी चिन्ताएँ उत्पन्न होती हैं। आदमी का समस्त सार ही कभी न बुझने वाली हजारों इच्छाओं की प्यास मात्र है। बिना इस प्यास से मुक्त हुए वह दूसरे किस उपाय से दुःख से मुक्ति लाभ कर सकता है?

चौथा महान् सत्य है कि आर्य अष्टांगिक मार्ग पर चलने से आदमी सभी स्वार्थ-मयी इच्छाओं से मुक्त हो सकता है और दुःख से पूर्ण लाभ प्राप्त कर सकता है। जो धर्म की गहराई में उतराई है, वह सम्यक् मार्ग पर चलेगा ही और उस का मोक्ष-लाभ सुनिश्चित है।

ये चार महान आर्य-सत्य बौद्ध धर्म के सिद्धान्त कहला सकते हैं। किन्तु इस का यह मतलब नहीं कि इन के बारे में कोई खोज-बीन की ही नहीं जा सकती। ऐसा कठमुल्लापन जो जांच पड़ताल भी नहीं करने देता वह तो किसी साधक को उस के परमार्थ की ओर आगे बढ़ाने की बजाय साधक को उस के अपने कर्तव्य की ओर से विमुख कर देगा और आर्य-पथ से पथ-भ्रष्ट कर देगा। भगवान बुद्ध ने यह कहीं भी नहीं कहा है, 'खोजबीन करने से बचो, क्योंकि यह तुम्हें ऐसे स्थल पर पहुंचा देगी जहाँ कोई प्रकाश नहीं है, कोई शान्ति नहीं है, कोई आशा नहीं है, यह तुम्हें गहरे गड्ढे में ले जाकर पटक देगी, जहाँ न सूर्य्य है, न चन्द्रमा है, जहाँ न तारे हैं और न सौन्दर्य-पूर्ण आकाश है। इन की बजाय वहाँ है ठण्ड, बंजर भूमि और स्थायी विनाश।' इस के विरुद्ध यह स्पष्ट तौर पर घोषित किया गया है कि जिस का तर्क से मेल नहीं बैठता, ऐसी कोई भी बात बुद्ध की शिक्षा हो ही नहीं सकती, ऐसी कोई भी बात जो तर्क की कसौटी पर कसी नहीं जा सकती। एक धार्मिक 'अधिकार वाणी' का विचार धर्म से बेमेल है, क्योंकि धर्म की शिक्षा ही है कि हर आदमी स्वयं अपने आप शिल्पी है और स्वयं अपने आप को संरक्षण प्रदान करने की सामर्थ्य रखता है। यह मान बैठना कि मनुष्य से बाहर कोई एक ऐसी अधिकार-वाणी हो सकती है, जिसका कोई धार्मिक मूल्य हो, बचकाना बात है। जिसे 'अधिकार' कहते हैं वह या तो किसी एक ऐसे आदमी के लिये होता है जिसे आदमी अज्ञात मन से ऐसा स्वीकार कर लेता है और जिस के बारे में वह स्वयं यह नहीं जानता कि कोई उसे ऐसा करने की प्रेरणा क्यों दे रहा है, या सोच समझकर ऐसी मान्यता को स्वीकार करता है। आखिरकार यह किसी के मन और चेतना का झुकाव ही है जो किसी की अधिकारवाणी को शक्ति प्रदान करता है। एक ईसाई पादरी की तरह एक भिक्षु कभी 'अधिकार वाणी' का प्रयोग नहीं करता और वह स्वयं भी किसी 'अधिकार-वाणी' के सामने सिर नहीं झुकाता। भगवान् बुद्ध ने जब साधक के सम्मुख अविद्या के नाश और विद्या की प्राप्ति का आदर्श उपस्थित किया है तो किसी 'अधिकार वाणी' में विश्वास करना और बिना समझे-बूझे किसी भी बात को मान बैठना निष्प्रयोजन है। बौद्ध धर्म का सिद्धान्त किसी भी यथार्थ विज्ञान की तरह यथार्थ बातों का लेखा-जोखा है।

कोई भी आदमी इस बात से इनकार नहीं कर सकता कि समस्त चेतन जीवन दुःख से सना हुआ है। हम ऐसे संसार में जी रहे हैं जो बुराइयों और दुःख से

भरा है। यदि दुःख न होता, तो जो जीवन संघर्ष सदा से चला आ रहा है और सर्वत्र दिखाई दे रहा है, उस जीवन-संघर्ष की कहीं आवश्यकता न होती।

जो वैसी ही स्थिति में हैं उन पशुओं की बात को रहने भी दें तो भी भूख और भय ही अधिकांश मानवों के संगीसाथी हैं। व्यक्तिगत अनुभवों से और इतिहास से भी यह सिद्ध होता है कि मनुष्य को सांत्वना देने के लिये जिस आशावाद का आविष्कार किया गया है, उस से बढ़कर कोई मूर्खतापूर्ण बेहूदा बात नहीं। कोई कितना भी कट्टर से कट्टर आशावादी हो, यदि वह अपनी आंखें खोल कर देखेगा तो वह जिस दुःख और कष्ट से मानव घिरा हुआ है, उस की अधिकता देखकर भयभीत हो उठेगा। वह हस्पतालों का एक चक्कर लगा ले, वह कुष्ठ-रोगियों के बीच से गुजरे, वह आपरेशन के कमरों को देखे, वह पश्चाताप करने की जगहों पर ठहरे, वह कालकोठरियों में रुके, वह गुलामों के निवास-स्थानों को देखे, वह उन स्थलों पर जाये जहाँ प्राणियों को त्रास दिया जाता है और उन का बध किया जाता है और युद्ध-भूमियों के चक्कर लगाये और तब वह अपने आप से प्रश्न करे कि क्या यही सर्वोत्कृष्ट संसार है?

शापनहार ने जीवन के दुःखों का विषद वर्णन किया है –

'अचेतन अवस्था की रात्रि से जागने पर आदमी की चेतना अपने आप को एक व्यक्ति के तौर पर एक अनन्त असीम संसार के अनगिनत व्यक्तियों से घिरा पाती हैं, जो सभी संघर्ष-रत होते हैं, सभी कष्टप्रद जीवन व्यतीत कर रहे होते हैं, सभी गलतियां कर रहे होते हैं। ऐसा लगता है कि वे कोई भयानक अप्रिय स्वप्न देख रहे होते हैं। यह शीघ्र ही अपनी पुरानी अचेतन अवस्था को प्राप्त हो जाती हैं। हां, उस समय तक इस की इच्छायें असीमित रहती हैं, इस की मांगें अनन्त होती हैं, और प्रत्येक संतुष्ट हुई इच्छा एक नई इच्छा की जननी बन जाती है। संसार में कोई भी ऐसी संतुष्टि नहीं होती जो इस की तृष्णा को शान्त कर सके, इच्छाओं को पूर्ण विश्रान्ति दे सके और हृदय की अनन्त गहराई में उतरकर उस के अभाव को भर सके। और इस बात पर भी विचार करें की सामान्यतया आदमी जो संतोष प्राप्त करता है, वे भी इस अस्तित्व को बनाये रख सकने के अतिरिक्त और कुछ नहीं हैं। इस के लिये भी आदमी को लगातार श्रम करना पड़ता है, सतत चिन्तित रहना पड़ता है अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति के लिये। वह उस रथ में सवार होता ही हैं, मृत्यु जिस का संचालन करती है, जीवन की प्रत्येक वस्तु इस बात का संकेत देती है कि इस पृथ्वी पर की प्रत्येक खुशी एक छलावा सिद्ध होनेवाली हैं। वस्तुओं का जो अपना स्वरूप है, उसी की गहराई में इस के कारण निहित हैं। इस तरह से हम में से बहुतों का जीवन दुखी और अल्पकालीन ही प्रमाणित होता है। सापेक्ष दृष्टि से जो लोग प्रसन्न दिखाई देते हैं, या तो उन की प्रसन्नता एक ऊपरी

दिखावा मात्र होती है, या दीर्घजीवी व्यक्तियों की हालत में दूसरों को फंसाने के लिये एक भुलावा मात्र ।

छोटी बड़ी सभी बातों में जीवन एक बड़ा धोखा ही प्रमाणित होता है। यह कोई आशा दिलाता है, तो उस की पूर्ति नहीं होती । यदि पूर्ति होती है तो केवल यह बताने के लिये कि जिस की हम कामना करते थे, वह वस्तु कुछ कामना करने लायक थी ही नहीं । इस तरह कभी तो आशा, कभी आशा की पूर्ति की आशा ही हमें ठगती रहती है । यदि यह कुछ देती है, तो केवल वापिस ले लेने के लिये। दूरी का आकर्षण स्वर्ग सदृश होता हैं । जब हम अपने आप को उधर खिचने देते हैं तो जैसे उस समय हम आंखों के धोखे के द्वारा धोखा खा जाते हैं । इस प्रकार सुख के क्षण या तो भूतकाल में थे, या भविष्यत् में आयेंगे और वर्तमान तो उस काली बदली के समान है जो थोड़ी देर के लिये सूर्य को ढक लेती है । इस के पहले और इस के बाद सभी कुछ चमकता है, केवल यही अपनी छाया से सब कुछ ढक लेता है । इसलिये वर्तमान कभी भी सन्तोष-प्रद नहीं होता, भविष्यत् अनिश्चित् रहता है, और बीता हुआ कल लौट कर आता नहीं । प्रत्येक घण्टे, प्रत्येक दिन, प्रत्येक सप्ताह, प्रत्येक वर्ष जीवन का जो छोटे बड़े दुर्भाग्यों से मुकाबला होता रहता है जो हमारी सभी आशाओं को झुठलाकर उन पर पानी फिरता रहता है, वह स्पष्ट तौर पर हमारे मन पर यही संस्कार डालता है कि जीवन कुछ ऐसी ही वस्तु है जिस से घृणा हो जाना स्वाभाविक है। यह समझना कठिन होता है कि कोई भी आदमी गलती से भी ऐसा कैसे सोच या समझ सकता है कि यह जीवन ईश्वर को धन्यवाद देते हुए जीने लायक है और प्रसन्न रह सकना आदमी के भाग्य में है । दूसरी ओर निरंतर खाये जाते रहे धोखे और निराशायें तथा जीवन का ढांचा ही ऐसा है कि यही समझ में आता है कि इन की रचना केवल इस लिये हुई है कि ये हमारे इस मत को दृढ़ कर दें कि जीवन में कहीं भी, कुछ भी ऐसा नहीं है जिस की प्राप्ति के लिये आदमी प्रयास करे, कोशिश करे और संघर्ष करे । सारा साजोसामान शून्य के बराबर है, संसार दीवालिया है और जीवन एक ऐसा धन्धा है जो अपना खर्च तक नहीं चला सकता । इस लिये यही योग्य है कि आदमी इस की ओर से मूंह मोड़ ले । अपनी कामना की जितनी भी वस्तुए हैं वे अपने अहंकार को सर्व प्रथम समय या काल के रूप में प्रकट करती हैं । यह समय ही है जिस के माध्यम से पदार्थों की अहमन्यता अनित्यता के रूप में प्रकट होती है । क्योंकि समय के माध्यम से ही हमारे सभी मौज-मेले शून्य में परिणित हो जाते हैं । तब हम चकित होकर पूछते हैं कि उन का क्या हुआ ? इसलिये हमारा जीवन उस रकम की तरह है जो हमें तांबे के सिक्कों के रूप में मिलती है और अन्त में हमें जिस की रसीद देनी पड़ती है । तांबे के सिक्के ही वे दिन हैं और मृत्यु रसीद है । क्योंकि अन्त में समय उन सभी चीजों को नष्ट करके प्रकृति के निर्णय द्वारा उन की कीमत की घोषणा कर देता है ।

बुढापा और मृत्यु ही वे दो अवस्थायें हैं जिन की ओर प्रत्येक जीवन द्रुत गति से पैर आगे बढ़ाता है । आदमी की जो जीने की आकांक्षा है उस पर ये दोनों घोषित किये गये दण्ड हैं, सज़ायें हैं । स्वयं प्रकृति द्वारा घोषित किये गये दण्ड यह बात प्रकट करते हैं कि यह जीवन संघर्ष कर रहा है और इस की अन्तिम पराजय सुनिश्चित है । इस का कहना है कि तुम ने जो भी इच्छा की उस का यही अवसान होने वाला था ।

हम में से हर कोई अपने अपने जीवन से जो शिक्षा ग्रहण करता है वह यही है कि उस की इच्छा की वस्तुएँ उसे लगातार धोखा देती रहती हैं, कम्पायमान होती हैं और भूमि पर गिर पड़ती हैं । वे उतनी आनन्ददायक सिद्ध नहीं होती, जितनी पीड़ा दायक । आखिर अन्त में वह तमाम पृथ्वी जिन पर वे खड़ी होती हैं वे ही पैरों के नीचे से निकल जाती हैं और स्वयं जीवन का विनाश हो जाता है । तब उसे अन्तिम तौर पर इस बात का बोध हो जाता है कि वह जो कुछ भी चाहता रहा है और उस के लिये जो भी खटपट करता रहा है, वह सभी कुछ एक बड़ी गलती थी, एक बड़ी भूल थी ।

कहने को इस के विरुद्ध कुछ भी कहा जाय तो भी जो सर्वाधिक सुखी मानव है उस के जीवन का सर्वाधिक सुख का क्षण वही होता है जब उसे नींद आ जाती है, और जो दुखी मानव हैं उन में जो सर्वाधिक दु:खी मानव होता है उस के जीवन का सर्वाधिक दु:ख का क्षण वही होता है जब वह जागृत अवस्था में होता है ।

जीवन के भयानक दु:खद होने के बावजूद आदमी निराश और दुस्साहसी नहीं हो जाता । अपने जीवित प्राणी होने के स्वभाव के अनुरूप वह अपने आप को बनाये रखने के लिये सतत प्रयत्नशील है । सभ्य बन जाने के सभी प्रयत्नों के बावजूद आदमी केवल आत्म–मुक्ति के लिये ही प्रयत्नशील है, दु:ख और कष्ट से मुक्ति, सीमा–बद्ध होने से मुक्ति, निर्दयतापूर्ण कलहों से मुक्ति और मृत्यु से मुक्ति । आदमी जिसे सुख और आनन्द कहता है वह सिवाय कष्टों से तथा अपनी दुर्बलता से, अपनी सापेक्षता से, अपनी अपूर्णता से मुक्ति के अतिरिक्त और कुछ नहीं । हम सुख या आनन्द के वास्तविक स्वरूप के बारे में कुछ भी नहीं जानते । हर सुख या आनन्द की पूर्वगामिनी कोई न कोई इच्छा या कामना रहती है । इच्छा या कामना की संतुष्टि के साथ सुख या आनन्द की समाप्ति हो जाती है । हमें जो कुछ सीधे सीधे प्राप्त है, वह इच्छा या कामना भर है, अर्थात् कष्ट मात्र । आदमी की जब सभी दूसरी इच्छाओं की पूर्ति हो जाने पर भी उस की एक इच्छा अपूर्ण ही रहती है । आत्म–रक्षा के लिये स्वाभाविक आन्तरिक चाह ने उस के भीतर परिवर्तन रहित मृत्यु विहीन जीवन की कामना को जन्म दे दिया है । बुढापे और मृत्यु से मुक्त जीवन की कामना को । इस इच्छा की पूर्ति कैसे

हो सकती है ? आदमी मृत्यु के अनिवार्य फंदे से कैसे बचा रह सकता है ? जीवन संघर्ष से जो सतत परिवर्तन शीलता जुड़ी हुई है उस के बावजूद जीवन का सातत्य कैसे बना रह सकता है ? यही धर्म या मजहब की सार्वत्रिक समस्या है। हर जगह आशा और आकांक्षा के रूप में धर्म आदमी की आत्म-रक्षण की जो अन्तः प्रेरणा है, उस का प्रदर्शन करता है। जहाँ भी आदमी को ऐसी परिस्थिति से सामना करना पड़ता है, जिसे वह अपने अनुकूल नहीं बना सकता, बल्कि जिस के अनुकूल उसे स्वयं बन जाना पड़ता है, ऐसे सब अवसरों पर धर्म आ धमकता है। धर्म या रीलिजन शब्दों के यथार्थ को लें तो उन्हें सृष्टि के मूल या उद्देश्य से कुछ लेना-देना नहीं है। प्रो. ल्यूबा का कथन है, "खुदा नहीं, किन्तु जीवन, अधिक जीवन, अधिकतर जीवन, विशाल तर, अधिक संतोषप्रद जीवन ही धर्म के विश्लेषण के अनुसार उस का अन्तिम उद्देश है। यथार्थ अन्तर्दृष्टि और प्रज्ञा के बल पर भगवान बुद्ध ने कहा था, "क्या मैं ने तुम्हारे सामने किन्हीं विशेष रहस्यों का उदघाटन करने की बात कही है ? मैं ने तुम्हें वचन दिया है कि मैं तुम्हारे सामने यह रहस्य प्रकट कर दूंगा कि दुःख क्या है ? दुःख का समुदय कैसे होता है ? दुःख का निरोध कैसे होता है और दुःख-निरोध की ओर ले जाने वाला मार्ग कौन सा है ? भिक्षुओ, जैसे समुद्र-जल का एक ही रस होता है नमकीन-रस उसी प्रकार मेरी देशना का भी एक ही रस है विमुक्ति-रस।"

धार्मिक विचारों का सम्बन्ध विश्व को समझने या न समझने से नहीं है। विश्व नित्य है या नहीं है ? विश्व असीम है या नहीं है ? क्या आत्मा और शरीर एक ही है या भिन्न भिन्न हैं ?– ये अव्याकृत प्रश्न हैं। लोग चाहें तो इनका उत्तर पाने के लिये परस्पर सिर कुटव्वत करते रह सकते हैं। किन्तु निश्प्रयोजन। इन प्रश्नों के उत्तर पाने के प्रयास का वही फल होगा जैसा उन अन्धों की कथा में है जिन्हों ने हाथी के एक एक अंग का स्पर्श कर उसका आंशिक वर्णन करने का प्रयास किया था। इस प्रकार के प्रश्नों की चर्चा व्यर्थ की माथा पच्ची है। 'यह जंगल है, यह कान्तार है, यह कठपुतली का तमाशा है, यह तड़पन है, यह कल्पनाओं का जाल है और यह जुड़ा हुआ है दुःख से, मरोड़ने से, विरोध से, उत्तेजना के ज्वर से। इन प्रश्नों की चर्चा करने से न चित्त की शान्ति की प्राप्ति होती है, न वासना से मुक्ति मिलती है, न प्रज्ञा मिलती है और न मार्ग-फल का ज्ञान प्राप्त होता है और न अर्हत्व का लाभ होता हैं।'

अपने सम्पूर्ण जीवन को, ऐसे जीवन को जिस में दुःख का लवलेश न हो और जो मरण से मुक्त हो खोज निकालने के प्रयास में, आदमी अज्ञान के वशीभूत होकर अपनी ही कल्पनाओं का स्वयं शिकार हो गया है। अपने मृत्यु-विहीन जीवन की आकांक्षा की पूर्ति के लिये उस ने नित्य आत्माओं की कल्पना की, जो शरीर-भंग होने पर भी बनी रहती हों। उस अज्ञात के सहारे, जिस पर अपनी इच्छाओं की पूर्ति के लिये वह बुरी तरह निर्भर था और जितना कुछ भी वह जानता था,

उस ज्ञान की सीमा के भीतर, या जो कुछ वह अपनी दुनिया के बारे में जानता था, उस जानकारी की सीमा के भीतर उस ने अपनी ही जैसी, किन्तु हानि लाभ पहुंचा सकने में अपनी अपेक्षा सशक्त देवताओं और आत्माओं को बसा दिया। देवताओं की अनुकम्पा का पात्र बनने के लिये या उन के क्रोध से बचे रहने के लिये उस ने नाना प्रकार की प्रार्थनाओं, मन्त्रों-जन्तरों, जादू-टोनों और रक्तरंजित यज्ञों के करने करवाने की कल्पना की। खास तौर पर जो अन्तिम क्रिया-पाटी थी उसने धर्म में कुछ इतना अधिक महत्वपूर्ण भाग लिया कि मानव-विज्ञान के अनेक लेखकों ने गलती से उसे 'धर्म का महत्वपूर्ण सिद्धान्त' ही मान लिया। यहाँ तक कि देवताओं को ऐसे औतारी महापुरुष तक मान लिया गया जिन्होंने मानव का कल्याण करने के लिये आत्म-बलिदान तक दिया। लेकिन इन सभी बातों को धर्म से कुछ भी लेना-देना नहीं। भगवान बुद्ध ने इसे अच्छी तरह समझ लिया था। उस ने सभी तरह के बलिदानों पर प्रतिबन्ध लगा दिया, मन्त्रों जन्तरों के उपयोग को निषिद्ध ठहराया, और यह बात स्पष्ट की कि देवतागण आदमियों का कल्याण नहीं कर सकते। उन्हों ने सिखाया कि दुःख और पीड़ा किन्हीं देवताओं के क्रोध का परिणाम नहीं होते। वे आदमी के अपनी प्रकृति और अपने आसपास की परिस्थिति के सम्बन्ध में यथार्थ जानकारी न रखने का परिणाम होते हैं। मृत्यु भी पाप का दण्ड नहीं होती। जीवन और मृत्यु एक दूसरे से पृथक नहीं किये जा सकते। समस्त जीवन परिवर्तनशील है और परिवर्तन का मतलब ही है वर्तमान का मरण। आदमी मृत्यु का नाम सुनते, ही कांप उठता है और मरण से भयभीत रहता है, तो भी मृत्यु और जीवन एक दूसरे से पृथक नहीं हैं। जिस प्रकार जितनी भी उर्जा है, वह विक्षेप की ओर ही झुकी रहती है, इसी तरह सारा जीवन मरणोन्मुख ही रहता है। सारा जीवन प्रगतिशील मृत्यु ही है। महान चीनी दार्शनिक लीसियुस ने मानवीय हड्डियों के बिखरते हुए ढेर की ओर संकेत करके ठीक ही कहा था, "यह हड्डियाँ और मैं केवल हम दोनों को इस बात की यथार्थ जानकारी है कि हम न तो मरे हैं, और न जी रहे हैं।" ठीक इसी प्रकार अपने परिनिर्वाण के पूर्व भगवान बुद्ध ने भी कहा था 'जो कुछ भी विद्यमान है, वह विनाश को प्राप्त होने वाला है, जिस का संयोग होता है, उस का वियोग भी होता है।'

यह जो दुनिया है यह यकायक अपने सम्पूर्ण रूप में ही एक साथ प्रकट नहीं हुई। इसका अस्तित्व अन्धी सम्भावनाओं से उत्पन्न हुआ। यह एक ऐसी अवस्था में से उभरी, जब वहाँ न कोई दुनिया थी, न आत्मा का ही पता था, लेकिन एक अस्पष्ट, धुंधली मंद सी संभावना दोनों की थीं। जब चेतन-मनुष्य अस्तित्व में आया तब तक परम्परागत प्रवृत्तियों ने अपना कुछ आकार ग्रहण कर लिया था। आदमी पशु का ही विकसित रूप है, अब इस मत को कोई भी सन्देह की दृष्टि से नहीं देखता। जितनी भी ज्ञात बातें हैं वे इस बात का समर्थन

करती हैं कि यदि आदमी के बारे में केवल पशु-शास्त्र की दृष्टि से विचार किया जाय तो यह बात स्पष्ट हो जायगी कि आदमी एक वानरीय विशाल जानवर से अधिक कुछ नहीं। वह एक प्रकार से किसी बीते हुए युग के विकसित होते हुए बन्दर के स्वरूप का रुका हुआ रूप है। वह केवल किसी वानरीय वर्ग के पशु की चमत्कार रूप सन्तान है, जो दिमाग और बुद्धि से अपने पूर्वजों की अपेक्षा विशिष्ट है। इस उत्पत्ति के परिणाम स्वरूप आदमी में कुछ ऐसी स्फूर्तियां बच गई हैं जो अपने आप को एक नीति-विहीन समाज के सदस्य के अनुरूप प्रकट करती हैं। लेकिन इसी विकास के फलस्वरूप उसे अपने जैसे लोगों के साथ परिवारों की शक्ल में एकाबद्ध होने की आवश्यकता पड़ी है। इसी से सामाजिक जीवन – नीति आश्रित जीवन विकसित हुआ है। जिसे हम पापपूर्ण चेतना कहते हैं, वह इस से अधिक कुछ नहीं कि आदमी को ख्याल हो जाता है कि व्यक्तिगत जीवन सम्बन्धी किये जाने वाले कार्यों का सामाजिक या नैतिक जीवन से सम्बन्धित कार्यों से मेल नहीं बैठता। जितनी मात्रा में सामाजिक तथा नैतिक मांग में विकास होता है उतनी मात्रा में यह चेतना विकसित होती है।

सभी स्वरूपों के माध्यम से, खनिज पदार्थों तथा पेड़ पौधों के माध्यम से विकास सम्पन्न होता है। सभी तरह के पशुजीवनों के माध्यम से, यहाँ तक कि उस का एक बुद्ध की सम्पूर्णता के रूप में परियोसान होता है। एक जापानी मुहावरा है कि 'सभी पेड़ और सभी घासें भी किसी न किसी समय बुद्ध बन जायेंगी।' सभी प्राणी जो कुछ भी हैं, वे वही कुछ हैं उन्हें जो कुछ उन के पूर्व के तथा वर्तमानकालिक कर्मों ने बनाया है। निर्वाण धातु का आरम्भिक अबोध सचेतन अन्तर्मुखी क्रियाशीलता के रूप में होता है, किन्तु शनैः शनैः सचेतन सहमति के मार्ग द्वारा वह सचेतन बुद्धिगम्य प्रतिक्रिया का रूप धारण कर लेता है। सचेतन प्रतिक्रियात्मक क्रियाशीलता में प्राणी उस के मन में छिपी हुई किसी प्रेरणा के प्रभाव से कार्य करता है, जो उस से एक मशीन की तरह कुछ शुभ-कर्म करा देती है। इस प्रतिक्रियात्मक क्रियाशीलता में न किसी स्वातन्त्र्य के लिये स्थान रहता है और न किसी अशुभ-चिन्तन के लिये, प्राणी के मन में किसी भी प्रकार का कुशल या अकुशल विचार नहीं रहता और कहा जा सकता है कि यह सारी प्रकृति के साथ अचेतन रूप से जुड़ा रहता है। चेतन सहमति की मध्य स्थिति में प्राणी व्यक्तित्व का जीवन आरम्भ करता है और धीरे धीरे जैसे वह प्रगति करता हैं अपने आप को दूसरों से अधिक और अधिक पार्थक्य को स्थापित करने का प्रयास करता है और तब अधिक से अधिक मनोविनोद और संतोष के लिये दूसरों से कलह करता है। जिस आरम्भिक सरलता की शुरू शुरू की अवस्था में अचेतनावस्था में भी कुछ शुभ-कर्म कर सकता था, तो भी उस ने स्वतन्त्रता प्राप्त कर ली थी। अब यह लगातार कुछ न कुछ अकुशल करने की ओर ही झुकी रहती है, लेकिन जब यह अकुशल कर्म करती है, उसे अकुशल कर्मों

का ज्ञान नहीं रहता।

चेतन बुद्धिगम्य प्रतिक्रिया की अन्तिम अवस्था में, प्राणी जीवन-संघर्ष में उतरता है। मौज और सुखी जीवन का मजा लेने के लिये कलह करने की तैयारी करता है और अपनी आत्मार्थी भूख को संतुष्ट करने के लिये जितने चाहे उतने प्राणियों का बलिदान कर सकता था, लेकिन जब वह दुष्कर्म करता है तो उस के मन में एक पश्चाताप की भावना उमड़ पड़ती है। यद्यपि विश्व-परिवर्तन शीलता की ही उपज है तो भी चेतन बुद्धिगम्यता की ही उपज है तो भी उसे लगने लगता है कि इस प्रक्रिया को रोकने की जरूरत है। तर्क और प्रेम दोनों का आग्रह रहता है कि भूख और वासना पर काबू पाया जाय। शनैः शनैः आदमी के हृदय में कर्तव्य की भावना अपना घर बना लेती है और उस से उस की वासना को खुला खेल खेलने की छुट्टी नहीं मिलती। जब वह अपनी वासना पर काबू बनाये रखने का सतत प्रयास करता है, तो उस की नैतिकता की भावना अधिकाधिक क्रिया-शील हो जाती है, उसे यह आवश्यक लगने लगता है कि उस की बुरी प्रवृत्ति के जो भी अवशेष बचे हों, वह मिटा दिये जा सकें, और वह संकल्प करता है कि वह भविष्य में संयत रहेगा। उसे उस श्रेष्ठ मार्ग की एक झांकी सी मिल गई है जो निर्वाण की ओर ले जाता है। जितनी अधिक मात्रा में यह सचेतन आत्मसंयम प्राणी के मन में रहता है, उतना ही अधिक उसे लगता है कि प्रतिक्रियात्मक कार्य-शीलता की ओर अग्रसर होना चाहिये। वह स्वतन्त्रता के प्रति पूर्णरूप से जागरूक होता है। इस से आगे वह कुशल कर्म छोड़कर और कुछ कर ही नहीं सकता। लेकिन बिना जाने मशीन के एक पुर्जे की तरह, जैसे आरम्भिक अवस्था के प्राणी करते हैं कुछ भी करने की बजाय वह जान बूझ कर पुण्य संग्रह करने के लिये करता है। वह दूसरों का उपकार करता है, इसलिये नहीं कि दूसरे उसका उप-कार करेंगे, बल्कि ऐसा करके वह स्वयं अपना उपकार कर रहा होता है। जो आदमी स्वयं अपना ही भला नहीं कर सकता, वह दूसरों का भला क्या कर सकता है? प्रतिक्रियात्मक क्रियाशीलता और मूल प्रेरणा के परित्याग के बावजूद, जान बूझ कर जो कुशल-कर्मों का करना है, वह उस के लिये बोधि के ज्ञान का दरवाजा खोल देता है। अब उसे यह समझ में आने लगता है कि वह किस परि-स्थिति में आर्य-मार्ग पर गमन कर सकता है? अपने में सदाचारमय परिवर्तन लाने का प्रयास करने के उपायों से उसे स्पष्ट हो जाता है कि आदर्श तक पहुंचने के लिये उसे और कौन कौन से कदम उठाने होंगे? उस का अन्तिम उद्धार, उस की दुःख से मुक्ति अब पक्की हो गई रहती है। अब यह केवल समय का प्रश्न रह गया रहता है, क्यों कि यदि वह चाहे तो उस के पास ऐसी सामर्थ्य होती है कि वह अपने उद्धार को शीघ्रतर सम्पन्न कर सके। वह अपनी आत्मार्थिक प्रवृत्तियों को अधिकाधिक दबाता है और सभी प्राणियों के भले के कार्य्य करता है। जब उस का अपने आप और उस का चित्त पूरा पूरा उस के काबू में हो

जाता है और उसे ऐसा अभ्यास हो गया है कि वह सभी जीवित प्राणियों के साथ एकात्म हो सके, जो पीढ़ियां बीत गई हैं और जो आनेवाली हैं, उन के साथ भी एकात्म हो सके, केवल अपने मानव-बन्धुओं के साथ ही नहीं, बल्कि समस्त जगत् के साथ एकात्म हो सके, पृथ्वी पर चले रहे प्रत्येक प्राणी के साथ एकरस हो सके, उस की उन्नति पूरी हो गई। वह उस पद को प्राप्त हो गया है, जहाँ किसी प्रकार का कोई संघर्ष नहीं, किसी प्रकार का कोई कष्ट नहीं, बल्कि जहाँ है अनिर्वचनीय शान्ति। व्यक्तित्व के संसार से बांध कर रखने वाले बन्धनों को तोड़ डालने से और समस्त जीवित जगत् के साथ एकात्म हो जाने से वह अपने लिये एक ऐसा अमृतपद प्राप्त कर लेता है, जहां अब मरण का नाम-शेष रह गया है।

▣

सातवाँ परिच्छेद

बौद्ध धर्म और काय-क्लेश

प्राचीन भारत का धर्म एक प्रकार का प्राकृतिक धर्म था, जिस में यज्ञ-यागों का बड़ा हाथ था । आरम्भ में संभवत: यज्ञ-याग इस लिये किये जाते थे कि वे देवतागण जिस से लोग डरते थे मानवों को अपना कोप-भाजन न बना सकें । आगे चलकर यज्ञ-याग आदमियों और देवताओं के बीच सम्पर्क साधने का एक उपाय बन गये । जैसे अग्नि के दैवी और पार्थिव दोनों रूप हैं, प्रत्येक यज्ञ में जलाई जानेवाली अग्नि ने आदमी और देवताओं के बीच एक दलाल का स्थान ग्रहण कर लिया । उस का काम था जो भी आहुति दी जाय, वह देवताओं तक पहुंचा देना । यदि यज्ञ-याग देवताओं से सम्पर्क बनाये रखने का साधन बन सकते हैं, तो उन से आर्थिक सम्बन्ध स्थापित कर सकना कोई असम्भव कल्पना न थी । यदि आदमी के लिये यह सम्भव ठहरा, कि वह देवताओं को कोई ऐसी वस्तु प्रदान कर सके जो देवताओं को प्रसन्न कर सके, तो देवताओं के लिये भी यह सम्भव रहे कि वे भी आदमी को वे चीजें दे सकें, जो आदमी को प्रसन्न करने वाली हों । इस प्रकार समय पर आदमी और देवता के बीच वस्तु-विनिमय का एक सम्बन्ध स्थापित हो गया। " देहि मे ददामि ते " -तू मुझे दे, मैं तुझे देता हूँ, यह प्राय: प्रत्येक वैदिक मन्त्र का सुस्पष्ट या निहित भावार्थ है और प्रत्येक यज्ञ याग का आधार है । यज्ञ-यागों को एक विनिमय का साधन मान बैठने से वैदिक काल में यह मान्यता जोर पकड़ गई कि यदि देवताओं से विनिमय के माध्यम से कुछ भी प्राप्त किया जा सकता है, तो देवताओं को यज्ञ-याग के बल से उन की अपनी इच्छा के विरुद्ध भी आदमियों के इच्छा की कुछ भी चीजें देने के लिये भी मजबूर किया जा सकता है । प्रो. सिल्विन लेवी के अनुसार इस व्यवस्था में नीतिमत्ता के लिये कोई स्थान नहीं । यज्ञ-याग जो आदमियों और देवताओं के बीच के सम्पर्क की उचित व्यवस्था करते हैं, अपने ही अन्तर्निहित शक्ति से मशीन की तरह कार्य करते हैं, और पुरोहित के पास जो मन्त्रजन्तर का शिल्प है उस से वह जो कुछ प्रकृति के अन्तस्तल में छिपा है उसे भी वह बाहर ले आ सकता है । जिस शक्ति ने देवताओं को महानता प्रदान की है, देवतागण उसी से विजित भी बनाये जाते हैं। जहाँ तो देवता इसे चाहें और चाहे

न चाहें, यज्ञ–कर्ता पुरोहित की पद–प्रतिष्ठा हो ही जाती है और भविष्य के लिये उस का स्थान ऊपर उठ ही जाता है।

ऐसा होने से यह स्वाभाविक तौर पर अनायास हो गया कि यज्ञ-याग कराने वाले पुरोहित लोगों की दृष्टि में ऊपर उठ गये और अन्त में जिन पुरोहितों के हाथों में यज्ञ-याग करने का ज्ञान था, वे ही लोगों के शासन–कर्ता बन गये। परम्परागत सूक्ति है, देवाधीनं जगत् सर्वं, सारा जगत देवताओं के आधीन है, मन्त्राधीनं तद्दैवतं, जो देव–मण्डली है, वह मन्त्रों के आधीन है, तन्मन्त्रा ब्राह्मणाधीनम्, वे मन्त्र ब्राह्मणों के आधीन हैं, ब्राह्मणा मम देवता, इस लिये ब्राह्मण ही मेरे देवता हैं। जो देवता न हो, ब्राह्मण उसे देवत्व प्रदान कर सकते थे और वे यदि चाहते तो किसी देवता को उस के देवत्व से वंचित भी कर सकते थे। इस प्रकार प्राचीन रोम के धर्माध्यक्षों की तरह ब्राह्मण भी भारत में बहुत ही ताकदवर और शक्तिशाली हो गये।

सभी यज्ञ–यागों में महानतम यज्ञ वह है जिस में देवताओं को प्रसन्न करने के लिये नरबलि दी जाती है। इस बात में कोई सन्देह नहीं कि एक समय था जब नर बलि देना भारत में एक सामान्य प्रक्रिया थी। प्रो. ई. डब्ल्यु. हार्पकिस का कहना है कि इस कथन के विरोध के बावजूद कि प्राचीन भारत में नरबलि होती थी, ऋक्–वेद के समय के बहुत बाद तक भारत में नरबलि दी जाती रही है। ऋक्–वेद में इस के सन्केत हैं। वह एक ऐसा समय था जब वृद्ध पुरुष तक नर–बलि के शिकार बनते थे। यज्ञ–याग का समर्थन करने वाले ब्राह्मण–ग्रन्थों के सदृश जितने भी साहित्य है वह इस बात की साक्षी है कि नर–बलि की प्रथा एक उपन्यास का परिच्छेद नहीं रही है, बल्कि वह एक ठोस इतिहास की कहानी है। एक वास्तविक नर की बलि दी ही जाती थी। लेकिन यह नर–बलि देना बड़ा महंगा सौदा था। सामान्यतया जिस पुरुष की नरबलि दी जाती थी उस की कीमत 'एक हजार पशु' चुकानी पड़ती थी। इस में सन्देह नहीं कि यह भी बहुत अधिक पुण्य का कार्य था कि इतनी अधिक कीमत देकर एक आदमी खरीदा जाय और उसे बलिदान पर दिया जाय, लेकिन इस से भी अधिक पुण्य का कार्य था कि कोई आदमी स्वयं अपने को बलिदान होने के लिये तैयार करे। इस तरह से इस सिद्धान्त और इस कार्यक्रम का प्रचार हुआ कि आदमी देवताओं से मन मांगी मुराद पाने के लिये उन पर आत्म–बलिदान के द्वारा जोर डाल सकता है। हिन्दुओं के पुराण इस तरह की पौराणिक गप्पों से भरे पड़े है कि किस किस ने आत्म बलिदान और तपस्याओं द्वारा कैसी कैसी अद्भुत सामर्थ्य प्राप्त की। आत्म–बलिदान द्वारा रावण देवताओं तथा राक्षसों से अजेय बन सकता था। कठोर आत्म पीड़न द्वारा नहुष ने तीनों लोकों का राज्य प्राप्त कर लिया। विश्वमित्र जिस ने एक क्षत्रिय होकर जन्म ग्रहण किया था, घोर तपस्या द्वारा अपने आप ब्राह्मण हो बैठा। मातङ्ग नाम के एक चाण्डाल ने इतनी घोर तपस्या की कि

उस ने देवताओं की नींद हराम कर दी । इन्द्र ने बार बार उस की मांग को अस्वीकार कर दिया। मातङ्ग ने तनिक हिम्मत न हारी। उस ने अपने आप को अपने पैर के एक पंजे के बल पर अपने आप को खड़ा कर दिया और वह तब तक उसी प्रकार खड़ा रहा जब तक केवल वह चमड़ी और हड्डियाँ मात्र बच गया और वह जमीन पर गिर जाने को हुआ। तब इन्द्र देवता उस के समर्थन में पृथ्वी पर उतरा लेकिन तब भी उस की प्रार्थना अस्वीकृत ही रही। जब और अधिक जोर डाला गया तो उस ने उसे ऐसी शक्ति दे दी कि वह पक्षी की तरह उड़ सके, वह जब चाहे अपनी शक्ल बदल सके और उस का गौरव हो और उसे प्रसिद्धि प्राप्त हो । प्राचीन भारतीयों का आत्म काय-क्लेश में और आत्म-बलिदान में इतना अधिक विश्वास था !

लगता है कि बुद्ध-धर्म के उदय के समय 'आत्म-पीड़ा' देने के पक्ष में लोगों का विश्वास अपनी चरण सीमा पर पहुंचा हुआ था। आत्म-क्लेश देना धर्माचरण का परिणाम बना हुआ था । न केवल ब्राह्मणवाद में बल्कि जैन चिन्तन-परम्परा में भी जो बुद्ध के समय में समुन्नत अवस्था में थीं, आत्म-क्लेश पर बड़ा जोर दिया जाता था। जैसा प्रो. जैकोबी का कहना है आत्म-पीड़न के मामले में ब्राह्मणों को परास्त कर देने में जैनियों को एक गौरव की अनुभूति होती थी। ऐसा लगता था कि वे गंदेपन और घिनौने पन को भी तपस्या की श्रेष्ठतम प्रक्रिया मान बैठे थे । जैन-धर्म का शिक्षण है कि मोक्ष-प्राप्ति के लिये यह आवश्यक है कि आदमी पूरे बारह बर्ष तक कठोरतम तपश्चर्या का जीवन बिताये। आचाराङ्ग सुत्त के अनुसार आदर्श जैन-मुनि की चर्य्या इस प्रकार होनी चाहिये, "अपने वस्त्रों का त्याग कर, उन पूज्यवर ने नग्नत्व को अपनाया, वे संसार-त्यागी अनागरिक मुनी बन गये। जब कोई उन को नमस्कार करता या उन से बातचीत करना चाहता, वह प्रत्युत्तर न देते। दो वर्ष से भी अधिक समय तक उन्हों ने धार्मिक जीवन व्यतीत किया। वे शीतल जल तक को उपयोग में नहीं लाते थे, वे एकान्त जीवन व्यतीत करते थे । अपने शरीर की चौकसी रखते थे। उन्हें अन्तर्दृष्टि प्राप्त थी और वे शान्त-दान्त थे । तेरह वर्ष तक वह लगातार रात दिन ध्यान मग्न रहे। उन की शान्ति अक्षुण्ण बनी रही । वे प्राणी-हत्या के पाप से बचे रहे, किसी को किसी भी तरह की हानि नहीं पहुचाई। उन के निमित्त ही तैयार की गई किसी भी खाद्य-सामग्री को उन्हों ने ग्रहण नहीं किया । वे मात्र स्वच्छ भोजन को ग्रहण करते थे । आत्म-संयमी बने रहकर वे घास, सर्दी, गर्मी, मक्खियों, और मच्छरों से होनेवाली पीड़ा को शान्त भाव से सहन करते थे। उन्हें भले ही जख्म भी हो जाता, तब भी वे कोई दवाई-औषध न करते थे, वे न बदन पर किसी भी प्रकार की मालिश करते थे, दान्तों तक को साफ नहीं करते थे। जब उस ने एक बार मोक्ष-मार्ग ग्रहण कर लिया था, तो यह सारी उक्त चर्या उस के लिये करणीय नहीं रहे थे। कभी कभी उस पूज्यवर ने आधे महीने

तक या पूरे एक महीने तक पानी ही नहीं पिया। कभी कभी उन्हों ने केवल छठे दिन, आठवें दिन या बारहवें दिन भोजन किया। अपनी एकाग्रता को, बनाये रख कर पूज्यवर बिना किसी भी प्राणी को हानि पहुंचाये जगह जगह विचरते थे, भिक्षाटन के लिये, भले ही भीगा भोजन हो, भले ही सूखा हो, भले ही बासी फलियां हों, भले ही बासी डिलया हो, भले ही सड़ा हुआ अनाज हो। उन्हें पर्य्याप्त भोजन मिले या न मिले, उन का संयत भाव बना रहता था।' शुद्ध तर्क की दृष्टि से आत्म–क्लेश का अन्तिम परिणाम आत्म–हत्या होना चाहिये। और जैन–धर्म में जहाँ दूसरी सभी प्रकार की हिंसा वर्जित है, वहाँ आत्म–हत्या खूब प्रशंसित है। जिसे आत्म–हत्या करनी हो उस के लिये सही तरीका है कि वह बारह वर्षों तक एक भिक्षु की तरह जंगलों में विचरता रहे और तपस्या–पूर्ण जीवन व्यतीत करता रहे, और तब किसी ऐसी एकान्त–स्थली पर पहुँच जहाँ कोई जीव–जन्तु न हो अन्न–जल त्याग कर अपने प्राणों का भी परित्याग कर दे।" यह पद्धती 'आचाराङ्ग सूत्र के अनुसार, ऐसे अनेक लोगों द्वारा अंगीकृत की गई है, जो अविद्या मुक्त थे। यह पद्धति श्रेष्ठ है, सुन्दर है, पुण्यवर्धक है।' अपनी तपश्चर्या के अनुरूप ही जैन–धर्म स्त्रीत्व से दूर दूर रहता है, उस से घृणा करता है। जैनों की लोकप्रिय जन–कथाओं का नायक प्रायः वह तरुण होता है, जो अपनी शादी की बरात के साथ वधु–गृह की ओर आगे बढ़ते समय अनुतप्त हो उठता है कि इस में कितने प्राणियों की हत्या की संभावना है और अपने गहने किसी को भी दान देकर, अपने बालों का उन की जड़ों से लुंछन कर जैन–मुनियों के संघ में जा शामिल होता है । जैन–मुनियों द्वारा अपने आप को जो आत्म–क्लेश दिया जाता था, वह उस से कहीं कम है, जो दूसरे लोग अपने अपने को बुद्ध के समय में देते थे।

सिद्धार्थ गौतम भी आत्म–क्लेश के इस चक्कर में पड़ गये थे, लेकिन दुनिया के सौभाग्य से वे बच निकले। उस समय के अभ्यास के अनुसार सिद्धार्थ ने अपने घर और परिवार का त्याग कर दिया था। उस ने अपने समय के उच्चतम ऋषियों के चरणों में बैठकर अभ्यास करना आरंभ किया। उस ने उन की सभी शिक्षाओं को हृदयङ्गम किया और जीवन में तदनुसार परिवर्तन लाने का प्रयास किया । उस ने उन की शिक्षाओं को ग्रहण किया और उन के उदाहरण का अनुकरण करने का प्रयास किया । उस ने अपने आप को रीति–रिवाजों, यज्ञ यागों, निराहार–व्रतों और काय–क्लेशों द्वारा शुद्ध करने की कोशिश की, उस ने स्वयं इस बात का वर्णन किया है कि उस ने किस प्रकार छह वर्षों तक उरुवेला के जंगलों में अपने आप को बड़े सबर के साथ पीड़ा पहुंचाता रहा और जितनी भी प्राकृतिक इच्छाएं हैं उन सभी को दबाये रखा। उस ने अत्यंत कठोर तपस्या का जीवन व्यतीत किया। वह प्रति दिन चावल का एक एक दाना खाकर रहने लगे। उस का शरीर इतना अधिक दुबला गया कि उस के हात पाँव सूखे सरकण्डों की तरह प्रतीत होने लगे। उस के नितम्ब ऊँट के कूबर की तरह लगने लगे और

उस की पसलियाँ घर की कड़ियों के समान हो गई । उस की आत्म-पीड़न की ख्याति आसपास फैल गई और लोग उसे देखने आने लगे। उन्हों ने अपने व्रत को इतना अधिक खींचा कि वह केवल निराहार रहने और दौर्बल्य के कारण पृथ्वी पर गिर कर बेहोश हो गये। और जब उन्हें होश आया तो उन्हों ने देखा कि उन की बेहोशी की अवस्था में उन पर कोई इलहाम प्रकट नहीं हुआ है। उस ने फिर दुबारा खाना पीना आरम्भ कर दिया जिस से उन की शक्ति दुबारा वापिस आ गई। उस ने अपने आत्म-पीड़न के बारे में सोचना आरम्भ किया और पता लगाया कि जिस ज्ञान को वह खोज रहा था वह उस ज्ञान की प्राप्ति का उपाय न था । जैसे अपने महल में रहते समय वे इस परिणाम पर पहुंचे कि संसारी कामोपभोग ज्ञान-प्राप्ति का मार्ग नहीं है, उसी प्रकार अब वे इस परिणाम पर पहुंचे कि अपने आपको पीड़ा देना भी ज्ञान-प्राप्ति का मार्ग नहीं है । शारीरिक सामर्थ्य के बिना अर्हत्व प्राप्ति कठिन थी। जिसे इस बात का बोध हो गया कि काय-क्लेश का जीवन सर्वथा बेकार है, वही शील, समाधी तथा प्रज्ञा के मार्ग पर चलकर परं शुद्धि की प्राप्ति कर सकेगा।

वाराणसी (वनारसी) के मृगदाय वन में भगवान बुद्ध ने जब उन पंचवर्गीय भिक्षुओं को उपदेश दिया उस समय अपने प्रवचन में तथागत ने मुक्ति के सही मार्ग आर्य अष्टाङ्गिक मार्ग की व्याख्या की –

'न तो मछली-मांस का आहार न ग्रहण करने से, न नग्न रहने से, न सिर मुण्डाने से, न जटायें बढ़ाने से, न चीथड़े पहनने से, न बदन पर धूल मलने से, न आग में आहुतियां डालने से जिस आदमी का मन अन्धकार में डूबा है उस का अन्धकार दूर होगा।

'न तो वेदों का अध्ययन करने से, न देवताओं को बलि चढ़ाने से, न प्राय: निराहार व्रत धारण करने से, न पृथ्वी पर लोटने से, न अपनी कठोरता से चौकसी करते रहने से और न प्रार्थनायें ही करते रहने से आदमी सुमार्ग-गामी हो सकेगा।

'न पण्डे-पुरोहितों को दान देने से, न कायक्लेश से, न तपस्या करते रहने से, और न रीति-रिवाजों का पालन करते रहने से ही जिस आदमी ने अपनी वासना को नहीं जीता है, वह पवित्र नहीं हो सकता ।

'मांसाहार आदमी को अपवित्रता प्रदान नहीं करता। आदमी अपवित्र होता है क्रोध करने से, नशीले पदार्थों का सेवन करने से, दुराग्रही होने से, धर्मान्ध होने से, वंचक होने से, ईर्षालु होने से, आत्म प्रशंसक होने से, पर-निन्दक होने से, घमण्डी होने से तथा बुरे इरादे रखने से ।

'भिक्षुओ, मैं तुम्हें मध्यम मार्ग की शिक्षा देता हूँ, जो कि दोनों अतियों से दूर दूर रहता है । जो आत्म-क्लेश में रत रहने वाला श्रद्धासम्पन्न उपासक है वह

शारीरिक दौर्बल्य के कारण अपने मन में गड़बड़ी और दुर्बल विचारों का जनक बनता है। काय-क्लेश सांसारिक ज्ञान तक की प्राप्ति में सहायक नहीं होता है। इन्द्रिय विजेता होना तो बड़ी बात हैं।

'जो अपने दीपक में तेल की बजाय पानी भरता हैं, वह अन्धकार को दूर नहीं कर सकता और जो सड़ी हुई लकड़ी से अग्नि प्रज्वलित करने की कोशिश करेगा, वह भी असफल होगा।

'काय-क्लेश कष्टप्रद होता है, व्यर्थ होता है, इस से कोई लाभ नहीं होता। और कोई भी आदमी जो दरिद्रता का जीवन जी रहा है, यदि वह अपने आप को वासना से मुक्त नहीं रखता तो वह आत्म-दृष्टि से कैसे मुक्त हो सकता है?

'जब तक इस लोक या परलोक में सुखों के पीछे भटकने की लालसा विद्यमान है, तब तक सभी काय-क्लेश व्यर्थ हैं। लेकिन जिस की आत्म-दृष्टि नष्ट हो गई रहती है वह वासना से मुक्त हो जाता है। वह न तो सांसारिक सुखों के चक्कर में फंसता है और न दिव्य सुखों की लालसा करता रहता है। उस की प्राकृतिक आवश्यकताओं पूर्ति भी उसे मलिन नहीं करती। वह अपने जीवन की आवश्यकताओं की पूर्ति के लिये मजे में खा पी सकता है।

'दूसरी ओर काम-वासना के सभी प्रकार आदमी को दुर्बल बनाने वाले हैं। कामुक आदमी अपनी वासना का गुलाम होता है। और मजों के चक्कर में पड़े रहना गँवारपन है और आदमी को पतनोन्मुख बनाता है।

'लेकिन जीवन की आवश्यकताओं की पूर्ति में कुछ बुराई नहीं है। शरीर को धूपछाँव से बचाना, आराम पहुंचाने वाले कपड़ों से इसे ठीक ठाक ढके रखना, अनेक बाह्य दुःख के हेतुओं से इस का संरक्षण करना, शरीर को थकने न देना, प्रतिकूल वेदनाओं से सुरक्षित बने रहना, संक्षेप में शरीर को अच्छा स्वस्थ बनाये रखना आदमी का कर्तव्य है। यदि ऐसा न होगा तो हम प्रज्ञा के दीपक को प्रज्वलित न रख सकेंगे और अपने मन को स्वस्थ और मजबूत न बनाये रख सकेंगे।

'भिक्षुओं, यही वह मध्यम-मार्ग है जो दोनों अतियों से बचकर चलता है।'

एक महान ब्राह्मण तपस्वी पाराशरिय के शिष्य को बुद्ध ने कहा- 'शीलों का पालन करो और सदाचार की भूमि पर प्रतिष्ठित हो ओ। .... सावधान रहो ताकि इन्द्रियां भली प्रकार संयत रहें। कोई भी ऐसी वेदना न हो जो तुम्हारे पैरों को भूमि पर न रहने दे। खाने पीने में मर्यादित रहो, जागरूक रहो, सावधान रहो। एकान्त में इन्द्रिय-संयमी रहो, पांचों नीवरणों से रहित हो जाओ और ध्यानों का अभ्यास करो।' एक अवसर पर कुछ शिष्यों ने तथागत से प्रश्न किया कि 'क्या उन तपस्वियों की तपस्या में जो कांटों पर सोते हैं और पंच अग्नियों का ताप करते हैं, कुछ भी पुण्य है?' 'इस में न कोई गुण

बुद्ध मूर्ति - तख्त-इ-बाही

है और न पुण्य है। जब इस की परीक्षा की जाती है तो यह रास्ता गोबर की पहाड़ी पर बने रास्ते के सदृश मालूम देता है।' इस में कोई आश्चर्य नहीं कि बौद्धों के विरोधी बौद्धों को पुष्टि-मार्गी कहने लगे थे।

क्योंकि धर्म का क, ख, ग ही है कि आत्मार्थ एक प्रकार से प्रत्येक वस्तु के दुःखरूप होने का ही दूसरा नाम है, बुद्ध-धर्म आदमियों को चारवाकों का दृष्टिकोण अपनाने को नहीं कहता कि 'कल तो मरना ही है, आज का दिन खा पी लें, मौज उड़ा लें।' धर्म जहाँ एक ओर आत्म-क्लेश की गरहा करता है वहां दूसरी ओर ऐयाशी का जीवन व्यतीत करना भी मना करता है। धर्म की दृष्टि बोधि पर है, शान्ति पर है, कुछ मौज उड़ाने पर नहीं। इस लिये कोई भी ऐसा जीवन-क्रम जिस में न तो अधिक स्वस्थ होने पर नजर हो, न आदमी को अधिक योग्य बनाने पर नजर हो, बल्कि उसे केवल सुख-सुविधा के साधन जुटा देने पर नजर हो, बुद्धिसंगत दृष्टिकोण नहीं कहला सकता। इसी कारण ऐयाशी की गरहा की गई है क्योंकि यह अतिरिक्त खपत से मनुष्य की आरामतलबी में ही वृद्धी करती है। इस में कुछ भी सन्देह करने की गुंजायश नहीं कि ऐयाशी आदमी के स्वास्थ्य पर बुरा प्रभाव ही डालती है। कौन नहीं जानता कि जिन लोगों के पास पैसा होता है वे ऐयाश हो जाते हैं और सावधानी और संयम भी उन के कुछ भी काम नहीं आते हैं? ऐयाशी की आदतें आदमी को मेहनत करने और लगातार परिश्रम करते रहने के अयोग्य बना देती हैं। अनेक प्रकार के मेहनत के कामों के लिये इन्हीं गुणों की आवश्यकता होती है। यह भी संभव हो सकता है कि ऐयाशी का जीवन बिता सकने की भावी संभावना कुछ लोगों को अधिक काम करने की भी प्रेरणा दे सके, लेकिन जब नैतिक दृष्टि से यह उचित नहीं जँचता कि सामान्यता आदमी के जो कुछ भी हिस्से में आता है, आदमी अपने आप को जैसे एक रिश्वत दे रहा हो, उसी प्रकार दूसरों से कुछ अधिक देकर उस से थोड़ा अधिक परिश्रम कराने की चेष्टा करे। एक आदमी जो ऐयाशी का जीवन व्यतीत करता है, शुद्ध उपयोगिता की दृष्टि से भी उस से अधिक खपत कर देता है, यदि वह ही उस भोग-सामग्री को दूसरों के लिये छोड़ देता तो वह अधिक प्रसन्नता को उत्पन्न कर दे सकता था। कोई भी आदमी यह नहीं कर सकता कि वह अपनी रोटी खा भी ले और उस बचाये भी रख सके। यह मानना कि जो आदमी ऐयाशी का जीवन व्यतीत करता है वह दूसरों को काम देता है और खाना देता हैं, एक बेहूदा भ्रम के अतिरिक्त कुछ नहीं। एक आदमी दूसरों की सेवा करके ही उन्हें कुछ लाभ पहुंचा सकता है, दूसरों से सेवा लेकर नहीं। ज्यों ज्यों जीवन का उद्देश्य और अर्थ अधिक सुस्पष्ट हो जायगा तो यह बात साफ हो जायगी कि आदमी का वास्तविक कल्याण ऐयाशी में नहीं ही है।

रुपये पैसे के बारे में प्राय: यह समझा जाता है कि यह आदमी को शारीरिक शान्ति और मानसिक विश्राम देता है और उसे अपने आदर्शों और आदर्श कार्यों को सम्पन्न करने का अवकाश प्रदान करता है। वास्तव में बहुत ही कम हालतों में यह ऐसा कर पाता है। अपने 'नीति के सिद्धान्त' नामक ग्रन्थ में आदम स्मिथ ने ठीक ही कहा है कि रुपया पैसा और आदमी की महानता तुच्छ उपयोगिता के साधन मात्र हैं और यह खिलौनों के प्रेमी की चिमटी की डिबिया के समान हैं और उसी की तरह जो आदमी उन्हें लिये होता है, उसे अधिक कष्ट देते हैं, उसे आराम की अपेक्षा जो वे सब मिलकर उसे प्रदान कर सकते हैं। ......जहाँ तक शारीरिक सुख और मानसिक शान्ति का प्रश्न है जीवन कें सभी स्तरों पर रहने वाले लोगों को थोड़ी बहुत मात्रा में एक जैसे ही प्राप्त हैं, जो भिखमांगा सड़क के किनारे पड़ा धूप सेक रहा है, उसे वह सुरक्षा प्राप्त है, जिस के लिये राजागण भी लालयित रहते हैं। लेकिन जातकमाला के अनुसार रुपये पैसे का एक गुण है परोपकार करने की इच्छा रखने वाला इस का त्याग कर सकता है। लेकिन बहुत ही थोड़े लोग हैं जो ऐसे श्रेष्ठ उद्देश की पूर्ति के लिये रुपये पैसे की कामना करते हैं। अधिकांश लोग बड़ी बड़ी आमदनियां चाहते हैं अच्छे अच्छे कपड़ों के लिये, बढ़िया बढ़िया मकानों के लिये, थियेटर-सिनिमा देखने के लिये, शराब पीने के घरों में बैठकर शराब पीने के लिये, अपनी सम्पत्ति का प्रदर्शन करने के लिये। वे सामाजिक सुख में अभिवृद्धी करने के लिये कभी रुपये-पैसे की कामना नहीं करते। धनार्जन की इच्छा और इस के नष्ट हो जाने के भयस्वरूप आदमी में कायरता जन्म ग्रहण करती है और वह भ्रष्ट हो जाता है। बहुत सी हालतों में जो आदमी पैसे ही पैसे के पीछे हाथ धोकर पड़ा रहता है, वह रुपये पैसे का गुलाम हो जाता है और जो आदमी गरीबी के भय से मुक्त होता है, वह स्वतन्त्र बना रहता है। गरीबी के प्रति व्यक्तिगत उपेक्षा सत्याराधक को शक्ति प्रदान करती है, जिसे वह जीवन के ऊँचे उद्देश्यों की पूर्ति में लगा सकता है। इस में कौन सा आश्चर्य है कि यदि ऐसी परिस्थिति में बौद्ध भिक्षु अकिंचनता का व्रत ग्रहण करता है।

किन्तु यह ऐसा नहीं है कि परमार्थ की प्राप्ति के लिये अकिंचनता के व्रत का या किसी भी दूसरे व्रत का व्रती होना अनिवार्य हो। अपने अपने घरों में बने रहने वाला गृहस्थ इन्द्रिय-सुखों को भोगते हुए भी निर्वाण-प्राप्त हो सकता है। लेकिन शीलों में जो निहित गुण विद्यमान हैं, उन के कारण बुद्धत्व की आकांक्षा करने वाले साधक दृढता पूर्वक उन का पालन करते हैं। जैसा नागसेन ने मिलिन्द प्रश्न में स्पष्ट किया है कि शील पालन का मतलब है निर्दोष जीविकोपार्जन करना। उस का फल होता है कल्याण-प्रद शान्ति। यह निर्दोष है। इस से किसी की हानि नहीं होती। इस में कोई खतरा नहीं है। इस से किसी की हानि नहीं होती। इस में किसी प्रकार का कोई डर नहीं। इस में किसी पर भी कोई

आपत्ति आने का डर नहीं हैं । इस के साथ कुशल-कर्मों की वृद्धि सुनिश्चित है । यह हानि-रहित है । यह इच्छाओं की तुष्टि का विभिन्न कारण होता है । यह सभी-प्राणियों को सौम्यता प्रदान करता है, यह आत्म-संयम में सहायक होता है। यह आदमी को आत्म-निर्भर बनाता है । यह आदमी को सभी प्रकार की तृष्णा से मुक्त करता है । यह वासना, ईर्षा और प्रमाद का नाशक है । यह अहंकार की जड़ खोद देता है । यह बुरे विचारों को नष्ट कर देता है । यह सन्देह की निवृत्ति करता है । यह आलस्य का दमन करता है और असंतोष को दूर भगाता है । जो अक्षरशः शीलों का पालन करते हैं, उन का अपना जीवन पवित्र होता है । उन के वचन और कर्म संयत होते हैं । उन के उत्साह में कमी नहीं होती । उन का व्यवहार निर्दोष होता है । उन के सभी भय शान्त हो गये रहते हैं । आत्मा की नित्यता को लेकर उनके सभी भ्रम दूर हो गये रहते हैं । उन का क्रोध शान्त हो गया रहता है और उन के हृदय सभी प्राणियों के प्रति मैत्री-भाव से मुक्त हो जाते हैं । वे जागरूकता से मुक्त होते हैं । वे हमेशा अप्रमादी रहते हैं । वे कोई बुराई करना पसन्द नहीं करते । वे मनोरम स्थलों पर वास करते हैं । वे खाने-पीने में संयत होते हैं और उन का सर्वत्र आदर होता है । शील-पालन से जो लाभ होते हैं, कोई भी आदमी तब तक उन से समन्वित नहीं होता जब तक उस के मन में अपने आदर्शों का साक्षात्कार करने के लिये श्रद्धा न हो, उसे पाप-कर्म करने में लज्जा की अनुभूति न होती हो, साहस-युक्त न हो, ढोंग से शून्य न हो, अपना स्वामी आप न हो, लोभ-मुक्त न हो, शिक्षा-कामी न हो, कठिन कार्यों को हाथ में लेने में आनन्द न आता हो, आसानी से उत्तेजित न होता हो और प्रेमिल हृदय न हो । शील पालन करने वाले का चरित्र पृथुल-पृथ्वी की तरह होता है, जो कोई पवित्र जीवन व्यतीत करना चाहता है, जो कोई निर्वाण प्राप्त करना चाहता है उन सभी का कल्याण करने वाला ।

बोधि-प्राप्ति 'सरल जीवन और ऊँचे विचार' से बहुत कुछ ऊपर की बात है । इस में जीवन की सम्पूर्ण बुद्धिमत्ता निहित है, वासना से सम्पूर्ण मुक्ति, अपनी निम्न-स्तर की प्रवृत्तियों की बलिदान करके अपनी ऊँची से ऊँची सामर्थ्य की उपलब्धि । इसी के अन्तर्गत ब्रह्मचर्य जीवन का असाधारण परित्याग भी सन्निहित है । निर्वाण की प्राप्ति एक ऐसी उपलब्धि है जो यूं ही सुलभ नहीं है और जो इतनी महान है कि ब्रह्मचर्य-जीवन का परित्याग इस के लिये कोई बड़ा परित्याग नहीं है । परिपूर्ण जीवन की दिशा में बहुत कुछ सम्पन्न कर सकना विवाहित जीवन में भी असम्भव नहीं हो सकता । तो भी विकास की दृष्टि से ऐसा लगता है कि ब्रह्मचर्य-जीवन में और ऊँचे स्तरीय जीवन में कुछ सम्बन्ध अवश्य है । विकास उस स्वाभाविक विरोध की ओर संकेत करता है जो व्यक्तिगत परिपूर्णता और मनुष्य संख्या वृद्धि के प्रयास में विद्यमान है । पाशविक जीवन की निम्नस्तरीय अवस्था रहने पर, नसल ही सब कुछ है और व्यक्ति कुछ भी नहीं । ऊंची अवस्था में प्रजनन-

क्रिया गौण हो जाती है और व्यक्ति का महत्व बढ़ जाता है। जीवाणु या जीवन की मछली अवस्था में हम बेहिसाब उपजाऊपन देखते हैं, लेकिन मानवता का अधिकांश भाग अब 'एक समय एक' की ही अवस्था तक आ पहुंचा है। इसलिये विकास की ऊंची से ऊंची अवस्था वही होगी जिस में व्यक्ति का सम्पूर्ण व्यक्तित्व उस के अपने लिये होता है। उसे अब नसल की वृद्धि से कुछ लेना-देना नहीं रहता। उसे कुछ लेना-देना रहता है तो केवल अपने पूरे स्वतन्त्र विकास से। इस लिये जो बोधिप्राप्ति के लिये प्रयत्नशील है उस से यदि हम सम्पूर्ण व्यक्तित्व और ऊंचे से ऊंचे परोपकारी जीवन की अपेक्षा रखते हैं तो वह वंश-वृद्धि की योग्यता की कीमत चुकाने पर ही संभव है।

बौद्ध भिक्षु की यह टीका प्राय: की जाती है कि वह स्वयं निखट्टु रहकर दूसरों पर भार-स्वरूप जीवन व्यतीत करता है। लेकिन यह एक ऐसा आरोप है जो यथार्थता से दूर है। इस में कुछ सन्देह नहीं कि हर गिरोह में कुछ काली भेड़ें होती हैं। लेकिन बौद्ध धर्म की तो शिक्षा है कि प्रमाद तो मृत्यु के समान हैं अप्रमाद ही जीवन है। भगवान बुद्ध ने कहीं भी कभी भी अक्रियावाद की शिक्षा नहीं दी। निगण्ठनाथपुत्र के अनुयायी सिंह सेनापति को भगवान बुद्ध ने साफ साफ कह दिया था कि उन्हों ने जितने भी अकुशल कर्म हैं उन का मन, वचन, कर्म से न करना सिखाया है और जितने भी कुशल-कर्म हैं उन का मन, वचन, तथा कर्म से करना सिखाया है। इतिवुत्तक में बुद्ध वचन है, 'भिक्षुओं, कुशल-कर्मों से न घबराओ। जो कुछ हम चाहते हैं, इच्छा करते हैं, हमारी प्रसन्नता का ही पर्याय है कुशल-कर्म।' बार बार भगवान बुद्ध ने अपने भिक्षुओं की प्रमाद और आलस्य के लिये भर्तसना की है। उन्हों ने आलसी आदमियों के लिये भिक्षुसंघ में प्रवेश देना ही निषिद्ध ठहराया है। 'एक कमजोर और आलसी आदमी के लिये इस धर्म-विनय में न मार्ग-फल की प्राप्ति है और न अर्हत्व की प्राप्ति है। जो सतत साधना करते हैं, वे ही सफल होते हैं।' इस सम्बन्ध में धम्मपद की अट्ठकथा में आई हुई एक कथा रुचिकर हो सकती है। एक बार एक आदमी था। उस के कोई भाई-बन्द न थे। हाँ, उस का केवल एक छोटा लड़का था। उस के माता-पिता उसे बहुत प्यार करते थे। उन्हों ने उसे पढ़ने के लिये गुरु-कुल भेज दिया और इस आशा में प्रसन्न थे कि किसी न किसी दिन वह समस्त परिवार का भूषण सिद्ध होगा। लेकिन हाय! वह आलसी निकला, प्रमादी निकला और उस ने कुछ भी नहीं सीखा। उस के माता-पिता उसे घर वापिस ले गये। उन्हों ने सोचा कि घर का काम-काज ही होश्यारी से कर सकेगा। लेकिन उस की आदतें एकदम मैली थीं। वह घरभर के लोगों के लिये दु:ख का कारण था। इस के फलस्वरूप उस के सभी पास पड़ोसी उस की उपेक्षा करने लगे। उस के मित्र और उस के माता-पिता उस से लगभग घृणा करने लग गये। इधर से सर्वथा निराश होकर उस ने धार्मिक जीवन में, तपस्या करने में, धार्मिक क्रिया-कलापों

में सान्त्वना खोजने की कोशिश की। अन्त में जब उस को तथागत का पता लगा तो वह उन के पास आया और उन की अनुकम्पा चाही। तथागत ने कहा, 'यदि तुम मेरे साथ रहने में सुख का अनुभव करना चाहते हो, तो पहली बात जो तुम्हें सीखनी होगी, वह है कुशल-कर्मों में मन लगाना। इस लिये अपने घर वापिस जाओ। अपने माता-पिता की आज्ञा का पालन करना सीखो। अपने धर्म-ग्रन्थों को बांचो। अपने दैनिक कार्यों के करने में उत्साहपूर्वक दिलचस्पी लो। आलस्य के कारण अपने शरीर या अपने कपड़ों की स्वच्छता में फर्क न आने दो। यह सब अभ्यास करके फिर यहाँ आओ। हो सकता है कि तब तुम्हें भिक्षु-संघ में प्रवेश मिल जाय।' प्रमाद सभी दूसरी नैतिक बीमारियों के मूल में हैं। जो अपने आप को प्रमाद से मुक्त कर सकेगा, वह सभी दूसरी नैतिक बीमारियों से भी मुक्त हो जायगा। धर्म सेनापति सारिपुत्र के बारे में लिखा है कि जहाँ कहीं भी आवश्यक होता था, वे प्रति दिन अपने हाथ से झाड़ू लगाते थे, खाली बरतनों में पानी भरते थे और रोगी-सेवा में लगे रहते थे। धर्म-विनय के अनुसार जो जीवन जिया जाता था, उस में ध्यान-भावना और क्रिया-शीलता दोनों का स्थान है।

यह अक्सर कहा जाता है कि बौद्ध भिक्षु व्यवहारिक कार्यक्रमों में हिस्सा नहीं लेता। यह आरोप संकुचित दृष्टि से देखने का परिणाम है। अरिस्टाटल ने जैसा कहा है कि "व्यवहारिक जीवन में दूसरों के प्रति क्रियाशील बनने की अनिवार्य शर्त नहीं है और न ऐसा चिन्तन जीवन होने की कि जिसका परिणाम कार्य ही हों।" व्यवहारिक शब्द का और भी यथार्थ उपयोग उन मूल्यवान विचारों के लिये किया जाना चाहिये जो कि स्वयं अपने में अपना उद्देश हों, क्यों कि किसी उद्देश की प्राप्ति अपने में एक कार्य है। इतना ही नहीं एकदम दुनियावी दृष्टिकोण से भी बौद्ध भिक्षुओं ने अपने देश की अमूल्य सेवा की है। जिन जिन देशों में भी बौद्ध धर्म फैला है, बौद्ध भिक्षु ही सभ्यता के अग्रदूत और विद्या-केन्द्र साबित हुए हैं। मध्ययुग में विद्या-केन्द्रों के रूप में और कोई भी दूसरे स्थान इतने प्रसिद्ध नहीं थे जितने नालन्दा, वल्लभी, ओदन्त-पुरी और विक्रमशिला। नालन्दा व्यापक विद्या-केन्द्र था, जहाँ सभी शिल्प सिखाये जाते थे और सभी विद्यायें पढ़ाई जाती थी, जैसे शब्द-विद्या, शिल्प-स्थान विद्या, चिकित्सा-विद्या, हेतुविद्या, तथा अध्यात्म-विद्या। युवाङ्ग च्वाङ्ग का कथन है, "हजारों की संख्या में नालंदा में रहने वाले बौद्ध भिक्षु-गण बड़े से बड़े विद्वान हैं। यद्यपि महविहार के नियम कड़े हैं, किन्तु उन भिक्षुओं का आचरण पवित्र है और उस पर किसी प्रकार का कोई धब्बा नहीं लगा है। गम्भीर प्रश्नों के पूछे जाने के लिये और उन का समाधान करने के लिये दिन पर्य्याप्त नहीं समझता। सुबह से लेकर रात तक भिक्षु-गण धर्म चर्चा में बझे रहते हैं, बड़े भिक्षु नये भिक्षुओं के लिये ज्ञानार्जन के मामले में सहायक सिद्ध होते हैं। त्रिपिटक के आधार पर जो प्रश्न पूछे जाते हैं, जो भिक्षु उन का संतोषजनक उत्तर नहीं दे सकते उन का आदर नहीं होता। उन्हें लज्जा

के मारे छिपकर रहना पड़ता है। इसलिये अनेक शहरों से बहुत बड़ी संख्यामें पढ़े लिखे लोग भी यहाँ आते हैं और अपनी शङ्काओं का संतोषजनक समाधान सुनकर संतुष्ट होते हैं। उन की ख्याति दूर दूर तक फैल जाती है। इसीलिये कुछ लोग अपने नाम के साथ 'नालन्दा के विद्यार्थी' विशेषण लगा लेते हैं, जिस से जहाँ तहां उन्हें लाभ और यश दोनों की प्राप्ति होती है।

बौद्ध भिक्षुओं ने जापान में जो कार्य किया उस की चर्चा करते हुए नोबुता किशिमोतो लिखते हैं: "बौद्ध धर्म के विरोध में प्राय: यह कहा जाता है कि बौद्ध भिक्षु और बौद्ध पुरोहित परं आलसी होते हैं। वे बिना कुछ किये निखट्टू की तरह दूसरों के परिश्रम पर जीवित रहते हैं। एक दृष्टि से यह आरोप सही है। लेकिन हमें यह याद रखना चाहिये कि यदि बौद्ध धर्म ने जापान को कुछ निखट्टु बौद्ध भिक्षु दिये हैं, तो इसी ने जापान को चित्रकला, मूर्तिकला और भवन-निर्माण कला आदि शिल्पों की भी देन दी है। जितने भी प्रसिद्ध चित्र हैं, मूर्तियां हैं और आधुनिक जापान के भवन हैं वे सब धार्मिक हैं और हैं बौद्धधर्म सम्बन्धी। और बौद्ध भिक्षु तथा बौद्ध पुरोहित न सर्वथा आलसी थे और न सर्वथा निष्प्रयोजन थे। यह सच है कि उन का पालन पोषण श्रद्धासम्पन्न उपासकों के ही बलबूते पर होता था। लेकिन बौद्ध भिक्षु की तरह ईसाई पादरियों का जीवन भी ईसाई धर्म को मानने वाले दायकों पर निर्भर करता है। तो भी कोई भी उन्हें आलसी और निखट्टु नहीं कहता है। अपने नैतिक और धार्मिक कर्तव्यों के परिपालन के अतिरिक्त बौद्ध भिक्षु एकान्त स्थानों की खोज में इधर उधर जाते रहे हैं और उन्हों ने अनेक सड़कों और पुलों का निर्माण किया है। इस प्रकार उन्हों ने यात्रायें करना और एक दूसरे से सम्बन्ध बनाये रखना आसान कर दिया है। बहुत करके ये बौद्ध भिक्षु ही थे जिन्हों ने लोगों को शान्तिमय जीवन बिताते समय विविध शिल्पों को विकसित किया। अनेक अवसरों पर उन्हों ने बंजर इलाकों को धान के खेतों में परिणित करने में लोगों का मार्ग-दर्शन किया।" लेकिन शायद बौद्ध धर्म का जो सब से बड़ा लाभ जापान को पहुंचा वह शैक्षणिक था। बौद्ध स्कूल सार्वजनिक सेवा-कार्यों के केन्द्र बन गये। चीनी-संस्कृति के साथ हाथ में हाथ मिलाकर आगे बढ़ते हुए उस ने सभी को शैक्षणिक सुविधाओं से लाभान्वित किया। बौद्ध स्कूल सार्वजनिक शिक्षण के केन्द्र बन गये। गाँव के स्कूलों का बौद्ध विहारों या बौद्ध मन्दिरों से सीधा सम्बन्ध था। नाममात्र की फीस पर सामान्य लोगों को पढ़ना-लिखना, नीतिशास्त्र और दर्शन-शास्त्र का शिक्षण दिया जाता था। हर जगह बौद्ध भिक्षू ही शिक्षक था और राजघराने तक में बौद्ध शिक्षकों की नियुक्ति होती थी। बर्मा में भी हर विहार एक स्कूल है और भिक्षु सभी को नि:शुल्क शिक्षा का दान देते हैं। यदि बर्मा मे हर आदमी पढ़ना-लिखना जानता है, तो यह कोई आश्चर्य का विषय नहीं है। सारी जनता को शिक्षित करने की जो जटिल समस्या है, उस का आसानी से हो सकने वाला हल एक बौद्ध देश में ही संभव था।

कुछ आलोचकों का कहना है कि भगवान बुद्ध ने उन सामाजिक गुणों को प्रतिष्ठित नहीं किया जिन का समावेश 'देशभक्ति' शब्द के अन्तर्गत होता है। इस टीका का आधार अज्ञान है। मारसंयुक्त के द्वितीय वर्ग में लिखा है कि एक बार तथागत ने अपने से ही प्रश्न किया कि क्या यह संभव नहीं कि धर्मानुसार शासन का कारोबार चलाया जा सके, एक ऐसे राजा की तरह जो न स्वयं किसी प्राणी का बध करता है, न कराता है; जो न स्वयं लोगों को पीडा पहुंचाता है, न दूसरों से पीड़ा पहुंचवाता है; जिसे अपने कोई कष्ट या दुःख नहीं होता और जो दूसरों को भी कष्ट और दुःख नहीं पहुंचने देता। इस प्रकार के राजा के बारे में जातकमाला का कहना है, 'उस की शक्ति का आधार उस की मैत्री है, न कि उस की बहुरंगी सेवा। फौज तो केवल वह रिवाज का पालन करने के लिये रखता है। वह क्रोध को नहीं जानता। वह कठोर शब्दों का भी व्यवहार नहीं करता। वह ठीक तरह से अपनी भूमि का संरक्षण करता है। उस के कार्यों का आधार धर्म है, विज्ञान आश्रित राजनीतिक बुद्धि नहीं। उस का धन शीलवानों का गौरव करने के लिये है। यद्यपि वह आश्चर्यकर गुणों से युक्त है तो भी वह दुष्ट लोगों तक के धन पर हाथ नहीं डालता।' इस में कोई सन्देह नहीं कि बौद्ध ग्रन्थों का धर्म-राज अशोक इस आदर्श को साक्षात्कार करने की कोशिश करता था। अपनी धर्म-शिक्षा और आचरण द्वारा उस ने लोगों को श्रेष्ठतर और अधिक सुखी बनाने की कोशिश की। अपने फरमानों में अशोक ने कहा है, 'इस प्रकार संसार में धर्म-कार्यों की बढ़ोत्तरी होती है और धर्माचरण की भी। दया और दान की, सत्य और पवित्रता की, कृपा तथा अच्छाई की। मैं जितने धर्म-कार्य करता हूँ, वे उदाहरण उपस्थित करते हैं।' 'मेरे लिये लोगों को न्याय देने का कार्य कभी भी अत्यधिक नहीं हो सकता। यह मेरा कर्तव्य है कि मैं अपने आदेशों द्वारा लोगों का कल्याण करने का प्रयास करूं। सतत कार्यरत रहने से और न्याय की व्यवस्था करने से ही लोगों का कल्याण हो सकता है। इस से बढ़कर और कुछ नहीं है। मेरे सभी प्रयासों का केवल एक ही उद्देश है, अपने लोगों के ऋण से अऋण होना।' 'सभी आदमी मेरे बच्चों के समान हैं। जैसे मैं अपने बच्चों के बारे में सोचता हूँ कि वे अब और भविष्य में भी सुरक्षित रहें, ठीक ऐसा ही मैं सभी लोगों के बारे में चाहता हूँ।' 'इस प्रकार धर्म-कार्यों का संपादन ही सरकार का मुख्य कर्तव्य है। इसी उद्देश के लिये धर्म महामात्रों की नियुक्ति की गई है। ये साधुओं तथा साम्प्रदायिक संगठनों से पृथक तथा स्वतन्त्र संगठन है। इनका कार्य मजहबी मान्यताओं और व्यवहार से कहीं ऊंचे दर्जे का है, मानवता का विकास, सद्-व्यवहार और सत्कार। क्यों कि नियम यही है : शासन धर्मानुसार, उन्नति धर्मानुसार, संरक्षण धर्मानुसार।' उस का आग्रह था कि उस के सभी अफसर दण्डसमता और व्यवहारसमता का दृढ़ता से पालन करें। इस का मतलब है कि जाति, वर्ण और संप्रदाय का बिना ख्याल किये कानून की दृष्टि में सभी को बराबर

माना जाय । किसी भी सम्राट ने अपने देश की ऐसी सेवा नहीं की है, जैसी अशोक ने भारत की की । जिसे अरिस्टाटल ने व्यवहारिक बुद्धि कहा है, वह अशोक में प्रचुर मात्रा में थी । राज्यविशारदों की अपने संगठनों का मार्ग-दर्शन करने की योग्यता, सैद्धान्तिक बुद्धि की दिशा में मानवता की स्थापना और शिक्षण, श्रेष्ठ कला में अभिव्यक्ति पानेवाली ऊँचे दर्जे की क्रियाशीलता, ऊँचा विचार और धार्मिकता । उस का उद्देश था एक ऐसे समाज का निर्माण जिस में साधुता की, बुद्धिमत्ता की, विद्या की, विज्ञान की, कविता की और सूक्ष्म कलाओं की अभिवृद्धि हो । इस में कौनसा आश्चर्य है यदि उस का नाम वोल्गा से जापान तक और स्याम (थाइलैण्ड) से बैंकाक तक सत्कृत है । 'यदि आदमी का बड़प्पन' कोयेप्पन के कथनानुसार, 'उन हृदयों की संख्या से मापा जाता है, जो उस का संस्मरण सुरक्षित बनाये रखे हैं, या उन होठों की संख्या से जो आज भी उस का नाम गौरव से लेते हैं, तो असन्दिग्ध तौर पर अशोक कैसर या चार्लेस दी ग्रेट की अपेक्षा महान है ।'

'नरेश मर गया है, नरेश चिरंजीवी हो,' इस विचार का बौद्ध धर्म के सारांश से कोई सम्बन्ध नहीं । जो धर्म इस बात की शिक्षा देता है कि हर आदमी को अपना लैम्प आप बनना चाहिये, वह राजत्व के बारे में जो परम्परागत हिन्दु मान्यता है, उस से तीन काल मेल नहीं बिठा सकता । इस बाद के सिद्धान्त की जड़ जाति-प्रथा में है । उसे एक ऐसा निरपेक्ष जिम्मेदार शासक चाहिये, जो अपने ही विधायक हो ताकि वह जाति-प्रथा के विभिन्न प्रकार के नियमों को जबर्दस्ती लागू कर सके । दूसरी ओर संघ का आधार-सिद्धान्त है आत्म शासन, सभी की सरकार, सभी के लिये, सभी के द्वारा सभी संगीतियों में जो जो विवादग्रस्त प्रश्न पैदा होते थे, उन का निर्णय छन्द (वोट) से होता था, किसी के अधिकार से नहीं । हिन्दू मठों में मरणासन्न मठाधीश मठाधिपति का नामाङ्कन करता है । बर्मा में संघराज का चुनाव सभी के मत से होता है । भगवान बुद्ध के समय बहुत से छोटे मोटे स्वशासित प्रजातन्त्र थे । वज्जि, मिथिला के विदेह और वैशाली के लिच्छवियों के प्रजातन्त्रों का एक मित्र-सघ था । किसी प्रजातंत्र का कल्याण कैसे हो सकता है, भगवान बुद्ध उन स्थितियों तथा परिस्थितियों को भलि प्रकार समझते थे । एक बार मगधनरेश अजातशत्रु ने वज्जियों पर आक्रमण करने की एक योजना बनाई और अपने प्रधान मन्त्री को भगवान बुद्ध के पास भेजा कि उन्हें सूचित कर आये । जब तथागत को सूचना मिली तो तथागत ने आनन्द से पूछा, क्या वज्जि लोग समय समय पर अपनी नियमित मीटिंग करते हैं ? जब आनन्द महास्थविर ने स्वीकारात्मक उत्तर दिया तो तथागत ने कहा कि जब तक लिच्छवीगण समय समय पर अपनी नियमित बैठकें करते रहेंगे, तब तक यही समझना चाहिये कि उनकी अभिवृद्धि

ही होती रहेगी । जब तक वे मेलमिलाप से रहेंगे, जब तक वे अपने बड़ों का आदर करते रहेंगे, जब तक वे स्त्रियों का सम्मान करते रहेंगे, जब तक वे सभी कर्तव्यों का पालन करते हुए धर्माचरण करते रहेंगे, जब तक वे सन्तपुरुषों को सरक्षण प्रदान करते रहेंगे तब तक उन की अभिवृद्धि ही होती रहेगी, पतन न होगा ।' तब राजा अजातशत्रु के राजदूत को सम्बोधित करते हुए कहा–

'जब मेरा निवास वैशाली में था, तब मैं ने वज्जियों को इन बातों की शिक्षा दी थी, जिनके अनुसार चलने से कभी किसी की परि हानि नहीं होती ।' ज्यों ही वह राजदूत विदा हुआ भगवान बुद्ध ने भिक्षुओं को एकत्र किया और उन्हें भी सात अपरिहानिय धर्मों का उपदेश दिया । 'भिक्षुओ, जब तक भिक्षुगण समय समय पर अपनी नियमित मीटिंगें करते रहेंगे, जब तक परस्पर मेल-मिलाप में रहेंगे, भिक्षुओ, जिस बात को अनुभव ने कल्याणकारी प्रमाणित किया है उसे दृढ़तापूर्वक पकड़े रहेंगे, जब तक केवल ऐसी बातों को स्वीकार करेंगे जो परीक्षण द्वारा प्रामाणिक सिद्ध हुई हैं, जब तक उन के ज्येष्ठ लोग न्यायशील बने रहेंगे, जब तक भिक्षुगण अपने बड़ों का आदर, सत्कार तथा गौरव करते रहेंगे और उन का कहना मानते रहेंगे, जब तक भिक्षुगण तृष्णा के वशीभूत न होंगे और धर्म-रस का पान करते रहेंगे, ताकि सन्त जन उन के प्रदेश में आये और सुख-शान्तिपूर्वक रहें, जब तक भिक्षुगण प्रमाद और आलस्य के वशीभूत न होंगे, जब तक भिक्षुगण बोधि के सात अंगों, धर्म-विनय, वीर्य, प्रीति, विनम्रता, आत्म-संयम, स्मृति तथा समाधि का अभ्यास करते रहेंगे, तब तक भिक्षुसंघ की अभिवृद्धि ही होती रहेगी, पतन नहीं होगा । इसलिये भिक्षुओ, श्रद्धासम्पन्न बनो, विनम्र बनो, पाप-भीरु बनो, शिक्षाकामी बनो, वीर्यवान बनो, बुद्धिमान बनो, और ज्ञानी बनो ।'

इस सब से यह निश्चयात्मक रूप से स्पष्ट होता है कि भगवान बुद्ध की शासन की कल्पना किसी असीम या सीमित अधिकार वाले राजा का शासन नहीं थी । उन का अभिप्राय किसी उच्चतर शासन व्यवस्था से था, ऐसे समाज की रचना जिस में व्यक्तिगत या राष्ट्रीय अत्याचारों के लिये कोई जगह न थी, एक नसल और दूसरी नसल के बीच कोई दीवार न खड़ी थी, जिस में कोई भी निम्न-प्रवृत्ति का न होगा, यदि होगा तो केवल निम-अहंकारी होगा, जिस में कोई धनी न होगा, यदि होगा तो भलाई के प्रेम और ज्ञान के ऐश्वर्य से युक्त होगा । जिस में कोई भी आदमी आलसी न होगा, क्यों कि हर आदमी के लिये काम करने का अवसर होगा और वह आदमी कार्यरत रहने में आनन्द का अनुभव करेगा, जिस में ऐसा कोई न होगा, जिस की काम के भार से कमर टूट गई हो, क्यों कि संसार भर के काम का समान बंटवारा हर किसी के काम के भार को हलका कर देगा । जिस में समस्त पृथ्वी एक सुखावति लोक में परिणित हो जायगी, जिस में

आदमी इच्छा और दु:खों के भार से दबा नहीं रहेगा और वह सम्पूर्णता के स्वर्ग की ओर अग्रसर होगा।

यदि भगवान बुद्ध ने हमें कुछ विशेष राजनीतिक शिक्षण नहीं भी प्रदान किया, उन्होंने उन गुणों को विकसित करने की आधारशिला रख दी, जिन में समस्त सामाजिक कल्याण की जड़े विद्यमान है । बौद्ध-धर्म का मूलाधार है आदमी की योग्यता और बुद्धि का पर्याप्त होना, इस लिये कोई भी ऐसा बौद्ध जो सत्यान्वेषण को अपना प्रधान कार्य बनाये हुए है किसी भी ऐसे बाह्य अधिकार के सामने सिर नहीं झुका सकता, जो उस के अपने भीतर से उत्पन्न नहीं हुआ है। किसी अधिकार की अवज्ञा के फलस्वरूप हमें देशनिकाला भुगतना पड़ सकता है, जेल जाना पड़ सकता है या और कोई अत्याचार सहना पड़ सकता है, लेकिन यदि हम अपने भीतर के अधिकार की अवज्ञा करते हैं तो हम मूर्ख प्रमाणित होते हैं । इस लिये बौद्ध-धर्म अपने आत्म-सम्मान के प्रति जो अधीन है और जो एक विज्ञसमाज का हक है, उस में उतना ही बड़ा अधिकार देखता है जितना किसी सजा के भय या इमान के लोभ के अन्तर्गत निहित रहता है। जिस में ऊंची से उंची स्वतन्त्रता निहित है, ऐसा तर्कप्रधान जीवन सामाजिक कर्तव्य और न्याय का मूलाधार होने के लिये पर्याप्त है और उस मानवी सहयोग की गारण्टी भी बनने के लिये जो कि स्थायी राज्य की स्थिरता की आवश्यकता शर्त है और उस का प्राण है।

कामुकता और काय-क्लेश दोनों प्रकार के जीवन का परित्याग कर बौद्ध धर्म ने स्वस्थ विवेकपूर्ण जीवन पर जोर दिया है और इस बात को स्पष्ट किया है कि जो उच्चतर जीवन है उस का आधार स्वास्थ्य के नियम होना चाहिये न कि पागल पन । इस लिये यह सभी इच्छाओं को निष्प्रभ बनाना, सारी चेतना को निष्प्राण बनाना मूढ़ता के अतिरिक्त कुछ नहीं । यद्यपि जो अवश्यम्भावी है, उसका यह खुले दिल से स्वीकार करते हैं, तो भी यह निराशा की भाषा नहीं बोलते। जो बातें कभी भी पूरा संतोष दे ही नहीं सकतीं, भगवान बुद्ध की शिक्षा उन बातों की ओर से ध्यान हटा देती है। वह साधक का मुंह मानसिक तथा नैतिक आदर्शों की ओर मोड़ देती है। परित्याग का मतलब जीवन के सम्बन्धों का निषेध नहीं है बल्कि अहंकार का पूर्ण मूलोच्छेद है। सिर मुण्डाने मात्र से, मुंह लट-काये रहने मात्र से, पीतवस्त्र धारण करने मात्र से, शील ग्रहण करने मात्र से, भिक्षाटन करने मात्र से, विनय के नियमों का आग्रहपूर्वक पालन करने मात्र से कोई भिक्षु नहीं होता। किन्तु यह क्लेशों, चित्तमलों, वासना तथा अहंकार से जड़ मूल से उखाड़ फेंकने से भिक्षू होता है। एक अवसर पर एक निगण्ठ-नाथपुत्र के अनुयायी ने तथागत से प्रश्न पूछे – धार्मिक मनुष्य कौन है? विद्वान कौन है? पूज्य कौन है? यथार्थ सौन्दर्य क्या है? श्रमण कौन है ? यथार्थ भिक्षु कौन है ? यथार्थ ज्ञानी कौन है? धर्म के नियमों को पालन करने वाला कौन है? तथागत ने उत्तर

दिया, "जो आदमी हमेशा कुछ न कुछ सीखने के लिये उत्सुक रहता है, जो कुशल मार्ग पर चलता है, जो बोधि के लक्षणों पर विचार करता है, वह धार्मिक आदमी होता है। जो शब्दों की बारीकी मात्र पर निर्भर नहीं होता, जो निर्भय होता है, जो सही बात को ही स्वीकार करता है, विद्वान कहलाता है। जो साठ वर्ष से अधिक का हो, जिस की कमर झुक गई हो, जिस के बाल सफेद हो गये हों, इतने मात्र से कोई पूज्य नहीं होता। इन सब बातों के बावजूद वह वज्र मूर्ख हो सकता है। लेकिन जो धर्म के प्रति जिज्ञासू है, जो अपने आचरण को संयत रखता है, जी शील का धनी है, जो मैत्री-भाव से परिपूर्ण है, जो भीतरी रहस्यों का ज्ञाता है, वही पूज्य है। हमें आकर्षित करने वाले फूलों की तरह जिसका बाह्य रूप आकर्षक है, वह वास्तव में सुंदर नहीं है। जो व्यक्तिगत सजावट की चीजों के लिये लालयित रहता है वह सुन्दर नहीं है। जिस की वाणी और कर्मों का परस्पर मेल नहीं खाता, वह सुन्दर नहीं है। लेकिन जो आदमी प्रत्येक बुरी आदत का त्याग कर सकता है, वह सुन्दर है। जो बुराई का मूलोच्छेद कर चुका है, वह सुन्दर है। जिस ने बोधि प्राप्त कर ली है, वह सुन्दर है। जिसका सिर जबर्दस्ती मूण्ड दिया गया हो, जो मिथ्याभाषी हो, जो सम्पत्ति के पीछे पड़ा हो, जो दूसरे सामान्य आदमियों की तरह इच्छाओं का गुलाम हो, वह श्रमण नहीं है। जो अपनी प्रत्येक कुचेष्टा को दबाकर रख सकता है, जो अपनी प्रत्येक व्यक्तिगत कामना को शान्त रख सकता है, जो अपने दिमाग को शान्त रख सकता है और जो अपने स्वार्थपूर्ण विचारों का अन्त कर सकता हैं, वही श्रमण है। जो निश्चित समय पर अपनी भीख मांग कर खाता है, इतने मात्र से वह भिक्षु नहीं होता। जो सीधा चलता है ताकि लोग उसे 'शिष्य' मानें और उसे चरित्रवान् व्यक्ति समझें भिक्षु नहीं होता। जो सभी पापों से मुक्त हो गया है, जो अपनी बुद्धि से अपनी प्रत्येक कुप्रवृत्ति का दमन कर सकता है और जो संतोषपूर्वक परिशुद्ध जीवन व्यतीत करता है भिक्षु कहलाता है। जो आदमी मौन धारण किये रहता है जब कि उस के विचार अपवित्र हैं, बाह्य नियमों का पालन मात्र करता है यथार्थ बोधि-प्राप्त आदमी नहीं है। यथार्थ बोधि-प्राप्त आदमी वह है जिसका मन तृष्णा से मुक्त है, जिसका भीतरी जीवन पवित्र होता है, आध्यात्मिक होता है, जो इस या उस बात से अस्थिर नहीं होता पूर्ण ज्ञानी कहलाता है। जो सभी आदमियों की प्राण-रक्षा करता है, इतने मात्र से वह बोधि-प्राप्त मनुष्य नहीं है। किन्तु जो व्यापक मैत्री युक्त है, जिसके दिल में तनिक भी ईर्षा नहीं है बोधि-प्राप्त मनुष्य है। जो आदमी बहुत बोलता है वह धार्मिक नहीं होता। भले ही वह सीधा सादा अशिक्षित आदमी हो, लेकिन यदि वह सदैव जागरूक रहकर धर्मानुसार जीवन व्यतीत करता है, तो वह धार्मिक है।

धम्मपद में आया है कि जिस के हाथ संयत है, जिस के पांव संयत हैं, जिस की वाणी संयत है, जो हर दृष्टि से संयत है, जो विचारवान् है, शान्त है, संतुष्ट है, एकाकी विचरण करता है, वह भिक्षु है। जो गुणों का, ज्ञान का, कोमलता का, सहनशीलता

का, दया का, तपस्या का और बुद्धिमत्ता का धनी होता है, वही भिक्षु कहलाता है। वह खेल के तौर पर, शरीर का मोटापा या सौन्दर्य बढ़ाने के लिये भले ही भोजन न करे, लेकिन वह शरीर संरक्षण के लिये, भूख शान्त करने के लिये और बोधि-लाभ के लिये भोजन पर्याप्त मात्रा में करता है। वह पुष्पमालाओं का, सुगन्धित द्रव्यों का, उबटन आदि का या गहनों का उपयोग नहीं भी कर सकता, लेकिन वह स्वच्छ रहता है और साफ सुथरा रहता है। उस के पीतवस्त्र भले ही बहुत सुन्दर और आकर्षक न हों, लेकिन वे स्वच्छ और आरामदेह होते हैं। भले ही वह किसी आलिशान मकान में न रहे, लेकिन वह हमेशा धूप-छाँव से बचे रहने के लिये छत के नीचे रहता है। वह ऊंचे और चौड़े पलंग का भले ही उपयोग न करता हो, लेकिन वह नरम बिस्तरे पर सोता है। वह नाचने, गाने और नाटक आदि से बचा बचा रह सकता है, लेकिन वह समाज से कटा कटा रहकर कभी नहीं रहता। वह समाज से असम्बन्धित जीवन व्यतीत नहीं करता, उस से सभी स्त्री-पुरुष मिल सकते हैं जिन से वह खुलकर धार्मिक विषयों पर बातचीत करता हैं। क्यों कि वह पण्डा-पुरोहित नहीं है, इसलिये उसे जनम-मरण शादी विवाह से बहुत लेना-देना नहीं भी रह सकता। लेकिन उसे धर्म-काय में जिस आदर्श जीवन का वर्णन किया गया है उन से सम्बन्धित, श्रद्धा, आशा और उत्साह बनाये रखने में पूरी दिलचस्पी रखता है। वह दरवाजे दरवाजे भिक्षाटन के लिये नहीं भी जा सकता, वह लोगों को अपनी आवश्यक्तायें नहीं भी बता सकता, लेकिन वह उन के दान पर ही गुजारा करता हैं, किसी आलस्य के कारण नहीं बल्कि क्यों कि ऐसा करने से उसे विनम्रता का अभ्यास करने का अवसर मिलता है। उसे अपनी आवश्यक्ताओं की ओर ध्यान देने के लिये पर्याप्त अवकाश रह सकता है। तो भी वह धर्म प्रचार कार्य में व्यस्त रहता है। वह स्वतन्त्र हो सकता है, लेकिन वह स्वच्छन्द नहीं होता। वह किसी को अपने से बड़ा नहीं भी मान सकता, लेकिन वह धर्म के प्रति गौरवशील और विनम्र अवश्य बना रहता है। वह दूसरों पर काबू रखे न रखे, किन्तु वह अपनी इन्द्रियों और चित्त पर अवश्य काबू रखता है। वह अपने लिये भले ही कोई अधिकार और सुविधा न चाहे लेकिन वह अपने संगे-साथियों के प्रति अपने कर्तव्यों का पालन करता है। उसे सांसारिक सुखों की लालसा नहीं भी रहती, तो भी वह दूसरों को सुखी देखने की इच्छा रख सकता है, वह अपने आप को सम्पूर्ण बनाने के लिये प्रयत्नशील रह सकता है, लेकिन वह ऐसा करता है निस्वार्थ-भाव से और दूसरों को सुखी बनाने की चिन्ता में लगा रहकर। उस का सम्मान लोग उस के 'ज्ञान' के लिये नहीं करते, बल्कि इस लिये क्योंकि वह पवित्रता, कृपालुता, सहनशीलता, दयालुता और बुद्धि का आगार होता है।

▣

आठवाँ परिच्छेद

बौद्ध–धर्म और निराशावाद

शापनहार का जो मुख्य ग्रंथ है 'दी वर्ल्ड एज विल एण्ड आयडिया' उस में शापनहार ने लिखा है, 'यदि मैं अपने दर्शन के परिणामों को सत्य का मापदण्ड मानकर चलूं, मुझे यह स्वीकार करना पड़ेगा कि अन्य सभी दार्शनिक विचार-धाराओं की अपेक्षा बौद्ध–धर्म कहीं अधिक प्रमुख है। कुछ भी हो मेरे लिये यह बड़े हर्ष की बात है कि मेरी जो शिक्षायें है, वह उस धर्म की शिक्षाओं के इतनी अधिक समीप हैं, जो संसार के अधिकांश लोगों का अपना धर्म है।' शापनहार के लिये उसके अपने चिन्तन में और बौद्ध–धर्म में जो नजदीकी सामीप्य है वह बड़े संतोष का विषय हो सकता है लेकिन जहाँ तक बौद्ध–धर्म की बात है बौद्ध धर्म के लिये निश्चयात्मक रूप से यह एक दुर्भाग्य का विषय ही रहा है । इस ने बौद्ध-धर्म के बारे में एक भयानक गलतफहमी पैदा कर दी है । बौद्ध आदर्शों के बारे में यह मिथ्या धारणा हो गई है कि जीवन के प्रति जो शापनहार का निराशावादी दृष्टिकोण था, बौद्ध–धर्म भी उस का समर्थक है । बौद्ध–धर्म को किसी भी प्रकार के निराशावाद का पर्याय मान बैठने से बढकर भ्रामक कोई दूसरी बात हो ही नहीं सकती ।

शापनहार की शिक्षा का सार है कि प्रकृति से ही मानव का मानस बेमेल है। इस लिये आदमी जब तक भी वह चेतन अवस्थामें है, दुखी ही रहेगा । शापनहार का कहना है कि यह असम्भव है कि जीवन का संघर्ष पीड़ादायक न हो, हो सकता है कि बिना रक्तपात के इस की समाप्ति न हो, किन्तु हर हालत में आदमी को पश्चाताप करते रहना पड़ेगा । दूसरी ओर बौद्ध–धर्म का उद्देश्य ही है भीतरी समन्वय, भीतरी शान्ति । ऐसी शान्ति जिस में आदमी जीवन–संघर्ष से विश्रान्ति प्राप्त कर सकता है । 'जिसे भीतरी शान्ति प्राप्त है, जो अकेले में भी विश्रान्ति और सुख का अनुभव कर सकता है, वही सच्चा भिक्षु कहलाता है,' यही धम्मपद का कथन है । भगवान बुद्ध ने अपने भिक्षुओं को जो उपदेश दिये हैं, उन में बहुत से प्रवचनों का इतना ही सार है, कि निराश नहीं होना चाहिये, अनुतप्त नहीं होना चाहिये । जब सारिपुत्र के निधन पर आनन्द स्थविर अनुतप्त हो रहे थे, तो भगवान बुद्ध ने कहा था –

'आनन्द ! मैं ने इस प्रकार के वियोग से जो दुःख उत्पन्न होता है, बार बार इस बात का प्रयास किया है कि तुम उस दुःख से दुखी न हो। दो ही ऐसी बाते हैं जो हमें अपने माता–पिता से, अपने भाई–बहन से और जिन्हें हम अधिक से अधिक प्यार करते हैं, उन से पृथक कर सकती हैं। कौनसी हैं वे दो बातें ? एक तो दूरी दूसरे मृत्यु। यद्यपि मैं बुद्ध हूं, लेकिन ऐसा मत सोचो कि तुम्हारी ही तरह मुझे भी तन्हाई का दुःख नहीं सहन करना पड़ा है ? क्या जिस समय वीरान जंगलों में भटकता हुआ बोधि की तलाश कर रहा था, तो क्या तब मैं भी तनहा ही नहीं था ?

'और तब मैं यदि रोता–पीटता या दुखी होता अपने लिये अथवा दूसरों के लिये, तो उस से मुझे क्या लाभ हुआ होता ? क्या इस से मेरे अकेलेपन में कुछ भी कमी हुई होती ? क्या जिन्हें मैं ने छोड़ दिया था, उन्हें इस से कुछ लाभ हुआ होता ? कोई कितनी भी बड़ी विपत्ति आये, कितनी भी दुखद घटना घटे, हमारे रोने पीटने का, हमारे आंसू बहाने का किसी भी तरह औचित्य सिद्ध नहीं होता। यह केवल हमारे दौर्बल्य का प्रकटीकरण मात्र होता है।'

यह निश्चित है कि भगवान बुद्ध दुःख और पीड़ा के अस्तित्व को उतनी ही गहराई, उतनी ही ईमानदारी के साथ स्वीकार करते हैं जितनी ईमानदारी के साथ कोई भी निराशावादी । यह भी सत्य है कि वह इस बात पर जोर देते हैं कि आदमी सभी वासनाओं का परित्याग कर दे, सभी इच्छाओं से मुक्त हो जाये, भले ही वह यहीं इस पृथ्वी पर जीने से सम्बन्धित हो, भले ही अन्यत्र कहीं किसी दूसरी दुनिया से । जिन बातों को लोग स्वाभाविक या प्राकृतिक मानते हैं, यदि भगवान बुद्ध उस की भी गर्हा करते हैं, तो वह इसी लिये कि उन की दृष्टि में वे आस्रव हैं, सम्पूर्ण सुख की प्राप्ति के मार्ग में उपस्थित होने वाली बाधायें । जो परिवर्तनशील वस्तुएँ हैं, उन्हीं के प्रति आसक्ति होने से सांसारिक वासना उत्पन्न होती है। इसी लिये वह बहुत ही खतरनाक है। इस संसार में ऐसा कुछ भी नहीं जो अनित्य न हो, जो परिवर्तनशील न हो । स्वास्थ्य लम्बी देर तक बना रह सकता है, किन्तु अन्त में इस की जड़ खोदने वाले बुढापा और मृत्यु खड़े ही है। हम धन के पीछे जान देते हैं। किन्तु धन का भी सिवाय ऐयाशी, शक्ति या प्रसिद्धि प्राप्त कर सकने की सामर्थ्य के अतिरिक्त क्या उपयोग है ? कोई भी ऐसा नहीं जो ऐयाशी, शक्ति या प्रसिद्धि को नित्य मानता हो ?

जीवन जीवन के लिये जीने लायक नहीं है । यदि केवल अस्तित्व से ही हम संतुष्ट होते हो तो हमें किसी भी दूसरी चीज़ के चाहने का हक़ नहीं है । दूसरी ओर हम देखते हैं कि आदमी तभी सुखी होता है जब वह अपनी किसी इच्छा की पूर्ति के लिय प्रयास करता होता है। जब आदमी को किसी भी चीज की प्राप्ति के लिये संघर्ष नहीं करना होता, तो उसे अपना जीवन खाली खाली सा लगता है। वह जीवन से ऊब जाता है। क्यों कि आदमी असाधारण के पीछे हाथ धोकर

पड़ा रहता है, इस से इस का कुछ अनुमान लगता है कि वह अपने सामान्य जीवन से कितनी अधिक मात्रा में ऊबा हुआ है । आदमी के जीवन कुछ वर्षों की ही गिनती मात्र हों, उस में किसी भी गुण का लव-लेश न हो, तो वह स्वयं गर्हित है। जिस जीवन में किसी ऊंचे श्रेष्ठ आदर्श का साक्षात्कार करने के लिये क्रियात्मक प्रयास किया जा रहा है, जिस जीवन में सांस्कृतिक बढ़ियापन है, जिस जीवन में कुछ दार्शनिक उत्साह और दूसरों का कल्याण करने की प्रेरणा है, ऐसा जीवन ही जीने लायक जीवन कहला सकता है । और ऐसे जीवन के बारे में धर्म कभी भी यह नहीं कह सकता कि अब यह पर्याप्त हो गया । बौद्ध ग्रन्थ बार बार हमारे मन पर इसी प्रकार के जीवन का श्रेष्ठत्व अंकित करने का प्रयास करते हैं । बोधि प्राप्ति के लिये प्रयत्नशील साधक के जीवन के बारे में चारों स्मृति उपस्थानों के सूत्र में निम्नलिखित निर्देश है –

प्रश्न – बोधिसत्व के चित्त का क्या फल है ?

उत्तर – "ऊंचा सदाचार, ऊंचा सत्य का साक्षात्कार, ऊंची मैत्री, ऊंची करुणा । क्रोधरहित चित्त, अपराधियों पर करुणा, बुद्धि के विरुद्ध आचरण न करने की भावना, अन्त तक साधना में जुटे रहने की भावना ।"

प्रश्न – उस का कर्तव्य पालन क्या है ?

उत्तर – "शील के सभी नियमों का पालन करने का आग्रह, अज्ञों की उपेक्षा न करना, सभी मानवों के प्रति मैत्री, नये जन्मों से कुछ आशा न करना ।"

प्रश्न – उस का आनन्द क्या है ?

उत्तर – "एक बुद्ध का दर्शन किये रहने की खुशी, धर्म सुनना मिलने की खुशी, दान देकर न पछताने की खुशी और सभी प्राणियों का हित साध सकने की खुशी ।"

प्रश्न – उस का स्वास्थ्य कैसा होता है ?

उत्तर – "स्वस्थ शरीर, अनित्य वस्तुओं के प्रति अनासक्त चित्त, सभी प्राणियों को योग्य परिस्थिति तथा समता की स्थिति में प्रतिष्ठित कर सकना, धर्म के सम्बन्ध में सर्वथा सन्देहरहित होना ।"

प्रश्न – उस का आग्रह किस के प्रति होना चाहिये ?

उत्तर – "ध्यान-भावना के प्रति, परोपकार के प्रति, मैत्री के प्रति, बुद्धि समन्वागत विनय पालन के प्रति ।"

शङ्का पैदा हो सकती है कि जब शरीर, जीवन, अपना-पन सभी कुछ अनित्य है, तो क्या सदाचार, शान्त-भाव, विद्या और मुक्ति में सम्पूर्णता है ?

तथागत ने कहीं भी समस्त जीवन की गर्हा नहीं की है । क्यों कि इस का परिणाम, अनिवार्य परिणाम सुख की अपेक्षा दुःख ही होगा । इस में कुछ सन्देह नहीं कि मनुष्य का जीवन किसी न किसी प्रकार का संघर्ष है और जीने के लिये

हमें संघर्ष करना अनिवार्य है । यदि ऐसा होता जैसा ईसायत शिक्षा देती है कि यह संघर्ष पाप का परिणाम होता और इस के साथ जो सजा जुड़ी है, वह भगवान द्वारा दिया गया दण्ड होती, तब यह दुनिया निकृष्ठतम संसार होती और निराशावादी बन जाने के अतिरिक्त हमारे पास कोई उपाय न होता। लेकिन बौद्ध धर्म का शिक्षण है कि हमें जितना कष्ट भोगना पड़ता है, वह हमारे दृष्टिकोण का ही परिणाम है। क्योंकि हम जीवन का मूल्याङ्कन उन सड़ी गली इच्छाओं के अनुसार करते हैं जो भयानक भावुकता से उत्पन्न है। इसी लिये हमें जीवन में पर्याप्त सुख का बोध नहीं होता। जीवन इतना अधिक गर्हित इसी लिये है क्योंकि हम आत्मार्थ संघर्ष करते हैं, कुछ धर्म और न्याय के लिये नहीं। वह आदमी प्रसन्नता कैसे अर्जित कर सकता है जो जीवन में ईर्षा, घृणा और वासना लेकर संघर्ष करता है, ताकि वह स्वयं बड़ा आदमी बन जाय, शक्तिशाली बन जाय, धनी बन जाय या प्रसिद्ध बन जाय ? जिस आदमी को अपनी व्यक्तिगत खुशी की ही पड़ी है, वह अनिवार्य तौरपर भयभीत रहेगा। चाहे तो वह अपने बन्धुओं के सुख-दुःख की तरफ से सर्वथा उपेक्षायुक्त हो सकता है, उसे संसार की सभी भलि माने जाने वाली चीजों का लाभ मिल सकता है, तो भी वह इस बात की ओर से अन्धा नहीं रह सकता कि हम सभी का एक ही प्रकार का अन्त होने वाला है। जिसने जीवन और मरण को समान समझ लिया है, केवल वही व्यक्ति वास्तव में प्रसन्न रह सकता है । जो मृत्यु का अंश है, जो व्यक्ति उसे मृत्यु को सौप देगा, चाहे उस के साथ कुछ भी दुर्घटना घटे, वहीं शान्त और संयत रह सकेगा। आदमी भले ही अनेक कपोल कल्पनाओं और मिथ्या मतों से संतुष्ट रखने का प्रयास करे, लेकिन अनुभव सिखाता है कि चाहे वे निराशावादी हों, चाहे वे किसी भावी सुखमय जीवन में विश्वास रखने वाले हों, कोई भी मरना नहीं चाहता। चारलैस रेनुवीयर नाम के एक फ्रेंच दार्शनिक ने अपनी मृत्यु के ठीक चार दिन पहले लिखा था–" मैं अपनी स्थिति के बारे में किसी भी मुगालते में नहीं हूँ। मैं जानता हूँ कि मैं शीघ्र ही मरने वाला हूँ – हो सकता है कि एक ही सप्ताह के भीतर मर जाऊं, या दो सप्ताहों के भीतर। तो भी मुझे अपने सिद्धान्तों के बारे में इतनी अधिक बातें कहनी हैं। मेरी आयु तक पहुंच जाने पर किसी को भी और आशायें लगाये रखने का अधिकार नहीं। आदमी को गिनती के दिन या गिनती के घण्टे ही और जीने के लिये शेष रहते हैं। मुझे अपने आप को भाग्य-भरोसे छोड़ देना चाहिये। मुझे मरते समय इस बात का बड़ा अफसोस हो रहा है कि मैं यह नहीं देख सकता कि मेरे मरने पर मेरे विचारों का क्या होगा ? दूसरे अपनी अन्तिम बात कह सकने से पूर्व ही मुझे इस संसार से विदा ले लेनी पड़ रही है। आदमी को विना अपना कार्य समाप्त किये ही संसार का त्याग कर देना होता है। जीवन के दुखद प्रसंग की यह सर्वाधिक दुःखद अनुभूति है। ....
इतना ही सब कुछ नहीं है। जब आदमी बूढा हो जाता है, बहुत बूढा हो जाता है,

जब उसे जीने की आदत पड़ जाती है तो उस के लिये मरना बड़ा कठिन हो जाता है। मैं इस बात को आसानी से स्वीकार कर सकता हूं कि बूढ़े आदमियों की अपेक्षा तरुण लोग मृत्यु के विचार के साथ सहज–समझौता कर लेते हैं। जब आदमी अस्सी वर्ष लांघ जाता है, तो वह डरपोक हो जाता है। वह मरना नहीं चाहता। और जब आदमी को यह विश्वास हो जाता है कि मृत्यु उस के आसपास ही कहीं न कहीं मण्डरा रही है तो वह चिन्ताकुल हो जाता है। मैं ने सभी दृष्टियों से इस प्रश्न का अध्ययन किया है। मैं जानता हूँ कि मेरी मृत्यु समीप है। मुझ में जो दार्शनिक छिपा बैठा है, वह इस का विरोध नहीं कर रहा है। मेरा जो दार्शनिक है वह तो मृत्यु में विश्वास ही नहीं करता, यह जो बूढ़ा है वही अनिवार्य का मुकाबला कर सकने की हिम्मत नहीं रखता। तब भी आदमी को अपने आप को भाग्य–भरोसे छोड़ देना ही होगा।" ये शब्द उस बात के प्रमाण हैं कि आदमी जैसे तैसे जीते रहने के लिये कितना अधिक अंधा है? यह प्यास तब तक नहीं बुझ सकती जब तक आदमी 'आत्मा' के व्यामोह से सर्वथा मुक्त नहीं होता। इसलिये धर्म की दृष्टि में हमें जो प्रयास करना चाहिये वह जैसे तैसे जीवित रहने का नहीं, बल्कि शान्ति प्राप्त करने का, वह महान संतोष जो विश्व के स्वभाव को भलि प्रकार समझ लेने से उत्पन्न हुआ है, जो अनिवार्य है उस के सम्बन्ध में अन्त-र्दृष्टि – विशेष और व्यापक समस्त विश्व को लेकर ताल–मेल मिलाकर जीवन यापन करना – निर्वाण की महान् शान्ति।

यदि भगवान बुद्ध ने हमें अहंकार जनित दुःख के बारे में कहा है, यदि उन्हों ने हमें स्वार्थोत्पन्न चिन्ता के बारे में कहा है, यदि उन्हों ने हमें अनिवार्य को स्वीकार कर लेने को कहा है तो उन्हों ने हमें वास्तविक सुख को प्राप्त करने का मार्ग भी बताया है। भगवान बुद्ध ने इस बात को पूरी तरह हृदयङ्गम कर लिया था कि संसार किसी न किसी प्रकार के सुख की प्राप्ति के लिये अन्धा होकर दौड़ रहा है। लेकिन इस के साथ साथ उन्हों ने इस बात को भी स्पष्ट कर दिया है कि यदि सुख के पीछे अन्धे होकर हात धोकर पड़ा जाय तो सुख की प्राप्ति कभी भी नहीं होगी, जैसे आदमी अपने निशाने के केन्द्र पर निशाना नहीं ही लगा सकता। इतना ही नहीं, तथागत की यह भी शिक्षा है कि यदि जीवन का उद्देश्य केवल अपने इन्द्रिय जनित सुख की तुष्टि हो तो आदमी का जीवन इस योग्य ही नहीं रहेगा कि उसे जिया जाय। यदि आत्मोत्कर्षवाद के दृष्टिकोण से आदमी के जीवन का उद्देश्य सुख–प्राप्ति ही माना जाय, तो यही अच्छा होगा कि आदमी यदि पशुत्व के जीवन की ओर वापिस न मुड़ चले तो कम से कम असभ्य आदमी के जीवन की ओर ही वापिस मुड़ चले। क्या इस बात से इनकार किया जा सकता है कि एक पशु और एक असभ्य आदमी इस तथाकथित सांस्कृतिक आदमी की अपेक्षा अधिक सुखपूर्वक रहते हैं। इस में कोई सन्देह नहीं कि सभ्यता और संस्कृति ने बहुत सी बुराईयों को दूर कर दिया है और बहुत से नये नये आराम

पैदा कर दिये हैं, लेकिन उन के साथ साथ बहुत से ऐसे दुःखों ने भी जन्म लिया है, जिस से पहले हम सर्वथा अपरिचित थे । ज्यों ज्यों बढ़ियापन और भावुकता में उन्नति होती जाती है उन की चुभन और तीखी होती जाती है। पशु को यथार्थ विद्यमान कष्ट ही पीड़ा पहुंचाता है लेकिन आदमी पहले से उस कष्ट की कल्पना करके और उसी की याद करते रहकर उसे कई गुणा अधिक बढ़ा लेता है । जैसा काण्ट ने कहा कि यदि जिस प्राणी में तर्क शक्ति विद्यमान है और इच्छा-शक्ति विद्यमान है उस का परमार्थ केवल आत्म-रक्षण या शब्द के सामान्य अर्थ में सुख-प्राप्ति मात्र ही था, तो उसे तर्क और इच्छा-शक्ति का दिया जाना निष्प्रयोजन है । अपनी अन्तः चेतना को लिये हुए जीने वाला एक सूअर अपना सुखी जीवन बिताता है और जिस सुकरात को तर्क करने की सामर्थ्य मिली है, वह हमेशा दुखी रहता है । इस लिये धर्म ने आदमी के सामने जो आदर्श उपस्थित किया है वह सुखों के उपभोग का नहीं, बल्कि अपनी योग्यता बढ़ा कर सम्पूर्णता प्राप्त करने का है । 'और परिपूर्णता कौन प्राप्त कर सकते हैं ? क्या मौज उड़ाने वाले या साधना का श्रम उठाने वाले ।' इस प्रश्न का सही उत्तर है, 'मौज उड़ाने वाले नहीं, बल्कि परिश्रम करने वाले ।' लेकिन जो परिपूर्णता प्राप्त करता है वह उस आनन्द को भी अनुभव करता है जो उस के सम्पूर्ण बोध से उसे प्राप्त होता है । एक जगह तथागत ने कहा है, "जो सुख-पूर्वक रहते हैं, उन में से एक मैं हूं ।" धम्मपद में भी आया है कि जो भगवान बुद्ध द्वारा दी गई शिक्षाओं के अनुसार चलता है वह चिन्तित लोगों के बीच निश्चिन्त होकर जीता है, दुखियों के बीच सुखी होकर जीता है, लोभियों के बीच निर्लोभी बना रहता है, घृणा करने वालों के बीच घृणा करने से मुक्त जीवन व्यतीत करता है। जिस ने सभी रुकावटों को हटा दिया है, वह अनभ्र चन्द्रमा के आकाश को प्रकाशित करने की तरह विश्व भर को प्रकाशित करता है। वह देवता की तरह अपरिवर्तनशील आनन्द का उपभोग करता है।

वृक्ष की पहचान उस के फल से होती है । यदि बौद्ध धर्म जैसा कुछ लेखक लिख मारते हैं, एक अन्धकारपूर्ण शुष्क मत होता, जिस के साथ दुःख की वह भावना जुड़ी होती जो अस्तित्व की अयथार्थता को रोती रहती है, तो उन लोगों की जो इस धर्म को मानते हैं क्या स्थिति परिस्थिति होती ? उन को अश्रुमुख, अप्रसन्न और जीवन में जो कुछ भी आकर्षक है, उस के प्रति सर्वथा उपेक्षावान होना चाहिये । लेकिन यथार्थ स्थिति क्या है ? क्या पृथ्वी तल पर बर्मा के बर्मियों से बढ़कर अधिक सुखी, अधिक मौज मनाने वाले कोई दूसरे लोग हुए हैं ? श्री स्काट ओ कोननोर ने अपनी "सिल्कन ईस्ट" नाम की पुस्तक में दर्ज किया है, "पृथ्वी के सभी लोगों में से बर्मा के लोग सब से अधिक सुखी हैं । आधुनिक कल्पना-लोकों की बहुत सी सुविधायें उन्हें पहले ही प्राप्त हैं। अवकाश, स्वतन्त्रता, पूरी पूरी समानता, धन के बराबर बंटवारे के अधिक से अधिक सामीप्य की स्थिति; इस के अतिरिक्त सभी प्रतिकूल अवस्थाओं में भी प्रसन्न-चित्त बने रहने

का स्वभाव । संसार में ऐसा कौन होगा जो इन बातों में से अपने ही लिये कुछ बातें न चाहेगा ? और आधुनिक जीवन की बहुत सी समस्याओं से संघर्ष करने वाले बहुत से लोग जिसे बर्मियों ने अनायास प्राप्त कर रखा है उस की ओर व्यर्थ आंख गड़ाये हैं । आधुनिक लोगों की आधुनिक समस्यायें हैं, दरिद्रता, बड़े बड़े शहरों में आदमियों की भीड़, सामाजिक घृणायें और वर्गों का आपसी संघर्ष । यही सब कुछ स्यामी तथा जपानी लोगों के बारे में भी कहा जा सकता है । बौद्ध धर्म को मानने वाले लोगों के जीवन में ऐसा कुछ भी तो नहीं है, कि जिस से उन के धर्म को 'निराशावाद का धर्म' कहा जा सके । दूसरी ओर कोई भी ऐसा धर्म जो अपने माननेवालों को किसी भयानक राक्षस के सामने सिर झुकाने पर मजबूर करता है, जो कमजोरों को अपना शिकार बनाता रहता है, कितना नीरस होगा ? जो धर्म आदमी को नीचे की ओर धकेलता हो वह सच्चा धर्म नहीं है, बल्कि जो धर्म आदमी को ऊपर उठाता हो और उसे अधिकधिक आत्म-निर्भर बनाता हो, वही सच्चा धर्म है । धर्म आदमी को आत्म-संस्कृति और आत्म-संयम के द्वारा ऊपर उठाकर उसे पूर्णता के उच्चतम शिखर पर बिठा देता है ।

आदमी ने बिना जाने अपने व्यक्तिगत लाभ के लिये विकास को आगे बढ़ाया है । धर्म की शिक्षा है कि जान-बूझ कर व्यवस्थित रीति से सम्पूर्णता प्राप्त करने के उद्देश्य से विकास को आगे बढ़ाना उस का कर्तव्य है । क्यों कि बौद्ध धर्म की दृष्टि से 'न तो जीवन गुलाब के फूल की पंखुड़ी के समान सुन्दर है । और न मैले चीथड़े के समान अरुचिकर है ।' यह इस सीधीसाधी बात को स्पष्ट तौर से स्वीकार करता है कि यदि हम जीवन को केवल उस का स्वार्थमय उपभोग करने के लिये जीना चाहते हैं जो यह जीवन इस योग्य नहीं कि उसे जिया ही जाय । इस लिये यह जीवन का मूल्याङ्कन उन आदर्शों के अनुसार करता है तो जीवन के व्यक्तिगत अस्तित्व की सीमा को लांघ जाते हैं । यह केवल विद्यमान दुःख को ही दूर करने की चिन्ता नहीं करता, बल्कि ऐसी परिस्थिति भी उत्पन्न करना चाहता है, जिस में कोई दुःख उत्पन्न ही न हो सके । अरस्तु का कहना है कि "बुद्धिमान आदमी केवल दुःख से मुक्ति की आकांक्षा करता है, वह ऐयाशी करना नहीं चाहता है ।" इसी लिये जो बौद्ध है वह ऐसे ही कर्मों को करता है जिन के करने से दुःख का नाश हो सके । वह उस 'सुख' की चिन्ता नहीं करता जो उस के कर्मों के फलस्वरूप उत्पन्न हो सकता है, वा विकसित हो सकता है । यह जीवन के सुखों को मूलतः अस्वीकार करना भी नहीं है । भगवान बुद्ध से जब जीवन के मङ्गलकार्यों के विषय में पूछा गया, तो उन्हों ने माता-पिता की सेवा, स्त्री-पुत्र का पालनपोषण प्रभृति अनेक मङ्गल कार्य गिनाये ।

▣

नौवाँ परिच्छेद

आर्य अष्टांगिक मार्ग

भगवान बुद्ध ने अपने वाराणसी में दिये गये प्रथम प्रवचन में ही कहा— 'भिक्षुओं, जो प्रव्रजित है, उसे दो अन्तों से, सीमा पर पहुंचे दो प्रकार के आचरण से दूर दूर रहना चाहिये। काम–भोगप्रधान जीवन से, क्योंकि यह दुर्बल बनाने वाला है, गंवार–पन है, कमीना–पन है और किसी काम का नहीं। दूसरा आत्म–पीड़ा प्रधान जीवन, क्योंकि यह दुखद होता है, व्यर्थ होता है और बेकार होता है।' इन दोनों अतियों से बचे रहकर ही तथागत ने मध्यम–मार्ग का आविष्कार किया है। यह मध्यम–मार्ग साधक को अन्तर्दृष्टि प्रदान करने वाला है, बुद्धि देने वाला है, ज्ञान देने वाला है, शान्ति का दाता है और निर्वाण तक पहुंचा देने वाला है। तो यह मध्यम–मार्ग कौन सा है? यही श्रेष्ठ अष्टांगिक मार्ग है।

कोई भी आदमी वास्तव में अपने आप को बौद्ध नहीं कह सकता यदि वह अष्टांगिक मार्ग का पथिक नहीं है। केवल अध्ययन और भगवान बुद्ध की शिक्षाओं के बारे में छान–बीन करने मात्र से आदमी तब तक बौद्ध नहीं माना जा सकता जब तक वह साथ ही साथ आर्य अष्टांगिक मार्ग पर नहीं चलता। आर्य अष्टांगिक मार्ग बौद्ध धर्म के शील का प्रतिरूप है। और बौद्ध–धर्म में शील धर्म की आधारशिला है। जिस ने केवल धर्म को समझा भर है, लेकिन अपने विचारों तथा अपनें कर्मों को तदनुसार बदलने का प्रयास नहीं किया हैं, वह उस आदमी की तरह है, जिसने पाक शास्त्रपर लिखी हुई कोई पुस्तक पढ़ी भर है और वह कल्पना करता है कि वह उस पुस्तक में वर्णित विधि के अनुसार तैयार की गई मिठाई खा रहा है।

निस्सन्देह यह आर्य अष्टांगिक मार्ग, जो आनन्द की प्राप्ति का मार्ग है, बड़ा चौड़ा और विस्तृत है, लेकिन जिस के पास यह आठ प्रकार का पाथेय नहीं है, वह इस पर गमन नहीं कर सकता। सम्यक्–दृष्टि की मशाल से उस का मार्ग प्रकाशित होना चाहिये। सम्यक् संकल्प उस के मार्ग–दर्शक होने चाहिये। सम्यक् वाणी आर्य अष्टांगिक मार्ग पर उस की विश्रामस्थली होनी चाहिये। सम्यक् कर्मान्त उसकी सीधी चाल होनी चाहिये। सम्यक् व्यायाम आर्य अष्टांगिक मार्ग पर गमन करते समय उस का जलपान होना चाहिये। सम्यक् व्यायाम आर्य

अष्टांगिक मार्ग पर उठनेवाले उस के कदम होने चाहिये । सम्यक् स्मृति उस की सांस होनी चाहिये और सम्यक् समाधी उस का शयनासन होना चाहिये ।

आदमी के विकास का असली इतिहास उस के विश्वासों के इतिहास में सन्नि-हित है । इतिहास भले ही वह शिल्प का हो, विज्ञान का हो, समाज का हो अथवा मजहब का हो, आदमी के विश्वासों और उन के विश्वासों को लेकर ही आगे बढ़ता है । आदमी के कर्म बहुत करके उस के विश्वासों की छाया–मात्र होते हैं । परिणामत: जितने भी मिथ्या–विश्वास–आश्रित रीतिरिवाज और कार्य क्लाप हैं वे सभी मिथ्याधारणाओं से तर्कानुकूल निसृत तर्क–बाह्य बुद्धि की देन हैं । इस लिये यह स्वाभाविक है कि आर्य अष्टांगिक मार्ग पर गमन करने वाले के लिये सम्यक्–दृष्टि प्रथम आवश्यक पदार्थ हो । और फिर जितना भी कर्म है उस के मूल में इरादा रहता है और इरादा आश्रित होता है विश्वास पर । प्रस्थान का आरम्भ ही गन्तव्य स्थान और उस की दिशा का निश्चय करता है । इस लिये सम्यक् दृष्टि होने से ही आदमी सम्यक् कर्मी होता है ।

धर्म के क्षेत्र में जो गलतियां की गई हैं या होती हैं उन के मूल में रहते हैं जीववादात्मक या आध्यात्मिक विश्वास । धर्म के लिये उस का प्रथम चरण व्यापक रूप से स्वीकृत दु:ख के अस्तित्व की बात ही हो सकती है । प्रत्येक धर्म आदमी को दु:ख से मुक्ति दिलाने का पथ दिखाने का वाइदा करता है । दु:ख और उस के कारणों की यथार्थ समझ नित्य आत्मा का मिथ्यात्व आदमी को आसानी से दु:ख को दूर करने का रास्ता दिखा देगा । लेकिन किसी काल्पनिक आत्मा में जो विश्वास कर बैठना है और किसी परा–प्राकृतिक अस्तित्व पर जो निर्भर रहना है वह आदमी को ऐसे गलत रास्ते पर डाल देगा कि उस की बुद्धि एकदम जड़ हो जायगी । वह दु:ख से मुक्ति पाने के लिये एक कदम भी न उठा सकेगा ।

यह सम्यक् दृष्टि का ही होना न होना है जो एक पढ़ेलिखे व्यक्ति और एक अनपढ़ व्यक्ति के भेद को स्पष्ट करता है, एक शिक्षित और अशिक्षित के भेद को उजागर करता है । अपने विश्वासों के हिसाब से लोगों को चार वर्गों में बांटा जा सकता है । कुछ लोग किसी सम्प्रदाय के शान्त वायुमण्डल में शरण ग्रहण कर लेते हैं और समझते बैठे रहते हैं कि उन की जो दृष्टि है, वही सही दृष्टि है और वह दूसरों को दया, घृणा और यहाँ तक कि भयावह दृष्टि से देखते रहते हैं । ये दुरा-ग्रही व्यक्ति उस शतुर्मुर्ग की तरह होते हैं जो खतरे के समय अपनी गर्दन बालू में धंसा लेता है और सोचता रहता है कि क्योंकि वह किसी खतरे को नहीं देख सकता इस लिये वह संतुष्ट रहता है कि कहीं कोई भी खतरा है ही नहीं । बहुधा ऐसा, भी होता है कि ऊपर से कोई मत लादा जाता है और उस से एक सामान्य विश्वास की सृष्टि हुई जैसी प्रतीत होती है । यद्यपि बहुत से लोग इस व्यवस्था को अंगीकार कर लेते हैं, तो भी यह व्यवस्था कुछ विचारशील लोगों को मान्य नहीं ठहरतीं ।

ऐसे लोग मिथ्यामतवाद के कोहरे में आसानी से प्रविष्ट हो जाते हैं और सारे प्रमाण-वाद को अविश्वसनीय मानकर किसी दूसरी दृष्टि की तलाश में अन्यत्र भटकने लगते हैं। जब वे अधिकार–वाणी के बन्धनों से मुक्त हुए रहते हैं, आदमी बहुधा अपनी इच्छाओं और आशाओं के शिकार हो जाते हैं और ऐसे मतों को अपना लेते हैं जो सही प्रतीत होते हैं, रुचिकर लगते हैं और ऊपर उठाने वाले प्रतीत होते हैं। चित्त की ऐसी स्थिति में कोई प्रगति नहीं हो सकती। जिस समय आदमी अपनी इच्छाओं और अपने झुकावों का विश्लेषण करने लगता है और उस मत के रुचिकर या अरुचिकर होने की चिन्ता न कर अपने तर्क की प्रामाणिकता की ओर देखता है तो सत्य तक पहुंचना सम्भव हो सकता है। यह बौद्ध धर्म की शानदार ऊंचाइयों में से एक ऊंचाई है कि यह तर्क और विज्ञान की बात मानता है और अन्ध विश्वास तथा अधिकारवाणी की एक नहीं सुनता। जिस ने बेकार की इच्छाओं और आशाओं को एक ओर रख दिया है केवल वही यह अनुभव कर सकता है कि जिस शक्ति से वह दु:ख और कष्ट सहन से मुकाबला करता है वह प्राकृतिक है, परा प्राकृतिक नहीं। तर्क और विज्ञान का माप–दण्ड ही इस बात की गारण्टी है कि आदमी सम्यक् कर्मान्ति, सम्यक् चिन्तन और सम्यक् शान्ति के अति वाञ्छित अवसरों को हाथ से न जाने देगा।

जब किसी जिम्मेदार समझदार व्यक्ति को दु:ख, दु:ख के समुदय, दु:ख के विरोध और दु:ख–निरोध की ओर ले जानेवाली प्रतिपदा का ज्ञान हो गया तो वह ऐशोआराम की तलाश में कैसे भटकता रह सकता है? वह यह बात समझ गया है कि ऐशोआराम के चक्कर में पड़ने का मतलब है दुख की मात्रा को कई गुणा बढ़ाना। जब किसी को वस्तुओं के यथार्थ स्वरूप का अवबोध हो गया हो, तो वह रुपये पैसे या दूसरे आत्मार्थ के चक्कर में कैसे पड़ेगा? जब किसी को इस बात का ज्ञान हो गया कि उसे अनन्त की यात्रा करनी है और पूर्णता प्राप्त करने का प्रयास करना है तो वह आराम की नींद कैसे सो सकता है? उस का चित्त हमेशा बोधी की खोज में ही लगा रहेगा। उस की एक ही आकांक्षा होगी कि उस का दिमाग उद्देश की प्राप्ति सम्बन्धी परस्पर विरोधी मान्यताओं और सन्देहों से मुक्त हो जाय, और वह भगवान बुद्ध के धर्म का गहराई से अध्ययन करके और तदनुसार अपने आचरण को मोड़ कर भगवान बुद्ध की वन्दना करता रहे, परस्पर पार्थक्य के विचार से मुक्ति मिल जाय। उस की यह भी आकांक्षा रहेगी कि वह स्वयं और सभी प्राणी जो दु:ख के समुद्र में डूब रहे हैं, वहां से वे बच निकले। इसके लिये वे सब उपाय किये जायें जो उसे महान शान्ति की ओर ले जाते हैं। सच्च-विभंग में प्रश्न पूछा गया है कि 'सम्यक् संकल्प क्या है?' "यह परित्याग करने का संकल्प है, सभी के साथ मैत्रीपूर्वक जीने की आकांक्षा, यथार्थ मानवता की आकांक्षा।" "मैं बीमारों के लिये औषधी बन जाऊं और तब तक उन की चिकित्सा करता रहूँ जब तक वे रोग से सर्वथा मक्त न हो जायें, मैं लोगों की भख और

प्यास को खाद्य-सामग्री और पेय पदार्थों की वर्षा करके बुझा सकूं, मैं जब अकाल पड़े तो उन्हें संरक्षण प्रदान कर सकूं, मैं गरीबों के लिये एक ऐसा भण्डार बन जाऊं कि उन की सभी आवश्यक्ताओं की पूर्ति करता रह सकूं। मेरा जीवन और मेरी खुशियां, भूत-वर्तमान और भविष्यत् में मेरे द्वारा किये गये सुकर्मों का मैं समान भाव से परित्याग करता हूँ। सभी प्राणी अपने अन्तिम उद्देश तक पहुंच सकें। सभी वस्तुओं के परित्याग में ही शान्ति निहित है, और मैं शान्ति-प्राप्ति के लिये लालयित हूँ। यदि मुझे सर्वस्व का परित्याग करना ही है, तो यह अच्छा है कि मैं अपने मानव-बन्धुओं के लिये उस का परित्याग करूं। मैं सभी प्राणियों को अपना आप दान देता हूँ कि मेरे शरीर के साथ जैसा चाहे वैसा व्यवहार करें। वे चाहें तो हमेशा मुझ पर थूकते रह सकते हैं, या गालियां देते रह सकते हैं, वे मुझ पर धूल फेंक सकते हैं, वे मेरे बदन को खिलवाड़ बना सकते हैं, वे हँसी-मजाक कर सकते हैं या मन चाहा व्यवहार कर सकते हैं। जब मैं ने उन्हें अपना शरीर दे ही दिया, तो मैं उस विषय में चिन्तित कैसे होऊं? जिस से भी उन्हें खुशी हों, वे मेरे शरीर का वैसा उपयोग कर सकते हैं, लेकिन मेरे कारण उन्हें किसी भी प्रकार का कष्ट न हो। यदि उन में से किसी को मैं अच्छा लगूं तो वे मेरे साथ जैसा चाहें वैसा व्यवहार कर सकते हैं। जितने लोग मेरा उपहास करते हैं, मुझे कष्ट पहुंचाते हैं, मेरा मज़ाक बनाते हैं, उन्हें मेरी बोधि में हिस्सा मिले। मेरी कामना है कि मैं अरक्षितों के लिये रक्षक बनूं, रास्ते चलतों का मार्ग दर्शक बनूं, जो दूसरे तट पर जाना चाहते हैं, उन के लिये एक जहाज, एक बांध और एक पुल बनूं; जिन्हें एक प्रदीप की अपेक्षा हैं, उन के लिये एक दीपक बनूं; जिन्हें एक बिस्तर चाहिये उन के लिये एक बिस्तर बनूं, जिन लोगों को दास की जरूरत हो, उन के लिये एक दास भी बनूं। जिस प्रकार पृथ्वी और दूसरे महाभूत विश्व में जो असंख्य प्राणी वास करते हैं उन सब की सेवा के लिये हैं उसी तरह मैं आकाश-धातु में निवास करने वाले प्राणियों के लिये उपयोगी सिद्ध हो सकूं।" बोधिचर्यावतार के अनुसार बोधि की आकांक्षा करनेवाले चित्त को विश्वकल्याण के लिये इसी प्रकार की चेतना से युक्त होना चाहिये।

जिस संकल्प के साथ उद्देश प्राप्त करने के सम्बन्ध में दृढ़निश्चय नहीं जुड़ा हुआ है, उस का कुछ खास फल नहीं होता। जैसा नागसेन ने कहा है कि जो बोधि प्राप्ति सम्बन्धी विचार है वही बुद्धत्व के सिलसिले में कलल के समान है, जो करुणा है वही अरबुद के समान है, जो दया है वही पेशी के समान है, लेकिन जो दृढ़ निश्चय है वही उसे धन का स्वरूप प्रदान करता है। इस दृढ़ निश्चय के मूल में न तो कोई महत्वाकांक्षा होनी चाहिये, न यश की कामना होनी चाहिये, न स्वर्ग-लाभ की इच्छा होनी चाहिये, न अपने लिये स्थायी आनन्द प्राप्त करने की कामना होनी चाहिये। इस के मूल में केवल दूसरों का हित साधने की इच्छा मात्र होनी चाहिये। इस निश्चय के फल स्वरूप साधक को कहना चाहिये, "मैं

पीछे पाव नहीं हटाऊंगा। मैं निराश नहीं होऊंगा । क्योंकि मैं ने सभी प्राणियों को उस पार पहुंचाने का संकल्प किया है इसलिये मेरा यह निश्चय मेरे लिये अनिवार्य रूप से करणीय ही है। मुझे सभी प्राणियों का भार उठाना ही होगा।" (वज्रध्वजसूत्र) बोधि प्राप्ति के दृढ़ निश्चय के साथ ही इस आत्म-संस्कृति और आत्म-संयम के कार्यक्रम पर पैर आगे बढ़ाना चाहिये।

यदि उस अभ्यास का जो आदर्श की प्राप्ति सुलभ बना सकता है सहयोग न हो तो केवल संकल्प और निश्चय कुछ विशेष नहीं कर सकते। कर्मों से उत्पन्न जड़ता, वह बाधक शक्ति जिस में हमारे पूर्वकर्मों का संग्रह है, केवल आकांक्षाओं से परास्त नहीं की जा सकती। आदमी का भीतरी जीवन तभी सशक्त बनेगा जब यह बाह्य संसार में कर्मों का रूप ग्रहण करेगा। इसी लिये सम्यक् जीविका के रूप में प्रकटीकरण होना चाहिये।

'मिथ्या-भाषण से बचना, चुगलखोरी से बचना, कठोर वाणी से बचना तथा व्यर्थ की बातचीत से विरत रहना सम्यक् वाणी कहलाता है । जो व्यक्ति ऊपर उठना चाहता है उस के शब्द मधुर होने चाहिये, असंदिग्ध होने चाहिये, दूसरों को सुधार करने में मदद करने वाले और उत्साहवर्धक होने चाहिये। वे अहंकार-पूरित नहीं होने चाहिये और उन में कड़वाहट भी नहीं होनी चाहिये। उसे बड़े आदमियों के बारे में गप्पें नहीं मारनी चाहिये। उसे 'खाने-पीने की चर्चा, कपड़ों की चर्चा, सुगन्धित द्रव्यों की चर्चा, पलंगों की चर्चा, सामानों की चर्चा, स्त्रियों की चर्चा, योधाओं की चर्चा, देवताओं की चर्चा, भाग्य बताने वालों की चर्चा, छिपे हुए खजानों की चर्चा, भूत-प्रेतों की चर्चा, और जो चीजें हैं ही नहीं उन के बारे में बेकार की चर्चा करनी ही नहीं चाहिये । जो कुछ भी वह बोले वह करुणापूर्ण होना चाहिये और उस से सम्बन्धित विचार शुद्ध होना चाहिये। जिन के दिल में पाप होता है, लेकिन मधुर वाणी बोलते हैं, वे उन घड़ों के समान होते हैं जिन के मुंह पर अमृत लगा होता है, लेकिन विष भरे होते हैं।'—यह ललित विस्तर का वचन है।

वाणी से स्वार्थपरता को निकाल बाहर करने के साथ ही साथ आदमी के कार्यों में भी अहंता का लवलेश भी नहीं होना चाहिये। 'मैं सभी प्राणियों के लाभ और सुख के लिये अपने सभी मौज-मेलों का परित्याग करता हूँ' बोधि-चर्यावतार के शब्द है। सम्यक् कर्मान्त से उत्पन्न होने वाली व्यक्ति की अपनी प्रसन्नता नहीं हैं । सम्यक् कर्मान्त में श्रेष्ठतर जीवन को जो कुछ भी पलटा देने वाला है, उस सब से बचकर रहना है और जो भी श्रेष्ठ कर्म हैं, उन सभी का करना है। रीति-रिवाजों से, पशुओं के बलिदानों से, प्रार्थनाओं से, तथा मन्त्रों-जन्त्रों से कुछ भी प्रगति नहीं हो सकती। इसी लिये इन सब को निषिद्ध ठहराया है । बताया गया हैं कि एक बार प्रवचन करते समय शाक्य-मुनि को छींक आ गई। भिक्षुओं ने 'तथागत चिरंजीवी हो' चिल्लाकर प्रवचन में बाधा डाल

दी। आजकल भी हिन्दू लोग ऐसा ही करते हैं। भगवान बुद्ध ने श्रोताओं को फटकारा – अभी किसी आदमी ने छींका हो और तुम चिल्लाओ कि आप दीर्घजीवी हों, तो क्या तुम्हारे चिल्लाने से वह चिरंजीवी हो जा सकता है? अथवा क्या उस की तुरन्त मृत्यु भी हो जा सकती है? एक दूसरे अवसर पर एक ब्राह्मण ने तथागत को कहा कि बाहुका नदी में स्नान करने से आदमी के पाप धुल जाते हैं और उसे पुण्य लाभ होता है। तब भगवान बुद्ध ने कहा, – 'न बाहुका, न अधिका, न गया, न सुन्दरी, न प्रयाग की सरस्वती भी और न बहुमति ही किसी भी मूर्ख के पापों को धो सकती है, भले ही वह कितनी ही बार इन नदियों में स्नान करता रहे। सुन्दरी क्या कर सकती है? और प्रयागा क्या कर सकती है? और बाहुका नदी भी क्या कर सकती है? कोई भी नदी पापी के पाप नहीं धो सकती, ईर्षालु की ईर्षा या अपराधी के अपराध। जो आदमी शुद्ध है, पवित्र है उस के लिये हर महीना ही फल्गु का पवित्र महीना है। जो शुद्ध है, पवित्र है वह हमेशा ही व्रती है। सुकर्मी के लिये उस का व्रत चिरस्थायी है। हे ब्राह्मण अपना स्नान यही करो, अभी करो! सभी प्राणियों के प्रति करुणार्द्र बनो। यदि तुम मिथ्या-भाषण नहीं करते, यदि तुम प्राणी-हिंसा नहीं करते, यदि तुम चोरी नहीं करते, यदि तुम आत्म-त्यागी हो, तो तुम्हें गया जाने से क्या मिलने वाला है? कोई भी पानी तुम्हारे लिये गया का जल ही है।' बौद्ध धर्म में कोई भी व्रतों के दिन नहीं हैं। दूसरे धर्म सिखाते हैं 'निराहार रहो और प्रार्थना करो।' बौद्ध धर्म की शिक्षा है, 'खाओ पिओ और विवेकशील रहो।' यह व्रत रखने का बौद्ध धर्म इतना अधिक विरोधी था कि जब जगन्नाथ-पुरी में बौद्ध धर्म और वैष्णव-धर्म की खिचड़ी पकी तो जगन्नाथ-पुरी के वैष्णवों ने जगन्नाथ-पुरी में व्रत न रखने के बौद्ध निषेध को मान्य ठहराया। उस पवित्र नगर के बाहर हम एकादशी की एक अत्यन्त दुबली पतली मूर्ति देखते हैं। यह चान्द्रमास की ग्यारहवीं तिथि के दिन निराहार-व्रत रखने का प्रतीक है। यह व्रत भारतभर में प्रत्येक वैष्णव को अत्यन्त प्रिय है। लेकिन वह नगर-प्रवेश नहीं कर सकती। क्योंकि नगर में निराहार-व्रत निषिद्ध है। एक बौद्ध यथार्थ पुण्यार्जन करता है शील का पालन करने से और दान देने से। अशोक ने अपने लेखों में कहा ही है कि 'मिथ्या विश्वासों पर आश्रित रीतिरिवाज नहीं, बल्कि उन के स्थान पर नौकरों चाकरों पर दया करनी चाहिये, आदरणीय व्यक्तियों का आदर करना चाहिये, दया के कार्यों के साथ साथ आत्म-संयम निभाना चाहिये और ऐसे ही दूसरे सदाचरण-युक्त कार्य हैं जो सर्वत्र किये जाने चाहिये।' विश्व-वन्द्य भगवान बुद्ध ने एक जगह कहा है, 'यदि कोई आदमी प्रति मास हजार हजार यज्ञ करता है और सतत आहुतियां देता रहता है उस का आचरण उस आदमी के बराबर नहीं है जो एक क्षणभर के लिये भी अपना चित्त धर्म पर एकाग्र कर लेता है।' मरणान्तर लाभ की आशा से, पुण्यार्जन करने के लिये जो यज्ञ किये जाते हैं, वे सदाचारी के

आचरण के चौथे हिस्से के भी बराबर नहीं है । तावीजों, संख्याओं, तीर्थ यात्राओं या बुद्ध के शरीर अवशेषों के अर्थात धातुओं में पराप्राकृतिक सामर्थ्य देखना बौद्ध धर्म के सर्वथा विरुद्ध है।

शील के अभ्यास के अन्तर्गत आते हैं सभी शीलों का अक्षरश: पालन, इरादे की पवित्रता, अपने आप को लेकर विनम्रता, किसी भी छोटे से छोटे शील का उल्लंघन हो जाने पर लज्जा, भय और अनुताप की अनुभूति, किसी को भी दोषारोपण के लिये अवकाश न देना, ऐसे कार्य करना जिन का अन्तिम परिणाम सन्तोष हो, और सभी प्राणियों को अकुशल–कर्मों का त्याग कर कुशल कर्म करने की प्रेरणा करना । यथार्थ में शील का पालन वही करता है जो अकुशल–कर्म करने के लिये हर तरह की अनुकूलता रहने पर भी अकुशल–कर्म नहीं करता। बौद्ध धर्म में शील पालन को प्रथम दर्जा दिया गया है । जितनी भी पारमितायें, निर्वाण गामी गुण है, उन में शील पारमिता ही आधार हे । कुछ दूसरी पारमिताओं का किसी खास दृष्टि से शील पारमिता की भी अपेक्षा ऊंचा स्थान हो सकता है, लेकिन उन की उपेक्षा भी की जा सकती है, लेकिन सभी कुशल–कर्मों का मूल होने से शील–पारमिता की तनिक भी उपेक्षा नहीं की जा सकती । शील–पालन का उद्देश है दूसरों का उपकार करने के लिये आत्म–संरक्षण ।

जहाँ तक शील–पालन की बात है वह एक बड़ी हद तक नकारात्मक (निवृत्ति) प्रतीत होती है, लेकिन दान देना तो सोलह आने स्वीकारात्मक (प्रवृत्ति) है । दान शब्द के अन्तर्गत केवल अहिंसा या अदत्तादान के नियमों का पालन मात्र नहीं आता । इस से बहुत अधिक आता है । इस में केवल कुछ आत्मत्याग का ही समावेश नहीं होता, बल्कि किसी दूसरे गरजू व्यक्ति की गरज पूरी करने से मन में जो प्रसन्नता होती है, उस का भी समावेश है । दानशीलता का कैसे अभ्यास करना चाहिये यह धर्म में सविस्तर स्पष्ट कर दिया गया है । यदि कोई कुछ मांगे और अपनी सामर्थ्य के भीतर हो, तो उसे वह वस्तु दे देनी चाहिये और उसे उस का आनन्द लेने देना चाहिये । "दान देना दान देने वाले को भी सुख पहुंचाता है, प्रतिग्राहक को भी, लेकिन प्रतिग्राहक का दर्जा दाता की अपेक्षा नीचा है ।" सच्चा दान वह है जिस में जाति पाति का कुछ भी विचार नहीं किया जाता और बदले में किसी भी चीज़ की आशा नहीं की जाती । बिना प्रेम के यदि कुछ किया जाता है भले ही वह मिठाइयों का ही ढेर हो तब भी उस की कुछ कीमत नहीं होती । प्रेम में यदि जंगली चावल भी दिया जाय तो उस की भी बहुत कीमत लगती है । यदि ऐसी परिस्थति आये कि लोगों की जान के लिये खतरा पैदा हो गया हो तो हर प्रकार की कोशिश करके उन्हें खतरे से बचा लेना चाहिये और उन में निर्भयता का भाव पैदा करना चाहिये । बोधिसत्व से इतनी ही आशा नहीं की जाती कि वह दाता सिद्ध हो, बल्कि यह भी कि वह दयावान हो और क्षमाशील हो। अनाथ पिण्डिक जो अनाथों का संरक्षक था, मैत्रीयुक्त था, और दयावान था।

भगवान बुद्ध ने उस के बारे में यही कहा था कि वह सादर दान देता हैं और तमाम घृणा, ईर्षा और क्रोध को दूर भगा देता है । दान का उद्देश है अमीरों का समाजीकरण करके गरीबों को नैतिक दृष्टि से ऊपर उठाना ।

हर बोद्ध का अपने मानव–बन्धु के प्रति यह कर्तव्य है कि वह धर्म का प्रचार करे । यह धर्म आदमी को आत्म–निर्भर बनाता है और भ्रातृ–प्रेम का शिक्षण प्रदान करता है । अशोक के एक लेख में लिखा है कि "धर्मदान से बढ़कर कोई दान नहीं, धर्म–मैत्री से बढ़कर कोई मैत्री नहीं, धर्म–वितरण से बढ़कर कोई वितरण नहीं ।" जितनी मात्रा में व्यक्ति धर्म से परिचित हो, यह उस की जिम्मेदारी होती है वह दूसरों को भी उस में दीक्षित करे, दूसरों तक भी उस सत्य को पहुंचाये जो सभी दु:खों का क्षय कर सकता है। भगवान बुद्ध व्यापक रूप से सर्वत्र धर्म को प्रचारित हुआ देखना चाहते थे । जिन्हें धर्म ने लाभ पहुंचाया है, वे बिना इस का प्रचार किये कैसे रह सकते हैं ? युवान च्वाङ्ग को आचार्य शीलभद्र ने डाँटते हुए कहा था, "तुम भगवान बुद्ध के प्रति अपनी कृतज्ञता प्रकट करना चाहते हो, तो यह तुम्हारा कर्तव्य है कि सद्धर्म का प्रचार करो । अपने देश को भूलकर भी तुम्हें हर घड़ी मृत्यु का आलिंगन करने के लिये तैयार रहना चाहिये । सफलता या विफलता की ओर से निश्चिन्त रहकर तुम्हें पवित्र धर्म–द्वार में लोगों के प्रवेश को सहज बना देना चाहिये । तुम्हें उस जनता का मार्ग–प्रदर्शन करना चाहिये जो मिथ्या–मतों के माध्यम से ठगी गई है । तुम्हें पहले दूसरों की चिन्ता करनी चाहिये, अपनी बाद में ।"

दान–शीलता के कार्य सम्पन्न करते समय किसी की भी नजर न तो प्रसिद्धि पर होनी चाहिये और न इस लोक वा पर–लोक में मिलने वाले किसी दूसरे लाभ पर । इस में कोई सन्देह नहीं कि आदमी दूसरों को लाभान्वित करना चाहता है, लेकिन आदमी की नजर निर्वाण–प्राप्ति पर ही गड़ी रहती है । जब कोई भी किसी के कार्य से लाभान्वित होने वाला न हो तब भी आदमी की प्रवृत्ति उदारतामय ही रहनी चाहिये । जब डाकू लोग दुर्गामाई के सामने युवाङ्ग च्वाङ्ग की बलि चढ़ाने जा रहे थे तो उस समय भी उनके विचार थे, "मैं फिर वापिस यहीं जन्म ग्रहण करूं ताकि मैं इन आदमियों को शिक्षित कर सकूं और इन के मत बदल सकूं । और कि मैं उन्हें अकुशल–कर्मों का त्याग कर कुशल–कर्मों के करने में संलग्न रहने की प्रेरणा दे सकूं । और इस प्रकार दूर दूर तक धर्म का प्रचार कर विश्व भर के लोगों में शान्ति स्थापित कर सकूं ।"

प्राणियों में मिलनसारी की वृद्धि करनी हो तो करुणा सर्व श्रेष्ठ साधन है । उदारता, दानशीलता, सामञ्जस्य, कृतज्ञता और दूसरों के सुखदु:ख में हिस्सा बँटाना करुणा के क्रियात्मक रूप हैं । बोधिचर्यावतार का कथन है कि दानशीलता से हम सभी के कल्याण के लिये कुछ करने की प्रवृत्ति समझते हैं । किसी दान के

पुण्य को मापना हो तो यह चित्त की प्रवृत्ति के मापदण्ड से मापा जा सकेगा । एक कथा है कि पुष्पपुर में भगवान बुद्ध का एक भिक्षापात्र था, कोई गरीब यदि उस में एक फूल भी डाल देता था, तो वह भरा भरा दिखता था, लेकिन धनी लोग जब हजारों रुपये डालते थे, तब भी शायद ही अपने आपको भरा भरा प्रदर्शित करता हो ।

जातक कथाओं में से बहुतसी जातक कथायें इसी एक बात को समझाने के लिये रची गई प्रतीत होती हैं । इन कथाओं को अक्षरशः सत्यकथायें मानना आवश्यक नहीं । उन का उद्देश्य है दान–शीलता की बात पर जोर डालना । यद्यपि उन कथाओं में से अनेक कथाओं में आत्म–विनाश की बात कही गई है, लेकिन धर्म किसी को भी आत्म–विनाश करने के लिये नहीं कहता । यह ठीक नहीं है । बोधिचर्यावतार का कहना है, ' . . . . . . यह शरीर जो बहुत से कुशल–कर्म कर सकता है, उसे दूसरों की मामूली बातों के लिये भी हानि नहीं पहुंचाई जानी चाहिये । तब इस से सभी प्राणियों की इच्छाओं की पूर्ति की आशा कैसे की जा सकती है ? अशुद्ध करुणा की भावना के वशीभूत होकर जीवन का परित्याग नहीं करना चाहिये, लेकिन जब शरीर किसी भी दूसरे के किसी भी काम का न रहे, तो पूर्ण अनासक्त भाव से शरीर का परित्याग किया जा सकता है, ऐसा करना निर्दोष है ।' जिस की नजर दूसरे लोक पर है, वह उस लोक को बेकार या अनैतिक भी मानता है । इस लिये जहाँ तक उस का व्यक्तिजीवन है, यदि वह उसका कुछ भी करना चाहता है तो उस पर प्रतिबन्ध नहीं लगाया जा सकता । लेकिन बौद्ध की स्थिति सर्वथा भिन्न है । उस के लिये मनुष्य होकर जन्म ग्रहण करना बड़ी बात है, क्योंकि मनुष्यजन्म में ही वह राग, द्वेष और मोह के विरुद्ध संघर्ष कर सकता है । उदारता का अपना कुछ भी मूल्य हो, उसका भी अतिरेक नहीं होना चाहिये । आदमी की दानशीलता उस की आध्यात्मिक उन्नति में बाधक नहीं होनी चाहिये । हाँ, यदि इस से किसी ऐसे आदमी का लाभ होने वाला हो, जो अपने आप की भी अपेक्षा अधिक अधिकारी हो, तो बात दूसरी है । अपनी चमड़ी का दान देना, अपने मांस का दान देना अच्छी बात है, लेकिन आध्यात्मिक भोजन का दान देना सद्धर्म का प्रचार करना अधिक अच्छा है, क्यों कि सद्धर्म के प्रचार से बढ़कर और कहीं कुछ नहीं है । यदि प्राणियों के लिये दूसरे किन्हीं उपायों से अभय की व्यवस्था की जा सके तो अपने शरीर को किसी सिंह द्वारा निगला देने की कोई आवश्यकता नहीं ।

सम्यक् कर्मान्त का सीधा प्रतिफल है सम्यक् आजीविका । ऊंचा आध्यात्मिक जीवन बिताने की इच्छा रखने वाले हर साधक की कुछ न कुछ जीविका होती ही चाहिये । अपने संरक्षक को सलाम करते रहने और फर्श को खुरचते रहने से किसी के भी मन में आत्म विश्वास पैदा नहीं हो सकता, साहस नहीं आ सकता, आत्म-गौरव और इज्जत का भाव पैदा नहीं हो सकता । हर किसी को अपने ऊपर कुछ

ऐसे कर्तव्यों की जिम्मेदारी लेनी चाहिये जिस से उस की योग्यता प्रकट हो और वह अपने मानव-बन्धुओं के लिये उपयोगी सिद्ध हो सके । लेकिन ऐसा कोई भी जीविका का साधन नहीं होना चाहिये जिस से किसी भी प्राणी को कोई हानि पहुंचे, जिस से किसी को कोई कष्ट हो । ऐसे निम्न कोटी के शिल्प जैसे स्वप्नों को लेकर भविष्य-कथन, शकुनों और तारांगणों को देखकर भविष्य वाणियां करना, हीरों जवाहरात में जादूभरे गुण बताना, पराप्राकृतिक शक्तियों की ढींग हाँकना, करिश्मे और आश्चर्यजनक बातें कर सकने की गप्पें मारना, जादूटोना करना, देवताओं की बलि चढ़ाना, जादूगरनी के कृत्य – ऐसे सभी धन्धे जिन में झूठ और ठगी का आश्रय लेना पड़ता है – जो सत्य की तलाश में लगा है ऐसे साधक के करने योग्य नहीं हैं ।

इसी प्रकार वह उन धन्धों तक पहुंचता है, जो धोखाधड़ी का ही दूसरा नाम हैं । झूठ बोलना और ठगना, इन्हें ही विज्ञापन और प्रतियोगिता का नाम देकर व्यापार और वाणिज्य के क्षेत्र में मान्य ठहराया गया है । जैसा एक प्रसिद्ध लेखक का कहना है "व्यापार के तरीके इतने अधिक स्वार्थपूर्ण हैं कि उन्हें चोरी के अन्तर्गत गिना जा सकता है और इतने सूक्ष्म हैं कि उन्हें ठगी के अन्तर्गत गिना जा सकता हैं ।" "हमारे व्योपार का जो सामान्य रूप है वह स्वार्थपरता का ही दूसरा नाम है, यह मानव प्रकृति की ऊंची मान्यताओं से प्रेरित नहीं है, परस्पर का जैसे को तैसा सम्बन्ध भी इसे संचालित नहीं करता । प्रेम और वीरता के नियमों की तो बात ही करना बेकार है । यह एक अविश्वास की पद्धति है, लुकाव छिपाव की पद्धति है, दूसरे को कुछ देने में नहीं बल्कि उस से कुछ हड़पने में विशेष चातुरी ।" जितने भी कमाई के धन्धे हैं वे सभी अयोग्य हैं, क्योंकि सभी में अपने अपने ढंग की खोट है । वकील अपना ज्ञान उसी को बेचता है जो ऊंची से ऊंची बोली बोल सकता है । उसे इस से कुछ लेना-देना नहीं कि कौनसा पक्ष न्याय संगत है । डॉक्टर अमीर रोगी से फीस एंठने के लिये उस से बहुत लाड़ प्यार से बात करता है और गरीब आदमी से मामूली फीस वसूल करने के लिये उस के पीछे पड़ जाता है । हर धन्धे में टैण्डर चलता है और यदि किसी की जमीर बहुत संवेदन शील है तो वह उस के धन्धे में उस की अयोग्यता मानी जायगी । जो भी आदमी कोई धन्धा करता है, हर धन्धा धन्धेबाज से चाहता है कि वह किसी हद तक आंखें बन्द करके रखे, कुछ चुस्ती हो, कुछ फुर्तीलापन हो, रीति-रिवाजों की मान्यता हो, उदारता और प्रेम की भावनाओं को थोड़ा दूरी पर रखना, तथा निजी स्वार्थपरता और ऊंची आदर्शवादिता में समझौता । इतना ही नहीं, यह सारी बुराई सम्पत्ति नाम की जो संस्था है उसी में घर कर गई है । हमारे जो कानून इस की स्थापना करते हैं और इसे संरक्षण प्रदान करते हैं, प्रेम और तर्क से उत्पन्न हुए नहीं लगते हैं, वे स्वार्थपरता की ही संतान हैं । और किसी भी धन्धे का नैतिक मूल्याङ्कन इस बात पर निर्भर करता है कि वह धन्धा-विशेष मानवता की किन आवश्यकताओं की पूर्ति कर सकता है

और वह उस धन्धे में जो मजदूर लगा है, उस मजदूर के लिये क्या कर सकता है ? उस मजदूर पर कितनी मात्रा में नैतिक प्रभाव डाल सकता है ? जहाँ कहीं भी और जब भी किसी भी आदमी को जीवकोपार्जन करना होता है तो कुछ लोग तो धोके और चालाकी से अपनी जीविका कमाते हैं, अधिकांश गुलामों की तरह परिश्रम करके। गुणों का विकास करने के लिये, महानता और चरित्र की श्रेष्ठता संपादन करने के लिये आदमी को दूसरों के परिश्रम की कमाई ही खानी पड़ेगी। इस लिये इस में कुछ भी आश्चर्य नहीं होना चाहिये कि तथागत को भी सत्य-प्रचारक का जीवन अपनाना पड़ा।

क्योंकि इस आर्य अष्टांगिक मार्ग पर गमन करने का उद्देश सभी चित्त-मलों (क्लेशों) की शुद्धि और सभी परदों (आवरणों) के हटाने से कम नहीं है, इस लिये बाह्य जीवन में परिवर्तन करने मात्र से कुछ बहुत सार की प्राप्ति होनेवाली नहीं है। दिमाग की आमूल सफाई होनी चाहिये। यह जो व्यक्ति की अपनी भीतरी पवित्रता है वह सम्यक् व्यायाम, सम्यक् स्मृति और सम्यक् समाधि से होने वाली है। सम्यक् व्यायाम में सम्यक् प्रधानों का प्रमुख स्थान हैं। ऐसा प्रयास कि हम में जो दुर्गुण नहीं है, व्यायाम में वह चले न आये, हम में जो दुर्गुण हैं वह जैसे के तैसे बने न रह जायें, हम में जो सद्गुण हैं, वह कहीं हम में से चले न जायें और हम में जो सद्गुण नहीं हैं, वे सद्गुण चले आयें सम्यक् प्रधान कहलाता है। सम्यक्-व्यायाम का उद्देश हैं कि एक अत्यन्त विकसित इच्छाशक्ति अर्थात् आत्म-संयम की सामर्थ्य को प्राप्त करना। 'परिपक्व इच्छाशक्ति' का मतलब प्रो. सली के अनुसार है कुछ दूसरे स्नायु-केन्द्रों के द्वारा कुछ स्नायु-केद्रों का अवरोध... 'जब परस्परविरोधी उत्तेजनाओं का उद्गम हो तो कार्य-विशेष का दबा देना आन्दोलन से परे एक निश्चयात्मक उद्देश्य की स्थापना और इसी पर चित्त की सतत एकाग्रता।' यदि कोई नया श्रमण हो और उसे किसी अवाञ्छनीय विचार ने धर दबाया हो तो तथागत ने उस विचार-विशेष से मुक्ति पाने के लिये एक के बाद एक ऐसे पांच साधनों के करने की शिफारिश की है। (१) 'किसी सद्विचार की ओर मन को लगा देना, (२) उस अकुशल-चित्त के अनुकरण पर किये गये अकुशल-कर्म के दुष्परिणामों पर विचार करना, (३) अकुशल-चित्त की ओर ध्यान न देना, (४) इस के पूर्व-वृत्त का विश्लेषण करना और उसे निष्प्राण बना देना, (५) शारीरिक दबाव से मन को दबा देना।' इन कोशिशों के बारे में यह नहीं सोचना चाहिये कि ये भी आत्मपीड़ा के सदृश शरीर को दी जानेवाली कोई 'तपस्यायें' ही हैं। काय-क्लेश को स्पष्ट तौर पर और जान बूझ कर भगवान बुद्ध ने वर्जित किया है। इन्द्रिय भावना सुत्त में तथागत पारासरिय नाम के एक ब्राह्मण तपस्वी के शिष्य से पूछते हैं कि तुम्हारा गुरु इन्द्रियों की साधना को लेकर तुम्हारा क्या शिक्षण करता है ? उत्तर दिया गया है कि वह न तो आँखों से देखता है, और न कानों से सुनता है। तथागत टीका करते हैं कि तुम्हारी व्यवस्था के अनुसार जो

अन्धे हैं, जो बहरे हैं, उन की इन्द्रियां सर्वाधिक विकसित होनी चाहिये। यह देख कि उस तरुण के पास कोई उत्तर नहीं था, तथागत ने आनन्द को सम्बोधित करके आर्य अष्टांगिक मार्ग की सर्वश्रेष्ठ इन्द्रिय संवर पद्धति समझायी हैं। इस श्रेष्ठ साधना के अनुसार साधक को कहा जाता है कि वह प्रत्येक वेदना को पहचानना सीखे, भले ही वह सुखद-वेदना हो या दुःखद वेदना हो, और चिन्तन के स्तर पर यह समझे कि यह 'वेदना' मात्र है और नीति के स्तर पर उसे 'उपेक्षा' से निम्नस्तरीय माने, क्योंकि वह उसी को प्राप्त कराना चाहता हैं और उसी को बनाये रखना चाहता है। इस प्रकार वेदनाओं के प्रति चित्त का दृष्टिकोण संजाननात्मक और विश्लेषणात्मक हो जाता है। और तब उस की प्रजा निश्चय करती है कि इस 'वेदना' का कैसे और कितनी मात्रा में मजा लूटना चाहिये।

कुशल के प्रति उत्साह होने से और प्रयास के सतत जारी रहने से ही 'आत्म-संयम' प्राप्त होता है। बोधिचर्यावतार में कहा ही है, 'बोधि वीर्य में स्थित है, जहां वीर्य नही, वहाँ पुण्य नहीं।' जो भी बोधिप्राप्ति की आकांक्षा करता है उसे एक योधा ही होना चाहिये, क्योंकि उसे सम्पूर्ण रूप से शीलवान् बनने के लिये, श्रेष्ठ पराक्रम के लिये, श्रेष्ठ बोधि के लियें युद्ध करना ही पड़ता है। निर्भिकता, कोमल भावनाप्रधान जीवन की उपेक्षा, निजी आत्मार्थ का त्याग, विनय के नियमों का पालन जैसे किसी सैनिक के लिये अनिवार्य गुण हैं वैसे ही ये किसी भी बोधि की आकांक्षा प्राप्त करने वाले के लिये भी। बिना सतत परिश्रम किये, कोई भी साधक क्रोध का, ईर्षा का, अहंकार का, लौकिक सुखों के प्रति आसक्ति का, नाश कैसे कर सकता है? इस के बिना कोई भी साधक विरोधी कारणों को कैसे दबाकर रख सकता है, और बोधि कैसे प्राप्त कर सकता है? आत्म-संयम के बिना और सहनशीलता के बिना अपनी शक्ति को किसी ऊंचे आदर्श की प्राप्ति के लिये केन्द्रित कर सकना असम्भव है और असम्भव है चित्त को परिशुद्ध रखना और पवित्रता प्राप्त कर सकना। नैतिक उपदेश सहायक हो सकते हैं, नैतिक अधिष्ठान आदमी के चेतना को दिशा-विशेष में परिवर्तित कर सकते हैं, लेकिन जिस आग्रह और अप्रमाद पर हमारी चेतना निर्भर करती है, वह अधिकतः हमारे अभ्यास पर निर्भर करता है। हमारा अभ्यास हमारे प्रेम-सम्बन्धों को परिमार्जित करता है, सुख-दुःख के प्रति हमारे दृष्टिकोण को संभालता हैं और हमारे कार्यों को प्राणवान भी बनाता है। यथार्थ नैतिक जीवन निर्भर करता है किसी विज्ञ दृष्टिकोण के अनुसार नियम-पूर्वक किये गये किसी दैनिक कार्यक्रम पर। इस लिये यह अत्यन्त आवश्यक है कि हम अपनी चेतना को अभ्यास डालें कि हम अपनी परिस्थिति में भी समय समय पर परिवर्तन करते रहें और अपने इरादों में भी फेर-फार करते रहें। अभ्यास से, अनुभव से, और ज्ञान से ही आदमी में वह आत्म-विश्वास पैदा हो सकता है, वह दृढ़ इच्छा-शक्ति पैदा हो सकती है कि आदमी बिना लड़खड़ाये अपने काम

को संपन्न कर सके । लेकिन इस बात को हमेशा ध्यान में रखना चाहिये कि इच्छा-शक्ति का अपना कहीं कोई भी स्वतंत्र अस्तित्व नहीं है। यह एक प्रवृत्ति मात्र है जो एक इरादे के बजाये दूसरे इरादे से प्रभावित हो सकती है।

धर्म चेतना को कोई ऐसा पृथक अस्तित्व, कोई ऐसी प्रक्रिया जिस को अपने से ही उत्पत्ति हो नहीं मानता। बोधिचर्यावतार का कहना है 'वह सभी कुछ प्रत्ययों के होने से उत्पन्न होता है, स्वतन्त्र उत्पत्ति किसी की भी नहीं है। चेतना चित्त की ही एक ऐसी अवस्था है, जो अनेक चैतसिकों के बहुत उलझे हुए ऐसे सहयोग से उत्पन्न है, जो सब मिलकर किसी न किसी क्रिया के माध्यम से अपने आप को प्रकट करते हैं। इस सहयोग में मुख्य भाग चरित्र का है। यह एक अत्यंत उलझे हुए सम्मिश्रण का परिणाम है, वंशानुगतित्व, पैतृक, जन्मग्रहण करने के बाद की शारीरिक स्थितियां, शिक्षण और अनुभव उस के स्वरूप को स्थिर करते हैं। इस मानसिक क्रियाशीलता का एक बहुत थोड़ा सा हिस्सा ही चित्त के निर्माण में सहयोगी होता है और निश्चय का स्वरूप ग्रहण करता है। निश्चय के फलस्वरूप जो कार्य या जो भी हलचल होती है, वह उन प्रवृत्तियों, उन वेदनाओं, उन संकल्पों, उन विचारों का परिणाम है जो कि एक चुनाव की शक्ल में सम्मिश्रित हो गये हैं। इस लिये 'चुनाव' किसी भी चीज का कारण नहीं है, वह स्वयं परिणाम है। हमारी निर्णायक शक्ति उन भिन्न भिन्न आकर्षणों को तोलती है, जिन के मूल में भिन्न भिन्न इरादे रहते हैं और उन में जो सबसे अधिक तेज आकर्षण होता है, वह बाजी मार ले जाता है। यह तो वास्तव में सत्य है कि हर आदमी यह विश्वास करता है कि वह जिस चीज को प्राप्त करना चाहता है, उस का चुनाव उस विषय में निर्णायक होता है। लेकिन इस का यह मतलब नहीं कि वह चुनाव भी अपने में चैतसिकों का सम्मिश्रण नहीं। इस बात से कौन इनकार करेगा कि हमें जिस प्रकार के सुख-दुःख भोगने की संभावना रहती है, उस से हमारा 'चुनाव' प्रभावित होता हैं। यदि हम यह मान लें कि हमारे 'चुनाव' के मूल में कोई प्रत्यय नहीं होता तो इस का वही अभिप्राय होगा कि कोई भी पागल आदमी जो बेसमझी की बातें करता हैं वही व्यवहार का सामान्य स्तर है और उसी के साथ हमें सभी के आचरण की तुलना करनी चाहिये। फिर यदि चुनाव बिना प्रत्यय के हो, तो हर चुनाव का परिणाम सुख ही होना चाहिये। कोई भी आदमी अपने होकर किसी दुखद स्थिति को नही अपनायेगा। बोधिचर्यावतार का कथन है, यदि स्वेच्छा मात्र से सभी प्राणियों को सिद्धि प्राप्त हो सकती हो, तो कोई भी प्राणी दुखी नहीं होगा, क्योंकि दुःख को तो कोई भी नहीं चाहता। आदमी के नैतिक जीवन को आप प्रकृति और समाज से पृथक नहीं कर सकते। वह उस 'सर्व' से पृथक नहीं किया जा सकता, जिसका एक सीमित व्यक्तित्व के नाते वह व्यक्ति स्वयं एक भाग है।

सिद्धान्ती और अध्यात्मशास्त्री की कल्पना के बाहर स्वतन्त्र चिन्तन का कहीं अस्तित्व नहीं। ये भी यह विश्वास नहीं करते कि दूसरे मनुष्यों के कार्य के मूल में प्रत्यय नहीं होते। यदि वे ऐसा मानते, तो उन्हें दूसरे लोगों के कार्यों को प्रभावित करने की किसी भी प्रकार कोशिश नहीं करनी चाहिये, क्योंकि इस से यह बात माननी ही पड़ेगी कि कुछ निश्चित कारणों का, प्रत्ययों का निश्चित परिणाम होता है। हर कोई यह मानकर कार्य करता है कि एक सीमा के भीतर वह पेशेनगोई की जा सकती है कि अमुक परिस्थिति में अमुक आदमी अमुक तरह से व्यवहार करेगा। इस बात को अस्वीकार करने का मतलब है कि आदमी और आदमी के बीच के किसी भी व्यवहार को संभव न मानना। लोग यह मानते हैं कि एक खास आदमी, खास परिस्थिति में एक खास तरह से ही बरताव करेगा, क्योंकि उन्हों ने अपने निजी अनुभव से जाना है कि उस खास आदमी ने पहले भी वैसी ही खास अवस्था में उसी तरह व्यवहार किया है या कुछ दूसरे लोगों ने वैसी ही अवस्था में वैसी ही तरह व्यवहार किया है। यह मान लेना कि समान परिस्थिति में आदमी का व्यवहार भी पूर्व–व्यवहार के समान ही होता है, यह भावना ही है कि आदमी की परिस्थिति उसके चुनाव का निश्चय करती है या उस की परिस्थिति और उस के चुनाव का भी निर्णय किन्हीं खास दूसरी बातों पर निर्भर करता है।

यदि आदमी की चेतना अपने में एक स्वतन्त्र सत्ता होती तो शिक्षण द्वारा किसी भी आदमी के चरित्र को प्रमाणित कर सकना सम्भव न होता। लेकिन अनुभव सिखाता है कि एक आदमी का चरित्र अनेक गुणों से निर्मित है और इस दिशा में प्रयास किया जाय तो उस में परिवर्तन लाया जा सकता है। क्योंकि एक आदमी की चेतना उस के इरादों का अनुसरण करती है और कारणों पर निर्भर करती है, वह आदमी अपने कार्यकलापों के हालात में परिवर्तन करके और विचार–पूर्वक अपनी चेतना के इरादों को नियम–बद्ध बनाकर अपने में परिवर्तन ला सकता है। भगवान बुद्ध ने भी कहा ही है, 'जो श्रमण या ब्राह्मण यह कहते हैं कि आदमी के मन में जो विचार उत्पन्न होते हैं, वे अपने आप पैदा होते हैं, उन का कोई मूल नहीं होता, वे भयानक तौर पर गलती पर हैं––––शिक्षण से कुछ विचारों को उत्पन्न किया जा सकता है और दूसरों का निरोध किया जा सकता है।'

सम्यक् दिशा में अग्रसर होने की ट्रेनिंग–प्राप्त चेतना हो तो यह बात समाविष्ट है ही कि साधक ने भावनाओं का अभ्यास कर हृदय को भी किसी न किसी हद तक तैयार किया है। यदि कोई ऐसी इच्छा है कि जिस की पूर्ति हो सकती है तो यह चेतना के कार्य का आरम्भ है और जब यह सशक्त हो गई तो चेतना का कार्य्य पूर्णता को प्राप्त हो गया। अपने मन में अशुभ–भावना करके आदमी

जो कुछ भी सड़ागला है, उस के प्रति घृणा पैदा कर लेता है। वह उस वाञ्छित वस्तु के दुष्परिणामों पर भी विचार करता है। इस से दूसरी भावनाओं का अभ्यास करने के लिये अपेक्षित साहस और शक्ति प्राप्त होती है । मैत्री–भावना करने वाला अपने दिल का ताल मेल कुछ ऐसा बिठाता है कि वह सभी प्राणियों के हित और कल्याण की कामना करता है, यहाँ तक कि अपने शत्रुओं की भी। एमिल बदनफ का जैसा कहना है मैत्री व्यापक प्रेम से कम कुछ भी नहीं है । कोई भी आदमी मैत्री का अभ्यास तब तक नहीं कर सकता जब तक उस ने अपने हृदय को राग और द्वेष से सर्वथा परिशुद्ध न कर लिया हो । इतिवुत्तक का कहना है कि हृदय की परिशुद्धता के जितने भी दूसरे साधन है, वे हृदय की शुद्धि के साधन की दृष्टि से मैत्री–भावना के दस हिस्सों में से छठे हिस्से के भी बराबर नहीं है । मैत्री–भावना की शक्ति की सीमा असीम है । यह अकेली सभी अपेक्षित लाभों को सुलभ करा दे सकती है। जीवन की कोई एक भी अच्छाई नहीं है, जिस पर मैत्री की छाया न पड़ी हो। करुणा भावना करते समय साधक दुःखी प्राणियों के बारे में देखता है ताकि उन के दुःख दर्द की कल्पना कर अपने हृदय में एक गहरी सहानुभूति उत्पन्न कर सके। मुदिता–भावना में आदमी दूसरों के ऐश्वर्य्य की बात सोचता है और उन के सुख में आनन्दित तथा सुखी होता है । कैसी ही कठिनाई की स्थिति हो, जब बड़े से बड़ा दुर्भाग्य सिर पर आ पड़ा हो, तब भी आदमी को चाहिये कि वह मैत्री को बनाये रखे क्योंकि स्थायी संतोष बनाये रखने का यही सब से बड़ा स्रोत है । जब मुदितारूपी पुष्प खिलता है तो सारी मानवता के हित में कष्ट उठाने में उसका विकास होता है। उपेक्षा भावना का अभ्यास करते समय साधक अहंकार और स्वार्थपरता से मुक्त होकर शक्ति और दबाव के सभी विचारों से ऊपर उठ गया रहता है और उठ गया रहता है धन और अभाव के विचारों से भी, अकाल और घृणा के विचारों के भी ऊपर, तारुण्य और वृद्धावस्था के बारे में भी, सौंदर्य और कुरूपता के बारे में भी, रोग और स्वाथ्य के बारे में भी । उसे कुछ भी हो जाय वह शान्त और समान रहता है और उस की वह शान्ति जो आसक्ति रहित है।

केवल इसी प्रकार के प्रयासों द्वारा यह संभव है कि आदमी केवल बाह्य परिस्थिति का गुलाम न रहकर कुशल–कर्मों के अनुकूल निर्णय करने की सामर्थ्य प्राप्त कर सके । इसी प्रकार वह अपनी अकुशल–प्रवृत्तियों और दूसरी बाधाओं का अन्त करने में सफल होगा। वह आपसी पार्थक्य और विभेद के सभी विचारों से मुक्ति पा सकेगा । वह विश्वव्यापी करुणा के विचारों से अपने मन को भर सकेगा। वह मैत्री और उदाराशयता से युक्त होकर बोधि के स्वरूप में श्रेष्ठतम स्वतन्त्रता को प्राप्त कर सकेगा । इसी सच्ची स्वतन्त्रता के वायुमण्डल में वह बिना थकावट का नाम लिये, सभी प्राणियों के हित के लिये अथक परिश्रम करेगा। प्रमाद का उसे कहीं, लव–लेश भी न होगा। धर्म संगीति में कहा है कि

बोधिसत्व को सभी प्राणियों का हितचिन्तन छोड़कर दूसरा कार्य नहीं ।

सही अभ्यास के द्वारा चेतना शिक्षित और संयत दोनों हो जाती हैं । लेकिन जैसे न कोई निरपेक्ष वेदना, चेतना या चेतना हो सकती है, सम्यक् व्यायाम के साथ सम्यक् स्मृति का सहयोग आवश्यक है । इस लिये चित्त का सही दिशा में मार्ग-दर्शन होना चाहिये । यह मन ही है जो भय का और नाना प्रकार के दुःखों का जनक है, जो कुशलाकुशल कर्मों को उत्पन्न करता है । जैसा कि तथागत ने कहा है कि "दीर्घकाल तक की गई तपस्या निष्प्रयोजन सिद्ध होगी, यदि मन का सही मार्ग-दर्शन नहीं हुआ है । कर्म चित्त के आधीन हैं और बोधि चित्त के आधीन हैं । सभी चैतसिक धर्मों का पूर्वगामी मन है, मन ही श्रेष्ठ है, सभी कुछ मनोमय है । जब आदमी दूषित मन से कुछ भी बोलता है या कोई भी कार्य करता है, तो जिस प्रकार रथ का पहिया रथ को खींचने वाले बैलों का पीछा करता है, उसी प्रकार दुःख उस आदमी के पीछे पीछे हो लेता है । सभी चैतसिक-धर्मों का पूर्व-गामी मन है, मन ही श्रेष्ठ है, सभी कुछ मनोमय है । जब आदमी स्वच्छ मन से कुछ भी बोलता है या कोई भी कार्य करता है तो सुख उस आदमी का ऐसे पीछा करने लगता है जैसे कभी भी आदमी का साथ न छोड़ने वाली छाया उस के पीछे पीछे चलती है । यह मन ही है जो स्वयं अपनी निवास-भूमि की रचना करता है । जो मन अकुशल चिन्तन करता है, वही स्वयं विपत्तियों को निमंत्रण देता है । यह मन ही है जो स्वयं अपने दुःखों का जनक है । न माता-पिता ही आदमी का उतना उपचार कर सकते हैं, जितना उसका उपकार सही रास्ते पर चलने वाला उस का अपना चित्त कर सकता है । तब सुख अनिवार्य तौर पर साथ देता है । जो आदमी अपनी छहों इन्द्रियों को संभालता है और अपने विचारों को काबू में रखता है, वह निश्चय से पापी-मार के युद्ध में विजयी होगा और अपने आप को सभी प्रकार के दुःखों से मुक्त कर लेगा ।"

इस लिये बुरे विचारों के विरुद्ध मन का संरक्षण करना चाहिये । आदमी के विचार हमेशा सम्यक् रहने चाहिये । उसे यह जानना चाहिये कि किन किन बातों से परहेज करना और किन किन बातों को करना । उसे इस बात का ध्यान रहना चाहिये कि उस का मन और शरीर किस किस प्रकार व्यवहार करते हैं । केवल वही आदमी जो विचार कर सकता है वही अपने अपराध को अपराध करके जान सकता है और भविष्य के लिये अपने आचरण को सुधार सकता है । जो आदमी विचार शून्य है वह उस पंगू आदमी की तरह है, जो किसी काम का नहीं । सम्यक विचार के अनुसार आदमी तभी काम कर सकता है जब उस के पास दिव्य-चक्षु और प्रज्ञा भी हो । अपने विशुद्धि मार्ग में आचार्य्य बुद्धघोष ने कहा है कि प्रज्ञा भिन्न भिन्न प्रकार की और नानाविध होती है और यदि इस के सम्बन्ध में विस्तार पूर्वक कुछ लिखा जाय तो लिखने के उद्देश्य की पूर्ति न होगी और मामला और भी अधिक उलझ जायगा । इस लिये हमारा यहाँ जिस अर्थ से अभि-

प्राय है, हम उसी में सीमित रहेंगे। जिस ज्ञान में अन्तर्दृष्टि हो और जिस के साथ पुण्यों का संयोग हो, वह ज्ञान ही प्रज्ञा है।" अन्तर्दृष्टि से हमारा अभिप्राय है कि आदमी के लिये जो कुछ भी मूल्यवान है उस के केन्द्र में जो वास्तविक है उसे हृदयङ्गम कर सकने की सामर्थ्य। और ज्ञान से हमारा अभिप्राय है कार्य-कारण या प्रतीत्यसमुत्पाद के नियम की पर्य्याप्त समझ, काम (शरीर) के यथार्थ स्वभाव की समझ, सुख और दु:ख के यथार्थ स्वरूप की समझ, चित्त की क्रियाशीलता की समझ और विश्व में जितने भी चित्त के विषय या धर्म है, उन की समझ। जब बोधिसत्व को विद्या प्राप्त होगी तो यह बात उस की समझ में आयेगी कि अनेक हालात के मेल-जोल से सभी चीजें अस्तित्व में आती हैं, कि सभी चीजें अनित्य हैं, कि न कहीं कोई आत्मा है और न परमात्मा है, और कि इन सभी के बारे में अविद्या-ग्रस्त रहने के ही कारण सभी प्राणी नाना प्रकार से शारीरिक तथा मानसिक कष्ट भोगते हैं। यह ज्ञान बोधिसत्व के चित्त में अनन्त करुणा को जाग्रत करेगा और वह अथक उत्साह के साथ उन्हें दु:ख से मुक्त कराने के कार्य में लग जायेंगे।

यह बौद्ध धर्म की ही शान है कि यह बौद्धिक ज्ञान को मुक्ति की अनिवार्य शर्त ठहराता है। बौद्ध धर्म में सदाचार और बौद्धिक विकास परस्पर एक दूसरे से पृथक नहीं किये जा सकते। सदाचार उच्च जीवन का आधार है तो मानसिक ज्ञान उसे पूर्णता को पहुंचा देता है। कोई कितना भी सदाचारी हो, यदि उस ने प्रतीत्यसमु-त्पाद को प्रत्ययों से उत्पत्ति के सिद्धान्त को नहीं समझा है तो उसे बोधि प्राप्त नहीं हो सकती। किसी को हम यथार्थ सदाचारी भी नहीं कह सकते यदि उसे अन्तर्दृष्टि और ज्ञान प्राप्त नहीं है। इस विषय में बौद्ध धर्म सभी दूसरे मजहबों से विशिष्ट है। जितने भी एकेश्वरवादी धर्म हैं, वे कुछ स्थापनाओं को लेकर चलते हैं और जब आधुनिक युग का विज्ञान इन स्थापनाओं का खण्डन करता है तो यह रोने लगते हैं, "जो आदमी जितना ज्ञान बढ़ाता है, वह उतनी ही मात्रा में दु:ख में वृद्धि करता है।" लेकिन बौद्ध धर्म किन्हीं मनगढ़न्त स्थापनाओं को लेकर नहीं चलता है। यह यथार्थ बातों की पक्की चट्टान पर स्थिर है और इसी लिये इसे ज्ञान के शुष्क प्रकाश से आँख चुराने की जरूरत नहीं। कुछ लोगों ने अद्वैत वेदान्त को उसी भूमिका पर स्थापित करने की कोशिश है जिस पर बौद्ध धर्म स्थिर है। उन का कहना है कि अद्वैत धर्म में ज्ञान ही मुक्ति का मार्ग है। लेकिन बौद्ध धर्म प्रज्ञा शब्द से जो कुछ ग्रहण करता है, वह अद्वैत वेदान्त के ज्ञान से सर्वथा भिन्न है। प्रज्ञा का अर्थ है देखना, अनुभव करना और उस पर तर्क करना और इसे अन्तर्चेतना या उच्चतर चित्त-वृत्ति से कुछ लेना-देना नहीं है। दूसरी ओर जो ब्रह्म-वाद में आस्था रखने वाला है वह कारण आदि सभी की परिभाषा करता है। धर्म-ग्रन्थों के आधार पर और उसे इस की मंजूरी नहीं है कि वह अपनी मान्यता को तर्क की कसौटी पर कसे जाने की तैयारी करे। यह केवल वेदों की

शब्द प्रामाणिकता के ही आधारपर कहा जा सकता है कि विश्व की उत्पत्ति ब्रह्म से हुई है। डा. ड्यूसेन ने अपने 'वेदान्त–व्यवस्था' ग्रन्थ में साफ तौर पर स्वीकार किया है कि वेदान्त के ज्ञान और ईसाईयत के विश्वास में कहीं कोई अन्तर नहीं।

यद्यपि ज्ञान और अन्तर्दृष्टि का ऊंचे से ऊंचा मूल्य है, तो भी इस की सावधानी रखनी चाहिये कि वे लुढ़क कर अस्थिर चित्त–वृत्तियों की ओर न मुढ़ जायें। इस लिये जो बोधि–प्राप्तिका इच्छुक है उसे मानसिक स्थिरता प्राप्त करने के लिये ध्यान–भावना का भी अभ्यास करना चाहिये। केवल समाधी ही बेकार के चिन्तन मनन को शान्त रख सकती है। जैसा बौद्ध धर्म में समझा गया है ध्यान जीवन की घटनाओं पर ऊंचे से ऊंचे दृष्टिकोण से चिन्तन–मनन है। इस लिये इस का अपना विशेष महत्व है। मुक्ति प्राप्ति के साधन के रूप में धर्म प्रार्थना को कोई स्थान नहीं देता। गलती करने वालों की भिन्नतों का कारण–कार्य के नियम पर क्या प्रभाव पड़ सकता है? यदि कोई अपराध हो गया है तो उस के परिणामों से पश्चाताप द्वारा, मरम्मत द्वारा ही बचा जा सकता है, दण्ड के स्वार्थ मूलक दण्ड के भय के द्वारा नहीं। बचा जा सकता है तो सत्य और धर्म के प्रेम द्वारा। आवश्यक शील का पालन करते हुए, उस से पुरा पुरा लाभ उठाने की कीमत से पर्याप्त ज्ञान के साथ जो ध्यान–भावना का अभ्यास किया जाता है वह आदमी की इस बात में सहायता करता है कि आदमी अपने आप को और अच्छी तरह जानने लगता है, अपनी जमीर का और बारीकी से विश्लेषण कर सकता है और अपने चित्त को प्रकाशमान बना सकता है। ध्यान की चार अवस्थायें हैं – पहली अवस्था में वितर्क, विचार, प्रीति, सुख तथा एकाग्रता पाचों अंग विद्यमान रहते हैं। दूसरे तथा तीसरे ध्यान में ध्यानांगों का एक एक अंग कम होता जाता है और अन्त में मात्र एकाग्रता शेष रह जाती है। एक बौद्ध मठाधीश के प्रवचन में उद्धृत चन्द्रदीप समाधी सूत्र के अनुसार ध्यान–भावना का अभ्यास करने वालों को निम्मलिखित दस लाभ होते हैं, (१) जब आदमी विधिपूर्वक ध्यान–भावना का अभ्यास करने लगता हैं उस की सभी इन्द्रियां शान्त और गम्भीर हो जाती हैं और उसे पता भी नहीं लगता, वह अपने इस अभ्यास का मजा लेने लगता है। (२) मैत्री–भावना उस के हृदय को ग्रस लेती है और वह सभी प्राणियों से अपने भाई–बहनों की तरह प्रेम करने लगता है। (३) इस तरह के विषैले आवेश जैसे क्रोध, प्रेम का अन्धापन, इर्षा इत्यादि धीरे धीरे उस की चेतना में से लुप्त हो जाते हैं। (४) क्योंकि सभी इन्द्रियों की चौकसी की जाती है इस लिये ध्यान–भावना मार के आक्रमण से संरक्षण प्रदान करती है। (५) जब हृदय पवित्र हो जाता है और प्रवृत्ति शान्त हो जाती है ध्यान–भावना करने वाले पर निम्नस्तरीय आवेश आक्रमण नहीं करते हैं, (६) क्योंकि चित्त उच्चस्तरीय विचारों पर एकाग्र हो जाता है, तो सभी प्रकार के लोभ, आकर्षण दूर दूर रहते हैं, (७) यद्यपि वह अहंकार की शून्यता को अच्छी तरह जानता

है, तो भी वह उच्छेदवाद के जाल में नहीं फसता है। (८) जीवन-मरण का जंजाल कितना ही उलझा हुआ हो, वह उस में से निकल जाने का रास्ता जानता है, (९) धर्म की गहराई तक पहुंच जाने के कारण, वह भगवान बुद्ध के ज्ञान में जीवन व्यतीत करता है। (१०) अब जब उसे कोई भी लोभ लालच ललचा नहीं सकता, उसे लगता है कि वह उस बाज के समान है जो अपने पिंजरे में से निकल चुका है और जो हवा में स्वतन्त्रतापूर्वक उड़ता है।' इस से यह स्पष्ट है कि ध्यान-भावना एक ऐसा अभ्यास है, जो अन्त में चित्त को एक ऐसी अवस्था तक पहुंचा देता हैं, जब उस का चित्त ऐसा प्रकाशमान हो जाता है जो विश्व को एक सर्वथा नये रूप में देख सकता है, आसक्ति-रहित, राग-रहित तथा द्वेषरहित।

जिस ध्यान का बौद्ध जन अभ्यास करते हैं, वह बेहोश हो जाना नहीं हैं। बल्कि यह तो आदमी के चित्त को ही विकसित करने का कार्यक्रम है। यही परिष्कृत चित्त चरित्र कहलाता है। दान देने और शील के नियमों का पालन करने का मतलब है आदमी के दैनिक चर्य्या में कुशल-कर्मों का करना, जिन से निम्नस्तरीय प्रवृत्तियों का लोप होता चला जाता है और उच्चस्तरीय का विकास। दान, शील भी ध्यान का एक अंग ही मान लिया जाय तो भी ध्यान प्रधान रूप से आदमी के चरित्र को प्रमाणित करने वाली चैतसिक प्रक्रिया है। इस प्रकार वह व्यक्तिगत अहंकार को लोप कर देने के उद्देश से की जाने वाली प्रक्रिया है। इसका उद्देश है कि सभी वस्तुओं का आसक्ति-रहित निरीक्षण किया जा सके। यह एक ऐसा सतत प्रयास है, जिसका उद्देश है सभी पदार्थों के साथ चित्त का ताल मेल बैठाना, प्रकृति में हर वस्तु के स्थान को समझना और अपने कार्यक्रमों की सभी वस्तुओं से चूल में चूल बैठा लेना। इसलिये ध्यान का उस संज्ञा-हीनता या बेहोशी से कुछ भी सम्बन्ध नहीं है, जो धार्मिक रहस्यवाद से जुड़ी हुई है और जिसके बारे में कहा जाता है कि वह परा-प्राकृतिक शक्तियों की जनक है और उस से दिव्य-दृष्टि की भी प्राप्ति होती है।

'हमारे संघ का कोई भी सदस्य' भगवान बुद्ध का अनुशासन है, कभी भी अपने बारे में यह घोषणा न करे कि उसे ऋद्धि-सिद्धियां प्राप्त हैं और झूठ मूठ की प्रसिद्धि के लिये वह कहता फिरे कि वह परिशुद्धात्मा है, यहाँ तक कि वह ऋद्धि-सिद्धि प्राप्त करने के लिये एकान्तवास करने लगे और बाद में दूसरों को यही असाधारण शक्तियाँ प्राप्त करना सिखाने की बातचीत करे। यह संभव है कि जड़ से कटा हुआ ताड़ का पेड़ फिर हरा हो जाय, लेकिन यह संभव नहीं है कि वह संघ की सदस्यता प्राप्त कर सके। स्वप्न, आनन्द मग्न होना, दृश्य देखना और चेतना-विहीन हो जाना जैसी प्रक्रियायें दूसरे धर्मों में परिशुद्धात्मुख की पहचान हैं, लेकिन बौद्ध के लिये ये सब बेकार की मूर्खतापूर्ण कल्पनायें हैं।

बौद्ध ध्यान–भावना को अनुत्तर योग भी कहा गया है । इसे ब्राह्मणी योग–साधना के साथ नहीं गड़बड़ाना चाहिये । ब्राह्मणी योग–साधना प्रधानरूप से शारीरिक है और सम्मोहन विद्या का परिणाम है । यह अपने ही द्वारा पैदा किये गये आत्म–भ्रम का परिणाम है । बौद्ध ध्यान–भावना का भी शारीरिक पक्ष है और उस के साथ स्वास्थ्यसम्बन्धी नियम जुड़े हुए हैं । जो आदमी अपना सम्पूर्ण विकास करना चाहता है उसे स्वास्थ्य के सभी नियमों का सावधानीपूर्वक पालन करना चाहिये । खान–पान सम्बन्धी नियमों का पालन, लम्बे सांस लेने का अभ्यास, हर समय ताजी हवा, ऐसे वस्त्रों का पहनना जो सारे शरीर पर से हवा के आवागमन में बाधक न हों, बार बार स्नान करने का अभ्यास, नियमित विश्राम, और पर्य्याप्त व्यायाम — ये सभी आवश्यक हैं । ध्यान–भावना का भी शारीरिक पक्ष भले ही हो और उसे स्वास्थ्यसम्बन्धी नियमों से भी भले ही लेना-देना हो, लेकिन यह प्रधानरूप से मानसिक तथा नैतिक है, इस का प्रधान उद्देश्य है विज्ञान या चित्त के वास्तविक रूप को हृदयङ्गम कर सकना और इस का मतलब है कि आदमी को समझ सकना । बौद्ध धर्म में बड़े से बड़ा योगी बोधिसत्व है जो छह पारमिताओं का अभ्यास करता है । ब्राह्मण-योगी का प्रयास होता है सर्वव्यापक ब्रह्म में लीन हो जाना । बोधिसत्व का प्रयास होता है कि वह सभी वस्तुओं के शून्य स्वरूप को साक्षात्कार कर ले । बोधिचित्त और व्यापक करुणा एक दूसरे से पृथक नहीं की जा सकतीं और अनात्मवाद से भी । महान् कवि अश्वघोष ने अपने 'महायान श्रद्धोत्पाद सूत्र' में 'बोधि' की प्राप्ति के लिये साधना करने वाले साधक को विशेष रूप से सावधान किया है कि वह बौद्धों की समाधि और तैर्थिकों की समाधि को एक न समझ बैठें । तैर्थिकों द्वारा जितने भी समाधि प्राप्ति के लिये किये जानेवाले अभ्यास हैं वे अनिवार्य तौर पर आत्मवादी-संज्ञा के परिणाम हैं, आत्म–संभ्रम के और आत्मसूचनाओं के । और हम यह भी कह सकते हैं कि जिन ध्यानों को दिव्य–ध्यान कहा गया है और जिन में सुध–बुध एकदम खो जाती है, वे कम से कम कुछ लैंगिक अचन प्रक्रिया के परिणाम हैं ।

प्रज्ञा–विरहित ध्यान का कुछ भी अच्छा फल नहीं निकल सकता, लेकिन जब दोनों की जोड़ी साथ साथ चलती है, तो आदमी का चित्त सभी विरोधों के समाप्त हो जाने की अवस्था में सभी अस्थिरताओं से मुक्त हो जाता है । वह सभी अहंकारों के जनक आत्म–मोह से भी मोक्ष लाभ कर लेता है । अहंवाद के विनाश से बोधिसत्व सभी दुःखों से मुक्त हो जाता है और उस के रास्ते की सभी रुका-वटें हट जाती हैं । वह आत्म संयमी हो जाता है, सहनशील हो जाता है, सभी प्राणियों के प्रति करुणा का अनुभव करता है । इस में कुछ आश्चर्य नहीं कि बौद्ध ध्यान के इतने बढ़िया परिणाम हुए हैं, जैसे कि आधुनिक जापानी नागरिक । श्री. ओकाकुरा पोशिस व्योरो अपनी 'जापानी स्प्रिट' नाम की रचना में लिखते

हैं "वह आत्म-संयम जो हमें किसी बाह्य परिवर्तन के द्वारा अपने भीतरी परिवर्तन को प्रकट न होने देने की सामर्थ्य देता है, वे नपे तुले कदम जिनसे हमें मृत्यु के भयानक जबड़ों की ओर भी आगे बढ़ना सिखाया जाता है, संक्षेप में वे सब गुण जिन के कारण एक आधुनिक जापानी लोगों की दृष्टि में विचित्र सा प्राणी लगने लगता है, स्पष्ट तौर पर उस प्रभाव का परिणाम हैं जो सीधे या घुमा फिर कर हमारी उस बीती हुई चेतना पर पड़ा है, जो जैन साधुओं द्वारा सिखाये गये ध्यान के बौद्ध सिद्धान्त का परिणाम है।"

जो लोग आर्य अष्टांगिक मार्ग पर आगे ही आगे कदम बढ़ाना चाहते हैं उन के रास्ते में दस बाधायें (संयोजन) आती हैं जिन्हें दूर करना अनिवार्य है। इन में सब से प्रमुख है सतकाय दृष्टि, अपरिवर्तनशील व्यक्तित्व के होने का व्यामोह । इस व्यामोह के अनेक रूप हैं । कभी कभी शरीर को ही अपना-आप मान लिया जाता है । कभी कभी यह भी समझ लिया जाता है कि अपना-आप कोई ऐसा पदार्थ है जो मृत्यु के समय शरीर को छोड़ कर उड़ जाता है, कभी कभी यह अपने आप को व्यक्तित्व के प्रति भावनात्मक या आध्यात्मिक आसक्ति के रूप में प्रकट करता है। कुछ भी हो जो कोई अपने आप को एक स्थायी अपरिवर्तनशील अस्तित्व मानता है और यह बात नहीं समझता कि वह पांच स्कन्धों के समूहीकरण के अतिरिक्त कुछ नहीं, जिस का वर्तमान रूप भूतकालिक कारणों पर निर्भर करता है और जिस का भविष्यकालीन रूप वर्तमानकालीन कारणों पर निर्भर करेगा, उस की उन्नति या ज्ञान-प्राप्ति असम्भव है । लेकिन एक बार जब आदमी ने समझ लिया कि कोई स्थायी 'अहं' नहीं है, जो मरने के अनन्तर किसी स्थायी स्वर्ग में निवास कर सकता हो, तो हम भोगवादी की उस भूमिका से बहुत दूर नहीं रहते, जिस के अनुसार वह कहता है, "आज खाओ, पीओ, मौज उड़ाओ क्यों कि कल तो हमें मर जाना है ।" इसलिये यह आवश्यक है कि उस का यह विश्वास बना रहे कि वह पूर्णता प्राप्त कर सकता है। इस लिये नवदीक्षित शिष्य के सामने जो अगली दूसरी भाषा है, वह संशयालुपन की है। अपने 'अज्ञात और अज्ञेय' की तोता रटन्त के साथ संशयवाद अस्तित्व की किसी भी सम्भावना के हल कर सकने की संभावना से इनकार करता है और इस प्रकार वह एक ऐसे मानसिक और नैतिक रोग का रूप ग्रहण कर लेता है जो प्रगति की ओर उठाये जा सकने वाले हर कदम को जड़ बना देता है । बहुत हालतों में तो संशयालुपन अज्ञान को ढंके रखने का एक आवरण मात्र है। संशयवाद या संशयालुपन यह चित्त की कोई ऐसी प्रवृत्ति नहीं है, बल्कि यह मानसिक अस्थिरता की सूचना देनेवाली एक चैतसिक खराबी है। संशयालुपन आदमी को पुनर्जीवन प्रदान नहीं कर सकता, यह किसी की हत्या कर सकता है, यह किसी को जिता नहीं सकता। किसी नये आदर्श के दिशा में बढ़ने वाली श्रद्धा ही किसी आदमी को किसी नये जीवन की ओर अग्रसर कर सकती है। यह देखने के लिये

कि यह आर्य अष्टांगिक मार्ग हमें कहाँ ले जायगा, हमें चलना आरम्भ करना चाहिये। इस में कोई शक नहीं कि मार्ग के पक्ष में तर्क दिये जा सकते हैं, लेकिन आदमी को चाहिये कि वह अपने आप को मार्ग के प्रति समर्पित कर दे और जो ज्ञान इस पथ पर चलने से ही प्राप्त किया जा सकता है, उसे प्राप्त करने के लिये उस पथ पर आगे ही आगे की ओर अग्रसर होता रहे। साधक के मार्ग की तीसरी बड़ी भाषा है शील-व्रत परामाश रीति-रिवाज विशेषों को पवित्रता का दाता मान बैठना। वैदिक धर्म कर्मकाण्डी धर्म था। जो सोमरस को भरपूर मात्रा में बहाता है और जिस के हाथ हमेशा मक्खन से भरे रहते हैं उस से बढ़कर कोई आदमी नहीं और जो आदमियों देवताओं को बलि आदि चढ़ाने के विषय में दरिद्र है उस सें बढ़कर निकृष्ठ आदमी नहीं। वैदिकोत्तरकाल में कर्मकाण्ड ने और जोर पकड़ लिया था, और धर्म लगभग जादू-टूना ही बन गया था। स्वयं रीति-रिवाज भी देवताओं की तरह पूज्य माने जाने लगे थे। आदमी के कल्याण के लिये रीति-रिवाज अनिवार्य थे। पवित्र ग्रन्थों का पाठ मुक्ति-प्राप्ति का साधन माना जाने लगा और कहीं कहीं तो देवता-विशेष का नाम एक ही बार लेने से जन्म भर किये गये सभी पापों से छुट्टी मिल जाती थी। क्यों कि तथागत की शिक्षाऐं किसी भी देवता के विश्वास पर आश्रित नहीं है, इस लिये धर्म में किसी भी प्रकार के किसी कर्मकाण्ड के लिये स्थान नहीं। रीति-रिवाज ये सब दिखावटी सहारे हैं, ये जब ठीक दिशा का निर्देश करने वाले होते हैं, तब भी किसी भी तरह दुःख का अन्त करने के साधन नहीं बनते। जो लोग बहुत बारीकी से रीति-रिवाजों का पालन करने में लगे रहते हैं, वे राग, द्वेष, मोह रूपी क्लेशों से कभी नहीं उबरते हैं। यदि गङ्गा में स्नान करने से पुण्य होता हो, तब मछलियां मारने वाले लोग सर्वाधिक पुण्यवान माने जायेंगे, और उन से भी अधिक वे मछलियां और पशु जो दिन रात गङ्गा-जल में ही तैरते रहते हैं।

इन तीन बाधाओं पर विजय प्राप्त कर लेने का मतलब है सोतापन्न हो जाना, स्रोत में आ पड़ा, कभी न कभी अर्हत्व होना निश्चित हो गया। धम्मपद का कहना है कि सोतापन्न फल संसार भर के राज्य से बढ़कर हैं, स्वर्ग लाभ से बढ़ कर है, सभी लोगों पर के स्वामित्व से बढ़कर है,। ' यह आरम्भिक अवस्था इस बात की गारण्टी नहीं है कि आदमी फिर पीछे की ओर नहीं मुड़ जायगा। जो आदमी आत्म-दृष्टि के व्यामोह से मुक्त हो गया है, जिस के मन में विचिकित्सा नहीं रही है और जो शीलव्रत परामाश से भी मुक्त है, लेकिन जब तक उस ने अगले दो संयोजन कामुकता और प्रतिघ (विरोधी भाव) का नाश नहीं कर दिया है, तब तक उस के पीछे लौटने के अवसर एकदम शून्य नहीं हुए हैं। जब वह इन दो बाधाओं पर भी विजय प्राप्त कर लेता है, वह दूसरे अवस्था को प्राप्त होता है और सकृदागामी कहलाता है, एक बार पीछे हट सकने वाला या एक जन्म और ग्रहण करने वाला। वह तब आर्य अष्टांगिक मार्ग पर गमन करेगा, लेकिन फिर

पीछे मुड़ने का खतरा रहता ही है। केवल जब समस्त कामुकता और परिघ का मूलोच्छेद हो जाता है तब उस के मन में अल्प-तम मात्रा में भी 'आत्मा' का प्रेम उत्पन्न नहीं होता। उस के मन में किसी भी दूसरे प्राणी के प्रति विरोधी-भाव भी नहीं पैदा होता। तब वह अनागामी हो जाता है। अब उस की संभावना नहीं है कि उस का पतन होगा। लेकिन अभी भी उस से गल्तियां हो सकती हैं। अभी भी उसे शेष बाधाओं पर विजय प्राप्त करना शेष है। उसे इस लोक की या परलोक की सभी भौतिक अभौतिक वासनाओं के प्रति तमाम आकर्षण समाप्त करना शेष है। उसे मान, उद्धतपन और अविद्या शेष तीनों संयोजनों पर विजय प्राप्त करनी है। जब वह इन सभी बंधनों से मुक्त हो जाता है और आर्य अष्टांगिक मार्ग पर मुक्त होकर विचर सकता है, तब उस के सामने सभी चीजें अपने अपने यथार्थ सम्बधों को लिये उपस्थित होती हैं। उस के मन में कोई बुरी बातों की इच्छा पैदा नहीं होती। अच्छी ही अच्छी इच्छायें पैदा होती हैं। मार्ग पूरा चलने पर वह आदर्श तक पहुंच जाता है। वह सम्पूर्ण-योग्य बन जाता है, एक अरहत। वह निर्वाण के आनंद को साक्षात्कार करता है। जिसने दिव्य-प्रकाश प्राप्त कर लिया है, अब वह दुनिया की ओर घृणा की दृष्टि से नहीं देखता हैं। अब वह यही सोचता है कि यह सुख की भूमि है, जहाँ बोधि के प्रकाश ने अपना घर बना रखा है।

जो साधक उस बुद्धत्व-प्राप्ति के लिये प्रयत्नशील है, जिसका साकार रूप आर्य अष्टांगिक मार्ग है उन के लिये कुछ प्रमुख बौद्ध चिन्तकों ने आर्य अष्टांगिक मार्ग को दस भूमियों में विस्तार रूप से वर्णित किया है। जब किसी ने इरादे और आकांक्षायें बोधिचित्त की उप्पत्ति से परिशुद्ध हो गई हों और वे करुणा और दान के रूप में प्रकट हो रही हों तो उसे आनन्दित होना ही होगा। यही पहली अवस्था है – प्रमुदिता। नवदीक्षित की प्रसन्नता की यह द्योतक है। यह दान का क्षेत्र है, जहाँ सभी की सरलता से पहुंच है। प्रथम अवस्था में जो अन्तर्दृष्टि प्राप्त हुई है वह शुभ-कर्मों में लगे रहकर विकसित की जानी चाहिये थी, ताकि चित्त पर कोई भी धब्बा न दिखाई दे और वह अहंकार से सर्वथा मुक्त हो जाय। जहाँ अहंकार में विश्वास बना रहेगा वहाँ कोई भी आदमी अपनी अपेक्षा अपने पड़ौसी को कभी तरजीह नहीं दे सकता। कोई आदमी जब वह विशेष रूप से उल्लसित हो ऐसा कर सकता है, किन्तु स्थायी रूप से नहीं। शून्यता की स्वीकृति और विश्व की जिस व्याख्या की ओर यह हमें ले जाती है, साधक की प्रवृत्ति को परिशुद्ध करती है, और साधक की करुणामय प्रवृत्ति को उदार बनाती है। यह दूसरी स्थिति है विमला, विशेष रूप से मल रहित। सदाचार के अभ्यास के साथ चिन्तन भी जुड़ा रहना चाहिये। इस लिये बोधिसत्व को चाहिये कि वह अपने आप को नाना प्रकार की भावनाओं में लगाये रखे, जिन से तृष्णा का, क्रोध का, घृणा का और गलतियों का क्षय हो जाय और श्रद्धा, करुणा, शुभेच्छा, उदारता और उपेक्षा को लेकर उस

की स्थिति सुदृढ़ हो जाय। यह तीसरी स्थिति है, प्रभाकरी, चमकने वाली। इस अवस्था में बुद्धत्व की खोज में लगा हुआ साधक सहनशीलता और सबर से लगातार 'चमकता' है। 'मैं, मेरे' विचार का पूर्ण परित्याग करने के लिये, बोधिसत्व को चाहिये कि वह मानसिक तथा नैतिक सुकर्मों के द्वारा अपने आप को परिपक्व बना लें और अपने आप को बोधिपक्षीय धर्मों से सम्बन्धित कार्यक्रमों में व्यस्त रखें। चौथी अर्चिश्मती अत्यन्त प्रभापूर्ण अवस्था है। यह वीर्य का कार्यक्षेत्र है। उसी के होने से ही सुकर्मों का होना सम्भव होता है। अब बुरे विचारों की ओर से निश्चित होकर बोधिसत्व अपने आपको अध्ययन और ध्यान-मनन में लगाते हैं ताकि वे चारों आर्य सत्यों को पूरी गम्भीरता के साथ हृदयङ्गम कर सकें। यह पांचवीं या सुदुर्जया स्थिति है, जिस में ध्यान और समाधि की ही प्रमुखता रहती है। दान, शील, सहनशीलता प्रभृति गुणों का अभ्यास आदमी को योग्यता प्रदान करता है, प्रतीत्यसमुत्पाद को गम्भीरतापूर्वक हृदयङ्गम करने की और सभी चीजों की शून्यता को समझ लेने की। ये ही वे सिद्धान्त हैं जो सभी चीजों को सार्थक ठहराते हैं। अब साधक का चित्त उन तत्वों की ओर झुकता है, जो बुद्धत्व का एकदम सार हैं। इसी लिये यह अवस्था अधिमुखी अवस्था कहलाती है। प्रज्ञा इसका क्षेत्र है। यद्यपि बोधिसत्व प्रतीत्यसमुत्पाद, नैरात्म्य और शून्यता की भूमि पर विचरता है तो भी यह नहीं कहा जा सकता कि वह पूर्ण रूप से 'वासना' की सीमाओं को सांध गया है। वह इस अर्थ में वासना-मुक्त नहीं है कि कोई वासना उस के माध्यम से क्रियाशील होगी, लेकिन वह अभी भी पूर्णरूप से 'वासना' के क्षेत्र से इस लिये बाहर नहीं कही जा सकते, क्योंकि अभी उन के मन में बुद्धत्व प्राप्त करने की बलवती इच्छा है और समस्त मानव जाति को मुक्त करने का इरादा अभी भी पूर्ण नहीं हुआ। इस लिये अब वह अपने आप को उस ज्ञान की प्राप्ति में लगाता है, जिस ज्ञान को प्राप्त करके वे ऐसे उपायों और साधनों को जाना सकेंगे जो व्यापक मुक्ति को सिद्ध करने के लिये उपयुक्त हैं। यह सातवीं स्थिति है और दूरङ्गमा कहलाती है। पहली छह स्थितियां इस के अन्तर्गत आ जाती हैं और विशेष रूप से छठी स्थिति के फल को समाविष्ट कर लेती हैं साथ ही बोधिसत्व के चित्त के पूर्ण विकास को और व्यक्ति-विशेष की ओर से सम्पूर्ण उपेक्षा को और व्यक्तित्व के विनाश सम्बन्धी विचार के लगातार अनुस्मरण को अर्थात् निरोध समापत्ति को। जब बोधिसत्व ने अपने आप को प्रत्येक विशेष वस्तु की बलवती इच्छा से मुक्त कर लिया है और वह वस्तु-विशेष की चिन्ता करता ही नहीं, उस समय वह अचला स्थिति में होता है। यह आठवीं अवस्था है। उस का अपना लक्षण है कि इस में उस गुण की प्रमुखता रहती है, जो अनुत्पत्तिक धर्म चक्षु कहलाती है, जिस के अनुसार किसी भी वस्तु की उत्पत्ति किसी भी खास उद्देश के लिये नहीं हुई है। बोधिसत्व के जितने भी कर्म होते हैं, भले ही वे शारीरिक हों, वाणी के हों या मानसिक हों

सभी करुणा समन्वित होते हैं और लोगों को लाभ पहुंचाने वाले होते हैं, लेकिन उन में कहीं भी स्वार्थ का लव–लेश नहीं रहता क्योंकि द्वैत का विचार, मेरे तेरे का विचार पहले ही लुप्त हो गया रहता है। यद्यपि समस्त स्वार्थमय चिन्तन समाप्त हो गया है, लेकिन बोधिसत्व केवल अपने लिये शान्तियामिनी मुक्ति से संतुष्ट होने वाले नहीं। वे दूसरों को धर्म शिक्षण के प्रति अत्यन्त उत्साही हो जाते हैं, ताकि उन के पुण्य परिपक्व हो जायें। ये नौवीं स्थिति है, साधुमति, कल्याण स्थिति। अब बोधिसत्व धर्ममय होने के लिये अधिकृत हो गये हैं। श्रेष्ठ धर्म की श्रेष्ठ वर्षा से लाभान्वित होने के कारण, वे स्वयं धर्म–मेघ बन जाते हैं। और इस अन्तिम दसवीं स्थिति में बोधिसत्व स्वयं तथागत हो जाते हैं। लोगों पर ऐसी अमृत वर्षा करते रहते हैं, जो वासना की धूल को शान्त करती है और पुण्यों की उपज को बढ़ावा देती है।

बहुधा बौद्ध धर्म पर यह आरोप लगाया जाता है कि ज्ञान–प्राप्ती के मार्ग से सम्पूर्णता प्राप्ति को जीवन का परमोद्देश बनाकर यह मानसिक शक्तियों के विकास पर अधिक बल देता है और उसी मात्रा में शील–पालन की उपेक्षा करता है। यदि किसी ने विशुद्धि मार्ग पर अग्रसर होने वाले पथिक के लिये जिन शर्तों की पूर्ति आवश्यक है उन का विचार किया हो, तो वह इस मत से सहमत होगा कि इस आरोप से बढ़कर निराधार आरोप कोई दूसरा हो नहीं सकता। इस तरह का आरोप वेदान्त पर लग सकता है, किन्तु सद्धर्म पर नहीं। वेदान्त में जो पहुंचा हुआ महापुरुष होता है वह सभी नैतिक नियमों से ऊपर होता है। आनन्द गिरी ने शङ्कराचार्य के बारे में लिखा है कि उस ने ताड़ी पी थी और एक मरे हुए राजा की देह में प्रविष्ट हुआ था ताकि वह काम–क्रीड़ा के बारे में जानकारी प्राप्त कर सके। भगवत् पुराण में यह कहा गया है कि कृष्ण सदृश महापुरुषों द्वारा जो अयोग्य आचरण किये जाते हैं, उन्हें दोष नहीं मानना चाहिये क्योंकि वे सभी नियमों से परे हैं। स्यमंतक मणि के बारे में जिस की विद्यमानता सारे राज्य के लिये कल्याण–प्रद सिद्ध होती है, चर्चा करते हुए विष्णुपुराण में स्वयं कृष्ण कहते हैं – ' इस मणि को रखने का अधिकारी वही पुरुष हो सकता है, जो लगातार संयत जीवन व्यतीत करता हो, यदि कोई अपवित्र आदमी इसे धारण करेगा तो यह उस की मृत्यु का कारण हो जायेगी। मैं जिस की सोलह हजार पत्नियाँ हैं, इस मणि को ग्रहण करने का अधिकारी नहीं। इस की संभावना नहीं कि सत्यभामा उन शर्तों को स्वीकार करेगी जिन से उसे इस मणि को धारण करने की अधिकारिणी माना जा सके। और जहाँ तक बलभद्र की बात हैं, वह तो शराब पीकर बेहोश पड़ा रहता है और इन्द्रिय–सुखों में इतना अधिक उलझा रहता है, कि उस के बारे में तो कुछ सोचा ही नहीं जा सकता।' दूसरी ओर, बौद्ध धर्म में नैतिक नियमों का पालन पहली शर्त है जिस की पूर्ति होनी ही चाहिये ताकि मन में सत्य के लिये जगह बन सके। बोधिचर्यावतार का कहना

हैं, 'पारमिताओं में दान पारमिता से बढ़कर है शील पारमिता, शील पारमिता से बढ़कर है क्षान्ति पारमिता, क्षान्ति पारमिता से बढ़कर है वीर्य पारमिता, वीर्य पारमिता से बढकर प्रज्ञा पारमिता तथा प्रज्ञा पारमिता से बढ़कर है ध्यान पारमिता। आदमी चाहे तो ऊपर की पारमिता के पक्ष में निचली पारमिता की उपेक्षा कर सकता है। लेकिन शील के पक्ष में ऊपर की पारमिता की भी उपेक्षा की जा सकती है, क्योंकि शील ही सभी शुक्ल कर्मों का आधार है। सुहृल्लेखा में नागार्जुन ने कहा है, 'शील उसी तरह सर्वोपरि आधार है, जैसे पृथ्वी सभी चलाचल वस्तुओं की।' स्वयं भगवान बुद्ध ने राजा प्रसेनजित को कहा, "पढ़ाई–लिखाई अधिक न भी हो, आचरण पहली चीज है। उस प्रतिसेन ने इस एक ही गाथा के भाव को इतना हृदयङ्गम कर लिया है कि वह इस के सारे व्यक्तित्व में समा गई है, इस का शरीर, इस की वाणी, इस का मन इस के काबू में है। यदि किसी आदमी ने बहुत कुछ जान लिया है, यदि उस का ज्ञान उस के जीवन में उतर कर उसे विनाश के गर्त में जाने से संरक्षण प्रदान नहीं करता, तो उस ज्ञान का प्रयोजन ही क्या है? किसी सत्य को भलि प्रकार समझना और समझ कर उसे गम्भीरतापूर्वक जीवन में उतारना, यही मुक्ति का मार्ग है।" अन्तिम विश्लेषण करने पर उस आदमी का मन जिस ने बोधि प्राप्त कर ली है, अर्थात् बोधि चित्त दो विशिष्ट गुणों को अंगीकार कर लेता है। उन दोनों गुणों का लक्ष्य एक ही है, लेकिन दोनों गुणों का धनी होने से बोधिसत्व पर दोहरा कर्तव्य लद जाता है। ये दोनों गुण हैं प्रज्ञापारमिता और शील-पारमिता। शेष सभी पारमिताओं का ये ही दो पारमितायें स्रोत हैं। आरम्भ में एक पारमिता दूसरी की पूरक ठहरती है, लेकिन अन्त में दोनों एक हो जाती हैं। इन का एकत्व स्थापित होने तक शील–साधना ज्ञान–प्राप्ति का एक साधन है, किन्तु मात्र शील–साधना ही ज्ञान–प्राप्ति नहीं है। उच्चस्तरीय जीवन बिताने के लिये मानसिक प्रकाश अनिवार्य है, लेकिन यदि पहले दान, शील और सहनशीलता का अभ्यास न किया जाय तो इस की किसी को प्राप्ति नहीं हो सकती। पुद्गल नैरात्म्य व्यक्ति का आत्म–तत्व से शून्य होना तथा अनालम्बन आत्म के सम्बन्ध में जो व्यामोह है उसे तब तक नष्ट नहीं कर सकते जब तक दानशीलता का अभ्यास उसे अपने सरोसामान, अपने शरीर और अपने प्राणों के त्याग तक की शिक्षा नहीं देता। सच्चा परोपकारवाद, सच्ची उदारता और यथार्थ दान–शीलता में बुद्धि की सदाशयता और ज्ञान–मूलक समझदारी समाविष्ट रहती है। ज्ञान–सम्भार या बुद्धि की प्राप्ति के लिये यह आवश्यक है कि करुणा, भक्ति और शील का भी पूर्व संचय (पुण्य संभार) रहा हो।

▣

दसवाँ परिच्छेद

विश्व की पहेली

"कर्मजं लोक वैचित्रियं।" विश्व की विचित्रता कर्मों के अनुसार है। प्रत्येक वस्तु निरन्तर परिवर्तन शील है । "न च निरोधोस्ति, न च भावोस्ति सर्वदा; अजातं अनिरुद्धं च तस्माद् सर्वं इदं जगत्" न च निरोध है, न अस्तित्व है सर्वदा, इस लिये यह सब कुछ अजात अनुत्पन्न है और अनिरुद्ध है । "विचारेण नास्ति किंचिद् अहेतुत:" विचार करने पर यही तै होता है कि बिना हेतु के, बिना कारण के कुछ भी अस्तित्व में नहीं आता। "स्वतंत्रम् न विद्यते.....एवं प्रपञ्चं सर्वं यदवचं सोपि चावचः" किसी भी वस्तु का अस्तित्व निरपेक्ष नहीं है । यह सारा प्रपञ्च (संसार) ऐसा ही है । जो बोला गया है, वह भी निरपेक्ष अस्तित्व की दृष्टि से कहें तो नहीं बोला गया है।

हर परिवर्तन के मूल में अनेक हेतु रहते हैं। इन हेतुओं में से जो मुख्य हेतु होता है, उसे कारण की संज्ञा दे दी जाती है। और उस परिवर्तन को उसी का परिणाम समझ लिया जाता है। ठीक ठीक कहें तो हर परिवर्तन का कारण वह हेतु–समूह होता है जिस के कारण वह परिवर्तन अस्तित्व में आया रहता है। जिस कारण के कारण कार्य्य सम्भव होता है उसे उस कार्य का हेतु कह देते हैं । जब एक बीज एक पौदा बन जाता है, तो उस बीज में जो कुछ ऐसा होता है कि वह पौदे की शक्ल में परिवर्तित हो जाता है, कारण कहलाता है, और मिट्टी, पानी, प्रकाश, हवा, आकाश प्रभृति जितनी भी ऐसी कारण–सामग्री है जिस से वह पौदा अस्तित्व में आता है, वह उस का हेतु कहलाती है । इसी प्रकार चेतनता, विज्ञान–बीज व्यक्ति के विकास, नामरूप के अस्तित्व में आने का कारण है और माता पिता का सामीप्य, मां का गर्भ, मातापिता से प्राप्त संभावनायें, शारीरिक हलचल, तथा हालात मिलकर वह हेतु हेतु हैं जो किसी खास व्यक्तित्व को अस्तित्व में लाते हैं।

अपने से कोई परिवर्तन नहीं होता । हर परिवर्तन किसी दूसरे परिवर्तन के कारण से सम्बन्धित रहता है और एक तीसरे परिवर्तन से कार्य के रूप में। संसार में प्राय: सभी परिवर्तन प्राय: परस्पर एक दूसरे पर आश्रित हैं। सर्वत्र अनुभव में आनेवाली यह कार्य-श्रृङ्खला सद्धर्म में एक पारिभाषिक शब्द से उल्लिखित की

जाती है । वह शब्द है प्रतीत्यसमुत्पाद । इस प्रतीत्यसमुत्पाद की, सभी चीजें प्रतीत्यसमुत्पन्न हैं इस बात की सही समझ का बौद्ध धर्म में बड़ा महत्व है। "प्रतीत्यसमुत्पादं पश्यन्ति ते धर्मं पश्यन्ति, यो धर्मं पश्यति, सो बुद्धं पश्यति ।" जो प्रतीत्यसमुत्पाद को समझता है, वह बुद्ध और बुद्धत्व का दर्शन करता है।

यदि हर परिवर्तन का एक सुनिश्चित कारण होता है, और उस कारण का भी कारण होता है, तो क्या कोई अन्तिम, अपरिवर्तनशील प्रथम कारण नहीं होता होगा ? संयुक्त निकाय में भगवान बुद्ध ने समाधान उपस्थित किया है — "यदि कोई आदमी इस विशाल भारत प्रायः द्वीप का सभी घास, सभी झाडियां, सभी टहनियां और सभी पत्ते एक स्थान पर एकत्र कर लें और फिर उन सभी की बहुत सी ढेरियां बना लें और कहे, 'यह मेरी मां हैं, यह मेरी मां की मां है।' इसी प्रकार लगातार वह आदमी भले ही इस विशाल भारत प्रायः द्वीप का सभी घास, सभी झाड़ियां, सभी टहनियां और सभी पत्ते एकत्र कर ले, इस आदमी की मां की मां का कहीं अन्त ही न होगा । इस का क्या कारण है? यह संसार बिना सिरे के हैं, न इस का आदि है और न अन्त है ।" फिर उसी निकाय में एक दूसरे स्थल पर बुद्ध का प्रवचन है, 'एक फल न तो अपने से ही उत्पन्न होता है न कोई दूसरा उसे उत्पन्न करता है । यह कारण के होने से उत्पन्न होता है और कारण के न होने से इस की उत्पत्ति रुक जाती है । कोई भी कारण पहला कारण नहीं हो सकता। अनुभव में भी हमें कोई मूल आरम्भ नही दिखाई देता । हमें ऐसा कोई कारण नहीं दिखाई देता, जिस से कोई दूसरे कार्य उत्पन्न हुए हैं और जो स्वयं किसी न किसी कारण से उत्पन्न न हुआ हो । जब तक कहीं कोई परिवर्तन नहीं होता, कारण का प्रश्न ही उपस्थित नहीं होता । और वह कारण भी एक दूसरा परिवर्तन ही होता है । इस लिये प्रथम कारण की बात करने का कोई अर्थ ही नहीं है। विज्ञान को प्रथम कारणों का कहीं कुछ भी पता नहीं । कोई भी ऐसी बुद्धिवादी खोज नहीं है, जिस से उन प्रथम–कारणों के अस्तित्व का अनुमान लगाया जा सके । जहाँ जहाँ हम देखते हैं कि किसी प्रथम–कारण की स्थापना की जाती है, हम देखते हैं कि हम अपने ज्ञान की एक अस्थाई सीमा पर जाकर रुक गये हैं, या हमें अपने इन्द्रिय जनित ज्ञान के क्षेत्र से बाहर किसी चीज का अनुमान लगा रहे हैं। वहाँ पहुंच कर न तो ज्ञान का ही कोई अर्थ है और न अनुमान का । अपने 'ईसाई–दर्शन' ग्रन्थ में प्रो. ए. रिशी ने लिखा है, 'वह पहला कारण जिस से मूलतः चीजों के आरम्भ का आरम्भ हुआ होगा, उसे बिना कारण का परिवर्तन होना चाहिये । हमें हर परिवर्तन को किसी न किसी ऐसे कारण का कार्य मानकर चलना है, जिस का अपना कोई न कोई कारण अवश्य होगा, इस लिये हम किसी भी ऐसे कार्य की कल्पना ही नहीं कर सकते, जिस का कोई भी कारण न हो । इसलिये प्रतीत्यसमुत्पाद का न आरम्भ है, न अवसान, यह एक नदी के बहाव की तरह

बिना बाधा के बहता रहता है, यहाँ कोई स्वामी या परमेश्वर नहीं, यहाँ किसी भी प्रकार का कोई जीववाद भी नहीं।

तो क्या कहीं कोई ईश्वर नहीं है? अनाथपिण्डक के साथ चर्चा करते हुए भगवान बुद्ध ने उस सेठ को इस प्रकार समझाया – "यदि यह सृष्टि किसी ईश्वर द्वारा बनाई गई होती, तो इस में कुछ परिवर्तन नहीं होता, कुछ भी वितुष्ट नहीं होता, दुःख-दर्द नाम की कोई चीज न होती। सही या गलत भी कुछ न होता। क्यों कि पवित्र-अपवित्र सभी चीजों का तो मूल वही होता। यदि दुःख और सुख, प्रेम और घृणा जो सभी प्राणियों के चित्त में विद्यमान रहती है, ईश्वर की कृति होती, तो उस ईश्वर में भी दुःख-सुख का निवास होना चाहिये, प्रेम और घृणा का घर होना चाहिये। और यदि उस ईश्वर में ये सब कुछ हैं, तो उसे परिपूर्ण कैसे मान सकते है? यदि ईश्वर सभी प्राणियों का निर्माता है और सभी प्राणियों को अपने निर्माता के सामने सिर झुकाये खड़े रहना है, तो शील के अभ्यास का क्या प्रयोजन? पुण्य-पाप का करना समान होगा, क्योंकि सभी कर्म तो ईश्वर की ही कृति हैं और अपने कर्ता की दृष्टि में वे समान ही होंगे। यदि यह माना जाय कि दुःख-सुख का कारण कुछ और भी होगा, जिस का कारण ईश्वर नहीं होगा। तब जो कुछ भी विद्यमान है उस सभी को बिना कारण के उत्पन्न क्यों न मान लिया जाय? फिर यदि ईश्वर को कर्ता माना जाय तो प्रश्न उठता है कि क्या उस की यह रचना सोद्देश्य है या निरुद्देश्य? यदि माना जाय कि सोद्देश्य तो ईश्वर को परिपूर्ण नहीं माना जा सकता, क्यों कि सोद्देश्य का मतलब है कि किसी इच्छा की पूर्ति। यदि यह कहा जाय कि उस की यह रचना बिना किसी उद्देश्य के है तो या तो वह पागल होगा या किसी दूध पीते बच्चे के समान होगा। फिर यदि ईश्वर निर्माता है तो लोग उस के सम्मुख यूं ही विनम्र भाव से स्थित क्यों नहीं रहते? वे मजबूरी की हालत में ही क्यों उस से मिन्नतें प्रार्थनाये क्यों करते हैं? और लोग एक ही ईश्वर की पूजा न कर अनेक देवताओं को क्यों पूजते हैं? इस लिये ईश्वर का जो विचार है वह तर्क की कसौटी पर खरा नहीं उतरता और इस प्रकार की सभी विरोधी स्थापनाओं का परदा फाश किया जाना चाहिये।" (अश्वघोष का बुद्ध चरित) "यदि ईश्वरवादियों के कथनानुसार ईश्वर इतना महान है कि वह आदमी की बुद्धि का विषय नहीं बन सकता, तो इस का मतलब हुआ कि उस के गुण भी हमारे चिन्तन की सीमा के भीतर आबद्ध नहीं हो सकते। इस का मतलब हुआ कि न तो हम उसे जाने सकते हैं, और न हम उस पर कर्ता होने का गुण ही आरोपित कर सकते हैं।" (बोधिचर्यावतार) जब किसी भी वस्तु के बारे में यह कह दिया जाय कि यह असाधारण हैं, तो उस के बारे में किसी भी बुद्धिवादी तरीके से कुछ भी विचार नहीं किया जा सकता।

प्रश्न पूछा जाता है कि जिस विश्व में हम रहते हैं कि क्या वह एक नियम-बद्ध विश्व नहीं है? जहाँ सभी कुछ नियमानुसार होता है? जहाँ नियम हैं, तो

क्या वहाँ एक नियन्ता का भी होना सुसंगत नहीं है ? कांटों को तीखा किसने किया ? मृगों और पक्षियों की भिन्न भिन्न जातियों के आकारों-प्रकारों रंगों और आदतों को किस ने जन्म दिया ? उत्तर है – स्वभाव ! ये विभेद किसी की भी इच्छा के अनुसार नहीं हुए हैं । यदि कहीं कोई इच्छा नहीं है, कहीं कोई इरादा नहीं है, तो न कहीं कोई इच्छुक हो सकता है, न संयोजक (बुद्धचरित)। विश्व में जितनी व्यवस्था दिखाई देती है, उसका बड़ा ही सरल कारण है और वह इतना ही है कि यदि कहीं कोई व्याघात आकर उपस्थित नहीं होता, तो वस्तुएँ प्रायः जैसी की तैसी ही रहती है । कुछ एक जैसी वस्तुओं की हम ढेरियां लगा देते हैं, और उन की चर्चा करते हैं । इसी प्रकार हमें कुछ घटनाओं का क्रमशः घटित होना प्रतीत होता है । हम उस की भी चर्चा करते हैं । उसे ही हम विश्व की क्रम-बद्धता कहते हैं । इस का मतलब यही हैं कि संसार जैसे का तैसा है । उस में कुछ खास हेर-फेर नहीं हुआ है । कोई प्राकृतिक नियम ऐसा नहीं है जो किसी प्राकृतिक नियम-बद्धता का कारण हो । हर प्राकृतिक नियम केवल उन अवस्थाओं या परिस्थितियों का वर्णन करता है, जिन पर परिवर्तन-विशेष निर्भर करता है । एक वस्तु जमीन पर गिरती है, वह पृथ्वी के आकर्षण के नियम के कारण नहीं गिरती, बल्कि पृथ्वी के आकर्षण का नियम केवल इस घटना का नपा-तुला वर्णन है कि जब किसी भी वस्तु को आकाश में बेसहारा छोड़ दिया जाता है, तो वह पृथ्वी पर गिर पड़ती है । कोई भी प्राकृतिक नियम यह आज्ञा नहीं देता कि ऐसा घटित होगा, वह केवल यही वर्णित करता है कि ऐसा होता है । एक सामाजिक नियम में एक आदेश होता है, एक आज्ञा होती है, एक कर्तव्य-पालन होता है, और एक प्राकृतिक नियम तो केवल बार बार घटने वाली घटनाओं का वर्णन मात्र होता हैं । प्रो. कार्ल पारसन के कथनानुसार 'वैज्ञानिक अर्थों में नियम मानवी मस्तिष्क की उपज के अतिरिक्त और कुछ नहीं । आदमी को पृथक कर दिया जाय तो इस का कुछ भी अर्थ नहीं रह जाता । यदि यह कहने की बजय कि प्रकृति मनुष्य को नियम प्रदान करती है, यह कहा जाय कि मनुष्य प्रकृति को नियम प्रदान करता है, तो ऐसा कहना अधिक सार्थक होगा ।' जब जितनी भी ज्ञात घटनायें होती हैं उन में कोई नियम-विशेष सही उतरता है, तो हम यह मान लेते हैं कि इस के बाद जो बातें घटित होंगी, उन के सम्बन्ध में भी यह नियम इसी प्रकार कारगर सिद्ध होगा । जितनी अधिक से अधिक संख्याओं में नियम विशेष सही सिद्ध हुआ है, उतनी ही अधिक से अधिक संख्याओं में सही सिद्ध होने की उस नियम-विशेष की संभावना और बढ़ जाती है । हम मानने लगते हैं कि वह नियम-विशेष सर्वदा और सर्वत्र सही उतरता है । यदि बीते हुए पाँच हजार वर्षों (1826214) दिनों में सूर्य बिना नागा उदित होता रहा है, तो कल भी उस के उदय होने की संभावना एक के मुकाबले में 1826214 गुनी है कि सूर्य उदय होगा । इस का मतलब है कि कल

सूर्य का उदय होना लगभग निश्चित है । इस प्रकार प्रत्येक प्राकृतिक नियम हमारे विचारों, हमारी आशाओं को एक सीमा तक सीमित करता है । जितनी अधिक नजदीकी से हमारे विचारों और इंद्रियों द्वारा अनुभव की जाने वाली घटनाओं का तालमेल बैठता है, उतनी ही अधिक मात्रा में हमारे चिन्तन की संभावनाओं को सीमित रहना पड़ता है और उतनी ही अधिक मात्रा में हमारी यह प्रवृत्ति होती है कि हम यह विश्वास करें कि जैसे कोई घटना–विशेष पहले घटित हुई थी, ठीक उसी प्रकार वह पुनः घटित होगी । हम उतना ही कह सकते हैं कि प्रकृति के नियम सर्वदा और सर्वत्र लगभग समान रूप से लागू होते हैं, लेकिन सिद्धान्त रूप से ऐसा नहीं कह सकते । यह व्यावहारिक निश्चिन्तता ही है जो आदमी प्राप्त कर सकता है और जीवन का मार्ग–दर्शन करने के लिये यह पर्य्याप्त है । सैद्धान्तिक निश्चिन्तता का मतलब होगा, परिपूर्ण और अनन्त ज्ञान, लेकिन यह स्पष्ट ही है कि यह आदमी की शक्ति से बाहर की बात है । भले ही समय को लेकर हों, या स्थान को लेकर हों, अनुभव की सीमा से बहुत दूर आगे जाने के प्रयास सर्वाधिक अनिश्चितता से युक्त होंगे, क्योंकि परिणामों की सम्भावना शून्य के बराबर है ।

ईश्वर के अस्तित्व के पक्ष में यह जो तथाकथित उद्देश्यवादी तर्क है कभी कभी एक दूसरा रूप ग्रहण कर लेता है । किसी संस्थान के अंगों के बीच के देखे गये व्यवहार को लेकर कहा जाता है कि उद्देश्य–विशेष की पूर्ति के लिये उन अंगों की रचना हुई है । कहा जाता कि जिस तरह घड़ी घण्टों को देखने के लिये बनाई गई है, उसी प्रकार आँख देखने के लिये बनाई गई है । लेकिन इस निष्कर्ष पर पहुंचने के लिये जिस उपमा का उपयोग किया जाता है, वह अनुभव के क्षेत्र की सीमा से बहुत अधिक बाहर की बात है और इस लिये उस का परिणाम 'अनन्त खतरों' से युक्त होगा, अर्थात उस में संभावना का कोई अंश भी समन्वित नहीं रहेगा । और जैसा कान्त ने निर्देश किया है, 'उद्देश्य का विचार प्राकृतिक ज्ञान का सिद्धान्त नहीं है, लेकिन वह एक तरीका मात्र है, जिस के अनुसार मानव–मस्तिष्क कुछ निर्णयों पर पहुंचता है । जैसे आदमी प्रकृति को कानून प्रदान करता है, इसलिये आदमी सोचता है कि प्रकृति का जो संगठनात्मक पक्ष है वह उस सकारणता के समान है जिस कि नजर किसी उद्देश पर रहती है ।' लेकिन यह कोई ठीक सफाई देना नहीं हुआ, जैसे कोई वैज्ञानिक नियम किसी प्राकृतिक घटना की व्याख्या नहीं कर सकता । जैसे वैज्ञानिक अर्थ में जो 'कानून' है वह मानव के दिमाग की उपज है और आदमी को बाद कर दिया जाय तो उस का कोई अस्तित्व ही नहीं, इसी प्रकार जिसे हम उद्देश्य कहते हैं, वह भी एक दृष्टि-कोण ही है जो प्राणियों के बारे में मनुष्य के चिन्तन का परिणाम मात्र है । वह कोई ऐसा सिद्धान्त नहीं है कि जिस के अनुसार उन की रचना हुई हो । यथार्थ बात तो यह है कि उद्देश्यवाद को प्रकृति के ही वर्णन से कुछ लेना–देना है और वह

जीवित–प्राणियों की भीतरी या बाह्य उत्पत्ति को लेकर कोई भी सारवान् तर्क नहीं दे सकता । यदि हम पूछें की क्या भौतिक शरीर ज्यामिति का बीजगणित अपने ऊपर लागू कर सकता है, कि क्या भौतिक शरीर अपने ही संयोग के सहयोगी कला–शिल्पी हो सकते हैं या नहीं, हम इतना ही कह सकते हैं कि परिस्थिति–विशेष में वे व्यवहार–विशेष से काम लेते हैं । इस से आगे हम कुछ नहीं जानते । यदि हम शरीरों की निकटतम प्रकृति में प्रविष्ट हो सकें, तो संभव है कि हम यह स्पष्ट रूप से देख सके कि प्राकृतिक जीव और किसी झुकाव की ओर नहीं झुक सकते सिवाय उस के जिसकी ओर वे वर्तमान में झुके हुए हैं । क्योंकि इस संसार के पदार्थों का वर्णन हम किसी सुविधाजनक ढंग से कर सकते हैं, तो क्या उस का यह अभिप्राय होना चाहिये कि हम यह मान ले कि यह किसी ईश्वर की रचना है । क्योंकि किसी के शरीर पर एक जख्म है तो क्या यह अनिवार्य है कि हम यह मानें कि अमुक व्यक्ति–विशेष ने यह जख्म किया है? विश्व कि स्थिति से हम केवल इसी निष्कर्ष पर पहुंच सकते है कि हर वस्तु या हर क्रिया का कोई न कोई कारण अवश्य होना चाहिये । लेकिन हमारे चिन्तन की यह मजबूरी कि हम यह मानें ही कि संसार का कोई न कोई कारण होना चाहिये, हमें यह भी मानने को कहती है कि उस कारण का भी एक कारण और पुन: उस कारण का भी एक कारण होना चाहिये, यह सिलसिला लगातार चलते रहना चाहिये और यह प्रथम कारण तक पहुंचना चाहिये – यह विचार की सीमा का उल्लंघन कर जाना है ।

यदि ऊपर का दिव्यलोक ईश्वर की महानता की स्थापना में सहायक सिद्ध नहीं होता, तो हमारे अपने भीतर जो नैतिक नियम हैं, वे ही हमें इस बात को मानने का सुझाव नहीं देते कि ये नियम ईश्वर की रचना हैं और वह ही मरणान्तर आदमियों को उन के अच्छे कर्मों का अच्छा बदला और बुरे कर्मों का बुरा दण्ड देगा ! निस्सन्देह मनुष्यमात्र के लिये यह बड़े महत्व की बात है कि वह नीति के नियमों का पालन करे, लेकिन इस से न किसी ईश्वर को कुछ लेना–देना है और न किसी मरणान्तर जीवन को । जो आदमी सोचता है कि यदि यह जीवन सदाकालिक नहीं है, तो यह दो कौड़ी का है, वह उस बच्चे की तरह है जो यह सोचता है कि बड़े होने पर जो जीवन जिया जाता है, उस में खेलना ही खेलना होना चाहिये, काम–काज कुछ भी नहीं होना चाहिये । और उस आदमी को भी नैतिक नहीं कहा जा सकता जो पशु का जीवन ही व्यतीत करना चाहता है, यदि उसे यह विश्वास न हो कि मरने के अनन्तर उसके शुभ–कर्मों का उसे इनाम मिलेगा । फिर सदाचार का ईश्वर–विश्वास से सम्बन्ध ही क्या हो सकता है ? नैतिकता का आधार काल्पनिक जगत् नहीं है, दी गई धमकियां नहीं है, काल्पनिक वाइदे नहीं है, बल्कि जीवन की यथार्थतायें । इस का जन्म उन मानवी सम्बन्धों से हुआ है, जिन में जीना और कार्य करना व्यक्ति कि

मजबूरी है। इस की जड़े व्यक्ति की उन शारीरिक तथा मानसिक आवश्यकताओं में है जिन की पूर्ति दूसरे लोग कर सकते हैं और उन सहानुभूतियों में जो उन आवश्यकताओं की पूर्ति कर सकती हैं। स्पष्ट तौर पर जब हम वस्तु–स्थिति का दर्शन करते हैं तो उस से यह सिद्ध होता है कि आदमी प्रधान रूप से एक भावुक और चिन्तक प्राणी है। उसे जो अनुभूति होती है और वह जो कुछ करने की सोचता है, पहले इन्द्रिय जन्म और इन्द्रिय प्रेरिता होता रहा है। लेकिन धीरे धीरे अब वह उस के ज्ञान का विषय हो गया और उसे उस के विकसित तार्किक दृष्टिकोण से मार्ग–दर्शन प्राप्त होता है। और यह भी बहुत कुछ स्पष्ट ही है कि जिसे हम जीवन में अत्यन्त मूल्यवान वस्तु मानते हैं उस की भावुक चेतना का मूलाधार उन सहज स्नेह की भावनाओं में हैं जो समान जाति के प्राणियों को आपस में बांधे रखती हैं। अपनी स्वभावज उत्पत्ति में भी यह स्नेहज सम्बन्ध प्रमुख तौर पर और आवश्यक तौर पर परहितवादी ही हैं। कोई कितना भी लोभी हो, कितना भी कामुक हो, भले ही गर्म खून में खिलवाड़ करने वाला हो और धडकती हुई चमड़ी की चीरफाड़ करने वाला हो, शेर जैसा पशुत्व आदमी और पशु दोनों में हो सकता है, वैसी हालत में भी शेरनी अपने बच्चों की जो चिन्ता करती है, वह उन के हित की ही बात सोचती है। वह अपनी ही भूख की चिन्ता नहीं करती। पति पत्नी की जो जोड़ी एक दूसरे का ख्याल करती है वह भी केवल कामुकता की ही अभिव्यक्ति नहीं होती। इस में कुछ भी शक नहीं कि वे परस्पर के स्नेह की अभिव्यक्ति करते हैं, वे सहानुभूतिपूर्वक एक दूसरे की आवश्यकता की पूर्ति करते हैं। उन के इस सम्बन्ध का आधार यही है कि यद्यपि वे दोनों दो पृथक पृथक व्यक्तित्व हैं, तो भी उन दोनों के जीवन परस्पर एक दूसरे के पूरक हैं।

आदमी को सच्चा होना चाहिये, न्यायी होना चाहिये, दयालु होना चाहिये, अपने पड़ोसियों के प्रति सौजन्य परायण होना चाहिये और कि उसे अशुभ–कर्म करना छोड़ शुभ–कर्मी होना चाहिये — ये आदेश हैं, जिन्हें इस लिये मान्य नहीं ठहराया गया है कि ये ईश्वरीय आदेश हैं, बल्कि यदि इन को अस्वीकारा जाय तो मानव समाज का कुछ भी ठौर–ठिकाना नहीं रहेगा। स्थविर नागसेन ने राजा मिलिन्द को कहा ही था,

"पाप अपने कमीने पन के कारण शीघ्र अभाव को प्राप्त हो जाता है। जब कि पुण्य अपने सौष्ठव के कारण दीर्घजीवी होता है। अपने कमीनेपन के कारण पाप–कर्म कर्ता को ही प्रभावित करता है, लेकिन अपने सौष्ठव के कारण शुभ–कर्म विश्वभर में पसर जाता है। जो भी धार्मिक जीवन व्यतीत करता है, वह एक माधुर्य और आनन्द से ओत–प्रोत हो जाता है और उस के हृदय में जो आनन्द घर किये है वह उस के सौजन्य को अधिकाधिक बढ़ाता जाता है।" यदि हम श्री. डब्ल्यु. के. क्लिफफोर्ड की भाषा का प्रयोग करें तो हम कह सकते हैं कि शुभ–कर्म

जीवित को और अधिक जीवित बनाता है। शील में एक अपनी आत्म-प्रचार की सामर्थ्य होती है । दुश्शीलता और पाप-कर्म परस्पर एक दूसरे को नष्ट करते रहते हैं। आदमी जितना ही अधिक अन्धा स्वार्थी होगा, उतना ही अधिक वह नष्ट होगा । आवश्यक अन्तर्विरोध के कारण जो स्वार्थीपन दूसरों को नष्ट करने के लिये होता है, वही आत्म-विनाश का जनक होता है। जीवन को अधिक सार्थक, अधिक सुखी बनाने जा कर आत्मार्थ उसे और भी घटिया बना देता है, दरिद्र बना देता है और अन्त में नष्ट कर डालता है । सहानुभूति और प्रेम उन्हीं प्राकृतिक सम्बन्धों पर आश्रित हैं जिन के कारण मानवी नसल की ही बढ़ोत्तरी होती है, यह होती है अपने से व्यतिरिक्त दूसरों के प्रति विश्वासपूर्वक अपने कर्तव्यों का पालन करने से।

न तो यह इतिहास द्वारा समर्थित है और न मानसशास्त्र द्वारा, तो भी यह मान्यता है कि आदमी किसी दूसरे की परवाह नहीं करता, वह हमेशा केवल अपने व्यक्तिगत स्वार्थ की ही चिन्ता करता है । जहाँ तक हम इतिहास-पूर्व समय को झांक कर देख सकते हैं, ऐसा लगता है कि आदमी समूह-प्रिय ही रहा है । यदि उस में सहानुभूती की भावना न होती, एकात्मता की भावना न होती, और एक सीमा तक निस्स्वार्थपन न होता, जो गुण किसी भी समाज में होते ही हैं, तो वह मानव टिका ही न रह सकता था। आदमी का आदमीपन इसी में है कि वह अपने साथियों के सामाजिक जीवन का सहभागी होता है । यदि कोई मानव एकदम अकेला ही रहे तो उसका मानवपन टिका ही नहीं रह सकता । अरस्तु ने कहा है कि जो आदमी सर्वथा अकेला रह सकता है वह या तो कोई 'देवता' होगा या पशु होगा । क्योंकि समाज में एकात्मता है, इसलिये व्यक्ति का सम्बन्ध समाज के भूतकाल से भी अनायास जुड़ जाता है । सामाजिक गठ-बंधन और प्रयास के फल स्वरूप ही आदमी पृथ्वी का मालिक बन सका है और उसे अपना दास बना सका है। सामाजिक जीवन के माध्यम से ही आदमी इस योग्य हो गया है कि अपने आप को मुकुट-मणि समझने लगा है। आपसी सहयोग से ही आदमी ने भौतिक शक्तियों को उस का सामान ढ़ोने पर मजबूर किया है, उस ने हवा ओं को मजबूर किया है कि वे उस की संदेशवाहक बन जायें और बिजली को उस ने अपनी गाड़ियों में जोता है। आदमी की जितनी भी सफलतायें हैं वे सब उस की सामाजिक एकात्मकता का ही परिणाम हैं। हो सकता है कि यह सत्य हो कि आदमी की हर सफलता सर्व प्रथम किसी न किसी एक व्यक्ति के मस्तिष्क में ही कौंधी और तब अनेक मस्तिष्कों की समान-सम्पत्ति बन गई । तो भी यह सही है कि जो अकेला चिन्तक है, उसे भी वह विचार-विशेष कभी न सूझा होता, यदि वह अतीत की जो महान् परम्परा चली आ रही है उस का पहले से उत्तराधिकारी न हो गया होता और उस की भी अपने सामाजिक हालात के माध्यम से सोचने-विचारने की तैयारी न होती। यह बात इस मान्यता का खण्डन करती है जो बहुत से दिमागों में घर किये

बैठी है कि आदमी स्वाभाविक तौर पर स्वार्थी है और दिखाने मात्र के लिये परोपकारी है। समाज के एक सदस्य के तौर पर ही और नैतिक नियमों का पालन करके ही आदमी दीर्घकाल तक सर्वोत्तम सुख की उपलब्धि प्राप्त कर सकता है।

यदि वह कोई मुजरिम नहीं है तो या तो वह कोई राक्षस होगा, या जंगली मनुष्य होगा जो यह कहने का साहस करेगा कि यदि कोई ईश्वर है ही नहीं, तो फिर किसी मनुष्य के लिये यह ठीक ही है कि यदि उसे कानून का डर नहीं तो वह जितनी चाहे उतनी हत्यायें कर सकता है, चोरी कर सकता है और मन चाहे बलात्कार कर सकता है। दूसरी और बात यह है कि ईश्वर के नैतिक चरित्र और उस के उपासकों का नैतिक चरित्र बेमेल है। ईश्वर के नैतिक चरित्र की कल्पना आदमी ने अपने नैतिक विचारों के अनुसार की है। जैसे जैसे आदमी नीतिमत्ता के ऊंचे ऊंचे स्तरों की ओर आगे बढ़ता है, तो उस की ईश्वर की पहले की कल्पना अब उस के लिये संतोषजनक नहीं ठहरती। इस लिये उस की आलोचना होने लगती है और उस के नये विचारों के अनुकूल उस के ईश्वर सम्बन्धी विचारों का नवीकरण किया जाता है। आदमी का धार्मिक मन अपना और ईश्वर का सम्बन्ध केवल एक ही तरह प्रकट कर सकता है और यह कि ईश्वर पर अपनी ही कल्पना के गुण आरोपित करे। आदमी देखता है कि उस का अपना आप, उस की शक्ल, उस की मानवी शक्ल, उस के तर्क और उस का प्रेम, उस के पास जो कुछ भी सर्व श्रेष्ठ है या उसे उस की जानकारी है, उसे परलोक पर या कहीं सुदूर आकाश पर आरोपित कर दे। धार्मिक चिन्तन का इतिहास पर्य्याप्त मात्रा में इसे प्रमाणित करता है। इस लिये यह कहने की बजाय कि ईश्वर ने आदमी की रचना की, हमें यह कहना चाहिये कि आदमी ने ही ईश्वर और साथ साथ उस के नैतिक गुणों की भी कल्पना की है। किसी ने कहा है कि शेर यदि अपने ईश्वर की कल्पना करेंगे तो उनका ईश्वर शेर के जैसा ही होगा, घोड़े कल्पना करेंगे तो वह घोड़ों जैसा ही होगा और बैल कल्पना करेंगे तो वह ठीक बैल जैसा ही होगा।

जो लोग भूतकाल में हो चुके हैं, जब उन में से अधिकांश लोग किसी न किसी प्रकार के ईश्वर में विश्वास करते रहे हैं, तो हम ही ईश्वर के अस्तित्व से कैसे इनकार कर सकते हैं? जब हम सरसरी तौर पर भी इस तर्क का परीक्षण करते हैं तो भी इस का खोखलापन स्पष्ट हो जाता हैं। थोड़ी देर के लिये इस बात को मान लिया जाय कि जन–सामान्य ईश्वर में विश्वास करते हैं, तो क्या इस से ईश्वर का अस्तित्व किसी भी तरह सिद्ध या प्रमाणित होता हैं? नहीं, क्योंकि ऐसी बहुत सी बातें हैं जिन्हें अब हम अपनी गलतियां स्वीकार करते हैं, भूत–काल के लोग उन्हीं बातों में विश्वास रखते थे। उदाहरण के लिये ऐसा ही एक विश्वास यह भी रहा हैं कि सूर्य पृथ्वी के गिर्द घूमता है। विज्ञान का अज्ञान और गलत सलत तर्क ही भूत काल में ईश्वर–विश्वास का सब से बड़ा आधार रहे है।

वैज्ञानिक ज्ञान में उन्नति होने से और लोगों की पादरियों के धर्म के बारे में सही समझ हो जाने से अब ईश्वर-विश्वास उतना सामान्य नहीं रहा है। फिर भले ही ईश्वर-विश्वास बहु प्रचलित हो, लेकिन एक ही ईश्वर सभी लोगों का ईश्वर नहीं है। थोड़ी देर के लिये अल्प-संख्यक यहुदियों के ईश्वर ने ही कितनी शक्लें बदली हैं, उन्हीं का विचार करें। सैमुअल का ईश्वर शिशुओं की हत्या का हुक्म देता है, लेकिन धार्मिक गीतों का जो परमेश्वर है उस की कोमल करुणा सर्वत्र व्याप्त है। धर्माध्यक्षों का परमात्मा हमेशा पश्चात्ताप ही कर रहा है, लेकिन धर्मदूतों का परमात्मा जैसा कल था, वैसा आज और वैसा ही कल भी रहेगा। उस में किसी भी प्रकार का कोई भी परिवर्तन दिखाई न देगा। पुराने-प्रवचन का परमात्मा दिन की ठण्डक में बाग में चहलकदमी करता है, लेकिन नये प्रवचन का परमात्मा सर्वथा अदृश्य है। लैविटिकस का ईश्वर बलिवेदी के सामान और बरतनों के बारे में अतिसावधान है, लेकिन एकट्स का ईश्वर मन्दिर में रहता ही नहीं। एक्सोडस का ईश्वर उन्हीं पर दया करता है, जो उसे प्रेम करते हैं। लेकिन जीसस क्राइस्ट का ईश्वर उन के प्रति भी दयालु है, जो उस के प्रति कृतज्ञ नहीं और जो दुष्ट लोग होते हैं। इतना ही नहीं कि एक ही स्थान के लोगों के लिये भिन्न भिन्न अवसरों पर भिन्न भिन्न प्रकार का 'ईश्वर' रहा हो, यह किन्हीं दो लोगों के लिये भी एक ही नहीं रहा है। इस में कुछ भी आश्चर्य की बात नहीं कि वैसले ने कभी व्हाइटफील्ड को कहा था, 'तुम्हारा ईश्वर मेरा शैतान है।' आदमी का ईश्वर का विचार उस के अपने स्वभाव पर निर्भर करता है, उस की अपनी ट्रेनिंग पर निर्भर करता है, उस के अपने हालात पर निर्भर करता है। अधिक से अधिक सर्वसामान्य के विश्वास वाले तर्क से यही सिद्ध हो सकता है कि ईश्वर की पूजा करने जाकर आदमी की यही आकांक्षा रहती है कि उस का 'अज्ञेय' उस की ऊंची से ऊंची कल्पना हो। यह बात इस से भी साफ तौर पर सिद्ध होती है कि आदमी जितना ही अज्ञ होगा, उस का परमात्मा कुछ उतना ही अधिक निश्चित ठोस प्रकार का होगा। उस के लिये उस का ईश्वर कुछ कुछ उस के अपने जैसा ही होगा। अन्तर ही होगा कि वह उस की अपेक्षा बहुत अधिक शक्तिशाली होगा। दूसरी ओर जो आदमी जितना ही संस्कृत होगा और जिस की जानकारी जितनी ही बढ़ी चढ़ी होगी उस की ईश्वर की कल्पना उतनी ही कम स्थिर होगी। जंगली मनुष्य को उस का ईश्वर पत्थरों पर्वतों में दिखाई देता है। दार्शनिक का कहना है कि जो ईश्वर बुद्धि की पहुंच में आ गया, वह ईश्वर हो ही नहीं सकता। रहस्यवादी का कथन है कि 'आदमी जो कुछ भी सोच सकता है, या कह सकता है, उस सभी के निषेध का नाम ईश्वर है।'

कहीं कहीं ईश्वर का अस्तित्व प्रमाणित करने के लिये मानसिक आधार का आश्रय भी लिया गया है। इस में कुछ सन्देह नहीं कि मानस-शास्त्र हमें तथा-

कथित धार्मिक अनुभवों के विषय में कुछ जानकारी दे सकता है। ये अनुभव आदमी की आकांक्षाओं को लेकर, आदमी की भावनाओं को लेकर और संतोष की चेतना को भी लेकर होते हैं । इन अनुभवों की वास्तविकता पर प्रश्नचिन्ह लगाने की आवश्यकता नहीं, ये यथार्थ मानसिक घटनायें हो सकते हैं । लेकिन हम यह नहीं स्वीकार करते कि यह अनुभव किसी ऐसे अस्तित्व का होना प्रमाणित करते हैं, जिस के साथ कहा जाता है कि इन साधकों का सम्बन्ध जुड़ जाता है । इस प्रकार के अस्तित्व का होना प्रत्यक्ष–सिद्ध नहीं है, वह केवल अनुमान–सिद्ध है और जिसके बारे में साधक या साधिका स्वयं संशयालु हो सकते हैं । धार्मिक अनुभवों की मानसिकता असन्दिग्ध तौर पर इस बात को प्रमाणित करती है कि इस के साथ जो बौधिक मान्यता जुड़ी हुई है, उस के अनुसार इन अनुभवों में कैसे परिवर्तन आता है । सिद्धान्तिक विश्वास इस प्रकार के धार्मिक अनुभव का कारण भी हो सकता है और परिणाम भी हो सकता है । लेकिन इस से उसे पृथक नहीं किया जा सकता । एक आदमी की जो दिमागी मान्यतायें या विश्व के बारे में उस का जो दृष्टिकोण होता है, उसी पर उस श्रीमान या श्रीमति के धार्मिक अनुभव आधारित रहते हैं। यदि आदमी ईश्वर के अस्तित्व में विश्वास नहीं करता, तो उसे ऐसे किसी भी अस्तित्व के साथ सम्बन्ध स्थापित होने के धार्मिक अनुभव नहीं होंगे । डा. हेस्टिंग रशडल का कहना है कि 'किसी ऐसे धर्म की कल्पना करना जो केवल मानसशास्त्र पर निर्भर करता हो, एक भ्रम मात्र है ।' मानसशास्त्र यह निर्णय नहीं कर सकता कि कोई मत–विशेष सत्य है या मिथ्या है ? किसी मत के सत्य या मिथ्या होने का परीक्षण एक मात्र तर्क के द्वारा ही हो सकता है, और तर्क कितना भी विस्तृत हो उस से ईश्वर का अस्तित्व कभी भी सिद्ध नहीं हो सकता ।

ईश्वर के अस्तित्व के सम्बन्ध में दिये जाने वाले तथाकथित ऐतिहासिक प्रमाण पूर्ण रूप से भ्रामक हैं । वे करिश्मों के अस्तित्व को स्थापित करने का प्रयास करते हैं । यदि करिश्मे से अभिप्राय है कोई ऐसी घटना जिस का कोई भी कारण न हो, तो इतिहास ऐसी घटना के अस्तित्व को स्वीकार नहीं कर सकता । क्योंकि जितनी भी ऐतिहासिक गवाही है उस का आधार कार्य से कारण का अनुमान लगाना है, और हम कार्य से कारण का अनुमान तभी लगा सकते हैं जब हम यह मान कर चलें कि हम प्रकृति के अन्तर्गत ही पूरे के पूरे कारण को खोज निकाल सकते हैं । यदि करिश्मों का होना संभव होता तो हम यह कभी नहीं कह सकते थे कि अमुक घटना अमुक कारण से घटी । इस लिये कोई ऐतिहासिक साक्षी इस बात की स्थापना नहीं कर सकती कि जो घटना घटी वह वास्तव में करिश्मा थी । लेकिन यदि करिश्मे से अभिप्राय है कोई बड़ा या महान् कार्य, तो किसी आदमी की किन्हीं आश्चर्यकर कार्य कर सकने की सामर्थ्य से यह सिद्ध नहीं होता कि वह आदमी सत्य जानता है या सत्य बात कह रहा है । करिश्मों के इलावा जो ऐतिहासिक प्रमाण हैं वे केवल इतना ही बता सकते हैं कि किसी ने कुछ कहा, लेकिन वे उस के

कथन को सत्य प्रमाणित नहीं कर सकते । उस के कथन का सत्य दूसरी ही तरह परीक्षणीय होता है । इस लिये न तो इतिहास ही ईश्वर के अस्तित्व का अकाट्य प्रमाण दे सकता है और न विज्ञान ही । अपनी 'धार्मिक अनुभवों के भिन्न भिन्न प्रकार' नाम की पुस्तक में प्रो. डब्ल्यू. जेम्ज़ ने लिखा है, "ईश्वर के पक्ष में जितने भी तर्क दिये जाते हैं वे कुछ बातों और हमारी कुछ भावनाओं की खिचड़ी मात्र हैं। उन से कुछ भी तो स्पष्ट रूप से प्रमाणित नहीं होता । वे केवल हमारी पहले से चली आई मान्यताओं का समर्थन करते हैं. . . .यदि कोई तुम्हारा ईश्वर है जिस में तुम पहले से विश्वास करते हो तो ये तुम्हारा समर्थन कर देंगे । और अगर आप अनीश्वरवादी हैं तो ये आपको ईश्वरवादी नहीं बना सकते ।" जॉन हेनरी में न्यूमैन का कथन बिल्कुल ठीक है कि हमारी तर्कशून्य भीतरी अन्धश्रद्धा के अतिरिक्त हमारे पास ईश्वर के अस्तित्व का कोई प्रमाण नहीं ।

पिछले सालों में कुछ चिन्तकों ने उपयोगिता वाद के दृष्टिकोण से ईश्वरवाद को बढ़ावा देने का प्रयास किया है । उपयोगितावाद के अनुसार किसी विचार या मत का सत्य होना इस बात पर निर्भर नहीं करता कि उस का किसी वास्तविकता से मेल खाता है या नहीं ? बल्कि केवल इसी बात पर कि उसे सत्य प्रमाणित किया जा सकता है या नहीं, अर्थात् व्यावहारिक जीवन में यह उपयोगी है या नहीं ? सत्यों को दो वर्गों में बांटा जा सकता है । इन दोनों में से एक प्रकार के सत्यों का जिन्हें प्रत्यक्ष सत्य कहा जा सकता है रोज ही परीक्षण होता रहता है । आदमी जहाँ रहता है, वहाँ आसपास की गलियों के बारे में उस के जो विचार हैं उन की जांच रोज ही होती रहती है, क्यों कि इन्हीं विचारों के सहारे उसे प्रतिदिन जहाँ जहाँ आना जाना होता है, वह आता जाता है । दूसरी ओर उस के मस्तिष्क में बहुत से ऐसे दूसरे विचार भरे पड़े हैं जिन की वह इतनी आसानी से जांच नहीं कर सकता, शायद जांच कर ही नहीं सकता, और शायद उन की जांच में उस की किसी भी प्रकार की रुचि ही न हो। उदाहरण के लिये वह इस सत्य को कि उत्तरी ध्रुव बर्फ से ढका पड़ा है, स्वीकार कर लेता है, लेकिन वह इस की किसी भी तरह जांच नहीं कर सकता । वह इस सत्य की स्वीकृति तक बीच की बहुत सी मान्यताओं के माध्यम से पहुंचता है, जिन का व्यवहारिक जीवन में कुछ विशेष उपयोग नहीं । इस प्रकार के सत्यों को परोक्ष सत्य कह सकते हैं । यह आवश्यक नहीं कि परोक्ष सत्य जीवन में सर्वथा निरुपयोगी हों, वे बहुधा हमें कुछ करने की प्रेरणा भी दे सकते हैं, लेकिन व्यवहारिक जीवन में प्रत्यक्ष सत्य ही विशेष प्रेरक सिद्ध होते हैं । जिन बीच की स्थितियों को पार कर हम परोक्ष सत्यों तक पहुंचते हैं, उन में बहुत सी बेकार की बातें हो सकती हैं, जैसे भूत, प्रेत, आकाशीय जीव, लेकिन उन बातों से भी मानवता को कोई विशेष हानि नहीं पहुंचती । इस का कारण स्पष्ट ही है । आदमी के पास प्रत्यक्ष सत्यों का एक बड़ा भण्डार भरा पड़ा है, जो कि व्यवहारिक जीवन के लिये पर्याप्त हैं । और जो मिथ्या मान्यताएं हैं वे अपने

परोक्षपन के कारण ही व्यवहारिक जीवन पर कुछ भी विशेष प्रभाव नहीं डालतीं। इसी प्रकार बहुत से लोग हैं जिन का यह विश्वास है कि बादलों के अन्दर कहीं कोई ईश्वर रहता है जो हम में से हर किसी के भाग्य का संचालन करता है और उसे श्रेष्ठतम परिणामों तक पहुंचाता है । लेकिन साथ ही इन सभी लोगों का सामान्य व्यवहार ऐसा होता है जैसे उन की कोई ऐसी मान्यता नहीं होती । इस से प्रकट होता है कि यह तथाकथित "सत्य" उन के जीवन को किसी भी तरह प्रभावित नहीं करता, बल्कि वे उन प्रत्यक्ष सत्यों का ही सहारा लेते रहते हैं जो प्रत्यक्ष सत्य इन परोक्ष–सत्यों के सर्वथ का विरोधी सत्य हैं । जिस ईश्वर के बारे में कहा जाता है कि वह सभी का कल्याण कर्ता है, उस का मिथ्यात्व इसी बात से सिद्ध हो जाता है जब हम बीमार पड़ने पर डाक्टरों की दवाइयां न कर उस की प्रार्थनाओं के चक्कर में पड़ जाते हैं और घोर विपत्तियों में जा पड़ते हैं । जब तक हम उन परोक्ष–सत्यों का जिन का हम ने परीक्षण नहीं किया है, कोई व्यवहारिक उपयोग नहीं करते, वे हमें कुछ हानि नहीं पहुंचाते । वे हमारे व्यवहारिक जीवन को तभी प्रभावित करते हैं जब उन की अन्तिम कड़ी के तौर पर कुछ परीक्षित सत्य विद्यमान रहते हैं । इस लिये प्रमाण का उपयोगी–वादी ढंग सभी प्रकार के सत्यों के लिये प्रमाण–भूत नहीं माना जा सकता। वह केवल प्रत्यक्ष सत्यों के लिये ही उपयोगी है।

ईश्वर विश्वास, आत्मा में विश्वास, स्वर्ग में विश्वास, नरक में विश्वास, पूर्वनियति में विश्वास बहुत करके ये सभी परोक्ष मान्यतायें हैं । लेकिन कभी कभी उन के साथ बीच की जोड़ियां जुड़ी रहती हैं जो उन का जीवन से सीधा सम्बन्ध जोड़ देती हैं । इस प्रकार जिन जोड़ों का सीधा परीक्षण हो सकता है उन की उपस्थिति से धार्मिक मान्यताओं के उपयोगी परिणाम भी हो सकते हैं । लेकिन यदि हम अपना व्यवहारिक जीवन इन्हीं मान्यताओं का अनुगामी बनायें तो बहुत नुकसान भी पहुंच सकता है । उदाहरण के लिये 'कर्म' के ही सिद्धान्त को लें । यह प्रतिकूल परिस्थिति में और मुसीबत के समय आदमी को बहुत सांत्वना पहुंचा सकता है । लेकिन जब इस का सीधे सीधे जीवन में प्रवेश हो जाता है तो इस के कैसे भयानक परिणाम होते हैं, उन से हम भारतवासी परिचित हैं, खास तौर पर जब कहीं महामारी फूट पड़ती है। जब तक आदमी की मान्यतायें उस के जीवन को केवल परोक्षरूप से प्रभावित करती हैं, उन के परिणामों को हम सत्यार्थ प्राप्त करने के लिये माप–दण्ड नहीं मान सकते, क्यों कि जिन परिणामों को वे उत्पन्न करती हैं, वे बीच की कड़ियों के अनसार परिवर्तित होते हैं । इस लिये जब हम अपनी किसी भी मान्यता को सत्य का माप दण्ड मान कर चलना चाहें, यह जानना आवश्यक है कि परिणाम प्रत्यक्ष है या परोक्ष हैं ? क्योंकि परोक्ष सत्यों में इस बात की बड़ी संभावना है कि बीच की कड़ियों में बड़ा बड़ा परिवर्तन हो जाय । परोक्ष परिणाम प्रमाण का स्थान नहीं ले सकते । धार्मिक

मान्यताओं के प्रयोगवादी समर्थक इस विभेद पर पर्याप्त जोर नहीं डालते। ईश्वर–विश्वास ने, कर्मों के विश्वास ने, नरक–स्वर्ग के विश्वास ने भले–बुरे दोनों प्रकार के परिणाम उत्पन्न किये हैं। तो ये निश्चयात्मक रूप से क्या सिद्ध करते हैं ? तो क्या ईश्वर में जो विश्वास किया जाता है, वह सही है या गलत ? हम परोक्ष परिणामों को महत्व नहीं दे सकते जब ईश्वर–विश्वास ने लोगों को सान्त्वना प्रदान की है, उत्साह बढ़ाया है, क्योंकि इस प्रकार के अनुभव व्यक्ति के अपने व्यक्तिगत चैतसिक अनुभव हैं। लेकिन जब हम यह जानने की कोशिश करते हैं कि इस विश्वास का जीवन पर क्या सीधा परिणाम पड़ा है या पड़ता है तो हमें लगता है कि यह आदमी को अन्धे भाग्यवाद की ओर ले जाता है।

यदि यह सृष्टि ईश्वर की रचना नहीं है, तो यह सारा विश्व जो निरपेक्ष है, जो कारण–कार्य से परे है, जो अज्ञेय ब्रह्म है उसी का साकार रूप नहीं हो सकता? तथागत ने अनाथ पिण्डिक से कहा था, 'यदि निरपेक्ष का मतलब है कुछ ऐसी चीज़, जिस का किसी भी ज्ञात चीज़ से सम्बध नहीं, तो ऐसी चीज़ का अस्तित्व सिद्ध नहीं होता। किसी भी तर्क द्वारा नहीं होता। हम यह कैसे जान सकते हैं कि जिस चीज का किसी से सम्बन्ध नहीं उस का अस्तित्व है ही? जहाँ तक हम समझते हैं सारा विश्व सम्बन्धों की एक पद्धति है। हम किसी भी ऐसी चीज को नहीं जानते जो निरपेक्ष हो या हो सकती हो। जो चीज किसी पर निर्भर नहीं, किसी से सम्बन्धित नहीं, कोई भी ऐसी चीजें कैसे उत्पन्न कर सकती है जो परस्पर सम्बन्धित हों और जिन का अस्तित्व एक दूसरे पर आश्रित हो। फिर प्रश्न उठता है कि वह ब्रह्म एक है या अनेक हैं? यदि वह केवल एक है तो वह ऐसी अनेक चीजों का जो नाना कारणों से उत्पन्न होती हैं, कारण कैसे हो सकता है? यदि अनेक चीजों की तरह ब्रह्म भी अनेक हों, तो उन चीजों का परस्पर का सम्बन्ध कैसे निश्चित होगा? यदि ब्रह्म सर्व व्यापक है और सारे आकाश में व्याप्त है, तो भी यह उन चीजों का निर्माता नहीं हो सकता, क्योंकि निर्माण करने को कुछ है ही नहीं। फिर यदि ब्रह्म निर्गुण हैं, तो उस से जितनी भी चीजें उत्पन्न होंगी वे भी सब निर्गुण होंगी। लेकिन वास्तव में जितनी वस्तुएँ हैं प्रत्येक वस्तु के कुछ न कुछ गुण होते ही हैं। इस निर्गुण ब्रह्म उन का कारण नहीं हो सकता। यदि ब्रह्म को गुणों से विनिर्मुक्त माना जाय, तो यह ऐसी सगुण चीजों को लगातार कैसे उत्पन्न करता रह सकता है? और अपने आप को भी उन्हीं के माध्यम से उत्पन्न करता है? फिर यदि ब्रह्म अपरिवर्तनशील है तो उस के द्वारा निर्मित सभी वस्तुएँ भी अपरिवर्तनशील होनी चाहिये, क्योंकि कारण के अनुसार ही कार्य होगा। लेकिन संसार में सभी वस्तुओं में परिवर्तन होता है और उन का ह्रास होता है। तो फिर ब्रह्म ही कैसे अपरिवर्तनशील रह सकता है? फिर यदि ब्रह्म जो सर्वत्र व्यापक है वही सभी चीजों का कारण है, तो फिर हमें मुक्ति की चाह ही क्यों होनी चाहिये? क्योंकि हम स्वयं ब्रह्ममय हैं। हमें सभी

दु:खों और चिन्ताओं को जो ब्रह्म की कृति हैं, सबर के साथ सहन करना चाहिये। (अश्वघोष का बुद्ध चरित्र)

हिन्दु-दर्शन के छओं कट्टर दर्शन – सांख्य, योग, न्याय, वैशेषिक, मीमांसा और वेदान्त मानते हैं कि कोई न कोई निरपेक्ष सत्ता है, कुछ शाश्वत तत्व, उसी पर यह विश्व भर का ढांचा तना हुआ है। सांख्य और योग की स्थापना है कि प्रकृति या प्रधान बाह्य संसार में स्थायी सत्ता है, और ये जो अनेक पुरुष (आत्मायें) हैं, ये आन्तरिक जगत की शाश्वत सत्तायें हैं। जीवन के प्रपंच के कारण-कार्य की जंजीर में जुड़े होने की बात में सांख्य और सद्धर्म एकमत हैं। लेकिन सद्धर्म यह स्वीकार नहीं करता कि कोई ब्रह्म हैं और अनन्त पुरुष या आत्मायें हैं। धर्म सभी प्रकार के जीवात्मवाद से मुक्त है। फिर सांख्य का कहना है कि जब पुरुष प्रकृति के बन्धनों से मुक्त होते हैं तभी विकास होता है। धर्म संसार को अनादि मानता है और सभी चीजों के प्रवाह को लेकर किसी उद्देश्य-विशेष को मान्य नहीं ठहराता है। न्याय और वैशेषिक का मत है कि भौतिक परमाणु, आकाश आदि सात पदार्थ बाह्य जगत के नित्य पदार्थ हैं और आन्तरिक जगत् में आत्मायें नित्य पदार्थ हैं। वेदान्त का कहना है कि बाह्य-आन्तरिक जगत में एक ही निरपेक्ष ब्रह्म की सत्ता है जो सर्वत्र व्याप्त है, जिस का अस्तित्व बुद्धिगम्य नहीं है। उसे मात्र शब्द-प्रमाण के आधार पर स्वीकार करना पड़ता है। बौद्ध सभी प्रकार के ब्रह्मों के अस्तित्व को अस्वीकार करता है, किन्तु वह बाह्य-भीतरी जगत के अस्तित्व को अस्वीकार नहीं करता। उस के लिये वह जो जगत है यह स्थितियों का समूह है। इन सब स्थितियों की स्वतन्त्र सत्ता नहीं है। ये परस्पर एक दूसरे पर आश्रित हैं। जब सामूहिक रूप से हम संसार का चिन्तन करते हैं, तभी हमारा चिन्तन कुछ सार्थक होता है। यह जो एक गलत मान्यता है कि हर धारणा का एक वास्तविक प्रतिपक्ष होना ही चाहिये, इसी मान्यता में से ब्रह्म की उत्पत्ति हुई है और यह भी कि जो ऊंची और व्यापक धारणायें हैं, वे उन धारणाओं की पूर्वज हैं जो उतनी ऊंची और व्यापक नहीं है और कि जो ऊंची और व्यापक धारणायें हैं वे उन धारणाओं को जो उतनी ऊंची और व्यापक नहीं हैं अपने में समेटें हैं। यदि हम धारणाओं के निर्माण का जो क्रम है उस की ओर ध्यान दें तो इस मान्यता का बेहुदापन स्पष्ट हो जाता है। हमारे अनुभव में वेदना या अनुभूति से बढ़कर मौलिक कुछ नहीं है। जिसे हम यथार्थता कहते हैं वह वेदनाओं से संबंधित है। हम जानते हैं कि वेदनायें उत्पन्न होती हैं, लेकिन हम इस बारे में कुछ भी नहीं सोच सकते कि उन की उत्पत्ति कैसे होती है, क्योंकि हर विचार के अन्तर्गत और उस की पूर्वावस्था के तौर पर वेदनायें रहती हैं। वेदना का प्राथमिक आधार भेद की जानकारी है। उस के बिना किसी भी वेदना का उत्पन्न होना ही असम्भव है। विभेद के बीच में ऐक्य की पहचान ही सारे असम्बद्ध चिन्तन का मूलाधार है। हम पदार्थों को परस्पर विभिन्न पाते हैं और उनमें जो समानतायें हैं उन की ओर ध्यान देकर उन में एकत्व की

स्थापना करते हैं। इस प्रकार वस्तुएँ समूहों में बंट जाती हैं। वस्तुओं के जिन गुणों में समानता होती है, वे गुण ही उन वस्तुओं के समूहीकरण का आधार बनते हैं। जब उन पदार्थों की संख्या बहुत बड़ी होती है, जिनका वर्गीकरण अपेक्षित रहता है और उन में कुछ पदार्थ ऐसे होते हैं, जिन में दूसरों की अपेक्षा समान-गुण अधिक रहते हैं, तो उन का कई समूहों में विभाजन किया जाता है। पहले तो वे सभी पदार्थ जिन में अधिक से अधिक गुण समानरूप से विद्यमान हैं, एक जगह एकत्र किये जाते हैं, उन का अपना एक वर्ग हो जाता हे। भिन्न भिन्न वर्गों का फिर एक दूसरा ऊंचा समूहीकरण किया जाता है। उस में सदृश गुणों की संख्या अधिक नहीं रहती। वर्ग-विशेष से सम्बन्धित गुणों के समूह को ही धारणा कहते हैं। इस प्रकार हमारी वेदनाओं का जो ताना-बाना है और वही यथार्थता है, उसी से हमारी वैचारिक संज्ञाओं का निर्माण होता है। जो विभक्त करनेवाले गुण हैं उन की उपेक्षा करने से और समान-गुणों के आदर्श मेल-मिलाप से, हम निम्नस्तरीय सभी का समावेश न कर सकनेवाली धारणाओं में से, उच्चस्तरीय, सभी का समावेश कर सकने वाली धारणाओं की निर्मिति करते हैं। यह जो सूक्ष्मीकरण का सिलसिला है, इस में हमारे हाथ ऐसा कुछ भी नहीं लगता कि जिन धारणाओं को हमने परित्यक्त कर दिया है, उन के गुण उन धारणाओं में अवशिष्ट हैं, जिन्हें हम ने त्याज्य नहीं माना है। यह जो उच्चस्तरीय धारणाओं को निम्नस्तरीय धारणाओं का जनक मानने की गलती की जाती है, और उस के साथ साथ यह कल्पना कि अस्तित्व, सारतत्व, भौतिक-तत्व, शक्ति, चैतन्यता जैसे उच्चस्तरीय धारणायें जो उन सर्व सामान्य-गुणों का प्रतिनिधित्व करती हैं, वे परिवर्तनशील पदार्थों की अपरिवर्तनशील उपादान सामग्री हैं, इस मान्यता से भी अज्ञात के बारे में बहुत सी आध्यात्मिक उड़ान ली गई है। व्यक्तिगत चैतसिक कारणों से आदमी का झुकाव जो ज्ञात है, उसकी अपेक्षा 'अज्ञात' को अधिक महत्व देने का रहता है। यथार्थ से जब उसे व्यवहारिक असंतोष होता है, तो वह इन्द्रियों द्वारा अनुभव न किये जा सकने वाले अध्यात्मिक लोक में संतोष खोजने लगता है। जो कुछ भी इन्द्रियों द्वारा अनुभूत जगत है, अध्यात्म-वादी शब्दों का खिलवाड़ करके एक पराभौतिक लोक की कल्पना करता है। और जब वह देखता है कि उसका काल्पनिक लोक उस की पकड़ में नहीं आता, तो आध्यामिक साधक अपनी बेकार आशाओं की पूर्ति के लिये अविश्वसनीय साधनों का उपयोग करता है।

भिन्न भिन्न समयों में और भिन्न भिन्न ऋतुओं में जिसे परा प्राकृतिक या लोकोत्तर अवस्था कहते हैं उस तक पहुंचने के नाना उपाय उपयोग में लाये गये हैं। इन उपायों को मोटे तौर पर तीन विभागों में विभक्त किया जा सकता है। एक वर्ग के अन्तर्गत वे सब प्रयास हैं, जिन में कोई पराप्राकृतिक अस्तित्व, भले ही वह स्वयं ईश्वर हो, उस का पैगम्बर हो, या कोई देव या देवता हो, वह उपकृत व्यक्ति के

सामने प्रकट होता है और जो कुछ उसे उस तक पहुंचाना होता है वह शब्द–विशेष के माध्यम से अथवा टेढ़े मेढ़े इशारों के माध्यम से उस पर प्रकट कर देता है। दूसरे वर्ग में वे प्रयास आते हैं जिन में एक व्यक्ति पर कोई परा प्राकृतिक अस्तित्व रहस्यवादी ढंग से आरूढ़ हो जाता है और उस व्यक्ति के माध्यम से उसे जो कुछ प्रकट करना होता है, प्रकट करता है। तीसरे वर्ग की मुख्य विशेषता है वह ध्यानावस्था, जिस में आदमी इन्द्रियों के अनुभवों से परे के लोक में प्रविष्ट हो जाता है और ईश्वर से, या किसी आध्यात्मिक माध्यम से या ब्रह्मलीन होकर सामान्य रूप से इन्द्रियों से अगोचर तत्वों का साक्षात्कार करता है। आधुनिक सभ्य देशों के सुसंस्कृत लोगों के लिये जो पहले दो प्रकार के उपाय हैं, वे इतने मोटे–झोटे हैं कि उन्हें कोई स्वीकार नहीं कर सकता। लेकिन जो यह ध्यानावस्था के माध्यम का तिसरा साधन है, अभी भीं बहुत से लोक उस के प्रशंसक हैं, और पिछले दिनों में कुछ नई मानसिक खोजों द्वारा इन्हें बढ़ावा देने का भी प्रयास किया गया है। इस लिये इस की ओर अधिक ध्यान देने की आवश्यक्ता है। तो भी इस समाधिस्थ सहज–बोध की प्रकृति की परीक्षा करने से पहले हम जान स्टुअर्ट मिल की वह चेतावनी उद्धृत करना योग्य समझते हैं जो श्री. मिलने असाधारण उपायों से सत्य का निर्णय करने के बारे में दी हैं। श्री. मिल का कहना है "कि यह विचार कि जिन सत्यों तक आदमी का चित्त नहीं पहुंच सकता, उन चित्तों तक निरीक्षण आदि की अपेक्षा कर सहज बोध से पहुंचा जा सकता है, मुझे कहना पड़ रहा है, बड़ी बड़ी मिथ्या मानसिक धारणाओं और गड़बड़ संस्थाओं द्वारा समर्थित है। इस सिद्धान्त की सहायता से हर ऐसा घातक विश्वास और गहरी वेदना, जिस के मूल का कुछ भी अता–पता नहीं अधिकृत तौर पर तर्क द्वारा अपनी सचाई को सिद्ध करने की मजबुरी से छुट्टी पा लेगी और अपने आप को आसानी से सत्य की भूमिका पर प्रतिष्ठित कर सकेगी। ऐसे पक्षपातों का जो मन में घर किये बैठे हैं, समर्थन करने के लिये इस से पहले इतना अच्छा उपाय कभी खोज निकाला नहीं गया था।"

समाधिस्थ सहज बोध में शरीर से पृथक मन का एक सार तत्व निकाला जाता है ताकि वह ईश्वर से सीधा सम्पर्क स्थापित कर सके या ब्रह्म के साथ एकत्व स्थापित करने के लिये व्यक्ति की शारिरिक सीमाओं को लांघ सके। मोटे तौर पर जो पद्धती अपनाई जाती है, इस प्रकार है – "दीर्घकालीन गहरी एकाग्रता से, जिसे पदार्थ-विशेष पर नजर गड़ाकर रखने से कुछ और तीव्रता प्राप्त हो गई है, विचार को एक ही दिशा–विशेष में चिन्तन करने दिया जाता है। ऐसा करने से चित्त ऐसी अवस्था को प्राप्त हो जाता है, जिस में सामान्य चैतन्य–अवस्था का विभाजन सा हो जाता है। इन्द्रियों और बुद्धि की क्रिया–शीलता का शिथिलीकरण हो जाता है। तब जिन शारीरिक वेदनाओं के सम्मिश्रण को दैनिक आवश्यक्तायें दबायें रखती हैं, वे उभर आती हैं और चित्त के नाभि–केन्द्र

को भर देती हैं, जिससे वह वास्तव में सुखद या दुखद वेदना का रूप ले लेता है। इन शारीरिक वेदनाओं से पहली अवस्था में ध्यान की हालत में श्रुत या दृश्य अनुभवों की एक धारी सी नाना प्रकार से अस्तित्व में आई प्रतीत होती है। दूसरी अवस्था में इन का शमन हो जा सकता है और उन का स्थान 'विद्यमानता' की विशिष्ट अनुभूति ले सकती है । या वे श्रुत या दृश्य मिथ्या अनुभूतियों के सम्मिश्रण से (जिन में भय और आनन्द की अनुभूति मिली रहती है) इतने अधिक प्रभावित हो जा सकते हैं कि सारा का सारा सम्मिश्रण तदरूप हो जाय। इस सारी प्रक्रिया में मानसशास्त्री को इतना ही दिखाई देता है कि स्वल्पकाल के लिये संज्ञा की जो श्रमसाध्य मशीन है, वह सर्वथा हड़बड़ा जाती है । इस में जीवन सम्पूर्ण रूप से आरम्भिक द्रव्य जीवावस्था का रूप धारण कर लेता है। दैनिक जीवन की जो संगठित क्रिया–परिपाठी है उस में जो व्याघात आ पहुंचता है, वह धार्मिक अनुभव कहलाता है, और व्यक्तिगत चेतनता के अभाव को समझा जाता है कि ब्रह्म–लीन होना है, और माना जाता है कि जो सत्य तर्कातीत हैं, सहज बोध द्वारा उन का साक्षात्कार हो जाता है। इस हालत में जो शरीर–संगठन है उसकी अवस्था वैसी ही होती है जैसी किसी भी विकृति की अवस्था में, जो कि किन्हीं नशीले पदार्थों के ग्रहण से, रोग से, भय से, या बड़े भावनात्मक तनाव से उत्पन्न हो सकती है। इन सभी अवस्थाओं में व्यक्ति आपे से बाहर होता है, और उस के बाह्य दिखाई देने वाले लक्षण एक समान होते हैं । यदि शरीर की विकृत अवस्थाओं की कोई प्राकृतिक व्याख्या संभव है, तो वही व्याख्या ध्यानस्थ सहज–बोध की भी होगी । इतना अन्तर है कि जो ध्यानस्थ सहज बोध है उसके बारे में कहा जाता है कि वह ऊंची आध्यात्मिक शक्तियों का उच्चस्तरीय आत्मा में प्रवेश का परिणाम है, और शरीर की जो विकृत स्थितियां हैं वे दूसरे दर्जे की चेतना के खिलवाड़ का परिणाम हैं । इस बारे में कोई सन्देह नहीं होना चाहिये कि नम्बर २ चेतना निश्चयात्मक रूप से है । यह बीते हुए चेतना अनुभवों के माध्यम से निर्मित उन स्थितियों का ही दूसरा नाम है, जो स्वयं चेतना के मुंह नहीं लगती हैं, लेकिन प्रत्येक क्षण चित्त–सन्तति को प्रभावित करती हैं। यह केवल हमारी सामान्य चेतन जीवन-चर्या की कोटि की ही मानसिक प्रक्रिया की धारा है । लेकिन यह उस से पृथक है और न्यूनधिक मात्रा में स्वतन्त्र भी । यह पार्थिव अनुभूतियों को छोड़कर मानसिक विकास के लिये और किसी सामग्री की बात नहीं करती । और जिन नियमों को सामान्य मानसशास्त्र ने मान्यता दे रखी है, उन के अतिरिक्त किन्हीं दूसरे मानसिक नियमों की भी बात नहीं करती । लेकिन हमारे पास किसी "उच्चस्तरीय आत्मा" का अस्तित्व स्वीकार करने के लिये कोई भी कारण नहीं। इस "उच्चस्तरीय आत्मा" के बारे में कहा जाता है कि इस की स्वतन्त्र सत्ता है और आध्यात्मिक शक्तियों से विचारों के आदान–प्रदान का माध्यम बनता है। यह मान लेते हैं कि परचित्त

विजानन संभव है, हम मान लेते हैं कि दिव्य-दृष्टि संभव है । लेकिन तो क्या इस का यह मतलब है कि हम में से हर किसी के मानसिक जीवन को दो भागों में विभक्त किया जा सकता है, चेतना का एक हिस्सा मात्र संसारिक जगत से संबन्ध रखने के लियें और चेतना का दूसरा हिस्सा परा-प्राकृतिक जगत से संबन्ध रखने के लिये । जैसा कि प्रो. ह्युगो मंस्टरबर्ग का कथन है, "हमारे जीवन में जो कुछ भी मूल्यवान है, जब हम उस को लेकर किन्हीं दृढ़ निश्चयों पर पहुंचना चाहते हैं, तो ये आध्यात्मिक स्वप्न और चित्त की ऊँची ऊँची उड़ानें हमारे किसी काम नहीं आ सकती । जितना भी अधिक हम दैनिक व्यवहारिक जीवन और अपने आध्यात्मिक विश्वासों में दूरी स्थापित करेंगे, उतनी ही अधिक मात्रा में हम अपने दैनिक जीवन को आत्म-गौरव की भावना से वंचित करेंगे और किसी बाह्य जन्मान्तर की आशाओं के भ्रम-जाल में फंसा देंगे ।"

यह कहा जाता है कि ध्यान और तथाकथित रहस्यपूर्ण अवस्थायें जिन पर हावी होती हैं उन के लिये सर्वांश में मान्य होती हैं। इतना ही नहीं कि वे तर्कभूत चेतना की प्रामाणिकता पर प्रश्न चिन्ह लगाती हैं, क्योंकि वह तो मात्र इन्द्रियों की अनुभूति पर आश्रित होती है । उन का कहना हैं कि यह चेतना ही एकमात्र ऐसी चेतना है, जो दूसरे सत्यों के दर्शन कर सकने के द्वारों को उघाड़ देती है । किसी को कोई आवश्यक्ता नहीं कि जहाँ तक साधक को दृश्य-विशेष दिखाई देते हैं, आवाजें सुनाई देती हैं, ध्यान-परक वेदनायें उत्पन्न होती हैं, और चेतना-प्रधान दृष्टिकोण रहता है, उन की प्रामाणिकता पर प्रश्न चिन्ह लगाये। हमें किसी रहस्यवादी के यह कहने पर कि तथाकथित रहस्यवादी स्थितियों के कारण उसे लगता है कि वह ऊपर उठा है, वह स्वतन्त्र है, उसे प्रकाश प्राप्त हुआ है, एकत्व प्राप्त हुआ है, या अतिरिक्त नैतिक शक्ति प्राप्त हुई है उस का खण्डन करने की कोई आवश्यक्ता नहीं। व्यक्तिगत कर्तृत्व के स्तर पर होने वाले रहस्यवादी साधक के इस प्रकार के अनुभव अकाट्य हैं। उन के विरुद्ध कुछ भी नहीं कहा जा सकता। लेकिन जब हम कारण-कार्य की दृष्टि से उन पर विचार करते हैं तो बात ही बदल जाती है। जब ध्यानी कहता है कि उस पर कोई देवता उतर आया है, या क्योंकि एक आध्यात्मिक लोक विद्यमान है, तो वह सुदूर तार्किक विस्तार के क्षेत्र की सीमा में प्रविष्ट हो जाता है । अब वह रहस्यवादी चेतना के क्षेत्र की सीमा में नहीं रहा है । वह तार्किक चेतना के क्षेत्र में जा पहुंचा है और इस लिये अब वह टीका का पात्र बनता है। और यह भी बात है कि सभी ध्यानियों का जो अपना अपना व्यक्तिगत कर्तृत्व पक्ष है वह उन्हें विकृत कर देता है । न केवल साधक बल्कि और भी कोई निश्चयात्मक रूप से यह नहीं कह सकता कि इस अनुभव का जो परा-प्राकृतिक अंश है वह यथार्थ है और कि वह मानसिक भ्रम ही नहीं है। योगी दूसरों से भी यह आग्रहपूर्वक नहीं कह सकता कि वे उस के ध्यानोत्पन्न सहज-बोध की विद्यमानता को पक्की तरह स्वीकार करें। अधिक से अधिक

वह केवल अपने बारे में कह सकता है । जो अनुभव परा–प्राकृतिक के हर दृष्टिकोण की स्थापना कर सकता है, उस के बारे में सन्देह स्वाभाविक है । जैसा प्रो. जेम्ज् का कथन है कि योगी की चेतना यदि इस विचित्र भावनात्मक आवश्यकता के लिये अपने चौखटे में जगह बना सकती है तो वह अत्यन्त नाना प्रकार के दर्शनों और सिद्धान्तों द्वारा उपस्थित की गई सामग्री के साथ वैवाहिक सम्बन्ध स्थापित कर सकती है । ज्ञान का वह परस्पर विरोधी स्वरूप अपने ही योगियों के अन्त-र्दृष्टि प्राप्त करने के जो दावे हैं उन का खण्डन करता है । इस के अतिरिक्त सभी प्रकार की ध्यानावस्थाओं में व्यक्ति अपने जान बूझकर किये जाने वाले व्यवहारिक कार्यों से पीछे हट जाता है । हम कह सकते हैं कि उस की चेतना, शुद्ध आन्तरिक जीवन में घुल मिल जाती है । हम सामान्य जीवन में इस के लिये कोई उपमा नहीं दे सकते । इस लिये जब वह अपनी सामान्य क्रियापरिपाटी में वापिस लौटता है, तो उसे कुछ भी स्मरण नहीं रहता । इस लिये इस में कुछ आश्चर्य नहीं, सामान्य अनुभवों की कोटी में न गिने जा सकने वाले जो अनुभव उसे होते हैं, वह उन्हें मन और वाणी का विषय नहीं मानता । इस में भी कुछ आश्चर्य नहीं माना जाना चाहिये कि यदि उसे अपनी यह अवस्था उस आनन्द की आरम्भिक अवस्था मालूम दे जो आत्मा के ब्रह्म में लीन होने से प्राप्त होता है । लेकिन तार्किक दृष्टि से इस से क्या सिद्ध होता है ? स्पष्ट शब्दों में कहें यह तथाकथित चेतना या पराकोटी की चेतना जिस का ब्रह्मलीन होना सभी योगियों का परमादर्श है सम्पूर्ण अचेतनावस्था के अतिरिक्त कुछ नहीं ।

यदि सृष्टि न तो ईश्वर की रचना है और न ही ब्रह्म की अभिव्यक्ति है, तो क्या यह सम्भव नहीं कि इस की उत्पत्ति व्यक्तिगत आत्मा से ही हुई हो ? आत्मा की वास्तविकता अवास्तविकता की चर्चा में बिना पड़े तथागत ने यह दिखा दिया है कि आत्मा को विश्व का निर्माता मानना बड़ी ही लचर बात है । "यदि तुम कहते हो कि आत्मा कर्ता है तो उसे सभी चीजें आकर्षक बनानी चाहिये, लेकिन इस संसार में ऐसी बहुत सी चीजें हैं जो अपने आप को आकर्षक नहीं लगतीं, तो फिर यह कैसे कहा जा सकता है कि आत्मा कर्ता है ? यदि यह कहा जाय कि आत्मा की यह इच्छा नहीं है कि वह सुन्दर ही सुन्दर चीजों की रचना करे, तो जो कोई भी आकर्षक वस्तुओं की इच्छा करता है, वह अपने निर्माता 'आत्मा' का विरोधी है । सुख और दुःख परस्पर विरोधी हैं । यह कैसे कहा जा सकता है कि ये दोनों एक ही 'आत्मा' की रचना है । यदि हम यह मान लें कि आत्मा ही कर्ता है, तो कम से कम इतना तो होवा चाहिये कि कहीं कोई दुष्कर्म न हो, लेकिन हम देखते ही हैं कि हमारे कर्मों के अच्छे–बुरे परिणाम होते हैं । इस लिये आत्मा रचयिता नहीं हो सकता । शायद यह कहा जाय कि आत्मा समयानुसार रचना करता है, तो फिर ऐसा ही समय होवा चाहिये जिस में शुभ कर्म ही किया जा सके । इस लिये क्योंकि शुभ या अशुभ परिणाम दोनों की उत्पत्ति कारणों से

होती है, इस लिये यह नहीं कहीं जा सकता कि 'आत्मा' ने ही इसे ऐसा बनाया है। (अश्वघोष का बुद्ध चरित)

जिस दृष्टिकोण का खण्डन किया गया है उस का मूल इस बात में है कि चीजों का जो बाह्य रूप है उस पर उस का प्रत्यक्ष करने वाली इन्द्रियों का प्रभाव पड़ता है। पाण्डुरोग के रोगी को प्रत्येक चीज पीली ही पीली दिखाई देती है। एक साधारण आदमी भी इस बात को जानता है, लेकिन इतने मात्र से वह सारे विश्व को इन्द्रियों की रचना नहीं मानता। जो अध्यात्मवादी अपने आप को अहंवादी मानता है और सारे भौतिक विज्ञान को मिथ्या मानता है, व्यवहारिक जीवन में ऐसा कभी नहीं करता। वह अपने पेट की भूख को निमंत्रण की मिठाई की कल्पना मात्र से बुझाने का प्रयास नहीं करता। मन ने जिस का निर्माण किया है, वही मन उस का विनाश क्यों नहीं कर सकता? यदि सभी चीजों का निर्माण मन के द्वारा ही किया गया होता तो सिद्धान्त और व्यवहार में यह भेद कैसे उत्पन्न होता? तब तो इस विश्व में कोई भी दुःख होना ही नहीं चाहिये था। भगवान बुद्ध ने ठीक ही इस बात पर जोर दिया है और जो दार्शनिक यह मानते हैं कि मन ने ही प्रत्येक वस्तु का निर्माण किया है, उन के मत को ठुकरा दिया है।

इन नकारात्मक आलोचनाओं से हट कर अब हम दर्शन की जो महत्वपूर्ण समस्यायें हैं, उन के बारे में तथागत का सही सही दृष्टिकोण क्या था, उस की ओर ध्यान दे सकते हैं। क्योंकि तथागत ने आदमी के नैतिक जीवन पर सतत जोर दिया है, इस लिये यह सामान्यतया मान लिया जाता है कि तथागत सभी प्रामाण्यवादीय प्रश्नों के प्रति उपेक्षा की दृष्टि रखते थे। यह वास्तव में सच है कि भगवान बुद्ध ने संसार के आदि और अन्त के सम्बन्ध में कोई सिद्धान्त प्रतिपादित नहीं किया, और न उन्हों ने अपने विचारों को कोई शास्त्रीय रूप भी प्रदान किया। लेकिन जो कुछ भी हमें सुत्त-पिटक और अभिधम्मपिटक में पढ़ने को मिलता हैं उन की स्पष्ट स्थिति को समझ लेना कठिन नहीं है। तथागत बहुधा अपने श्रोताओं की मर्यादा का ख्याल कर प्रवचन करते थे। सर्वसाधारण को जो प्रवचन दिये गये है, उन में वे स्वाभाविक तौर पर एक यथार्थवादी (सर्वास्तिवादी) प्रतीत होते हैं। ऐसे ही प्रवचनों का आश्रय लेकर वैभाषिकों और सौत्रन्तिकों ने अपना एक भौतिक दर्शन खड़ा कर लिया है और वे परमाणु-सिद्धान्त के किसी न किसी रूप के मानने वाले प्रतीत होते हैं। जैसा डॉ. हुंडट का कथन है, यह असम्भव नहीं है कि बौद्धों ने ही परमाणु-वाद का आविष्कार किया हो। सभी बौद्धों द्वारा स्वीकृत जो सामान्य मत है कि संसार एक सतत उत्पन्न होने वाला और निरोध को प्राप्त होने वाला प्रवाह मात्र है, इस में कुछ भी आश्चर्य नहीं होना चाहिये कि यदि कुछ बौद्ध समस्त विश्व को अनित्य

परमाणुओं का समूह मानते हों, जिस तरह से जो आध्यात्मिक पुरुष है वह रूप, वेदना, संज्ञा, संस्कार तथा विज्ञान रूपी पांचों स्कन्धों का समूह है। वैभाषिक और सौत्रान्तिक दोनों ही मानसिक जगत से व्यतिरिक्त बाह्य संसार का अस्तित्व स्वीकार करते हैं। वैभाषिकों का कहना है कि बाह्य जगत का प्रत्यक्ष ज्ञान होता है, लेकिन सौत्रान्तिकों का कहना है कि हमारे मन में जो बाह्य जगत की छाया पड़ती है, उस से ही हमें बाह्य जगत का ज्ञान होता है, इस लिये बाह्य जगत का अस्तित्व केवल अनुमान-सिद्ध है।

दूसरी ओर असङ्ग के अनुयायी योगाचार के मानने वाले हैं। उन की दृष्टि बाह्य संसार का अस्तित्व है ही नहीं। वे इसे आत्म-निर्भर चेतना या विज्ञान का ही रूपान्तर मानते हैं। तथागत ने इन सभी मतों के विकास के लिये अवकाश दे दिया होगा, लेकिन उन्हों ने किसी भी एक मत का प्रतिपादन किया प्रतीत नहीं होता। वे न तो ऐसे भौतिकवादी थे जो आत्मनिर्भर परमाणुओं की सत्ता में से चेतना का आविर्भाव मानते हैं, न ऐसे अहंवादी थे कि जो संसार की सत्ता को आत्म-निर्भर आत्माओं की देन मानते हैं। वे विचार और जीवन दोनों में मध्यम मार्गी (माध्यमिक !) थे। उन्हों ने न तो विज्ञान की यथार्थता से इनकार किया न बाह्य जगत की यथार्थता का निषेध किया। लेकिन उन्हों ने समस्त परा-प्राकृतिक अस्तित्व को अस्वीकार किया, जीवात्माओं को भी और परमात्मा को भी। इस लिये वे सामान्य जनों द्वारा शून्यवादी माने जाते थे। उन्हों ने न कभी प्रपंच के अस्तित्व से इनकार किया और न नाम-रूप के। उन्हों ने सतत अनित्य दृश्य घटना-क्रम का शिक्षण प्रदान किया, इसी से उन का एक विशेषण बन गया अद्वय-वादी।*

जिन बातों पर आधुनिक समय के सभी दार्शनिक सहमत हैं उन में से एक बात है कि आदमी जो कुछ भी अनुभव करता है वही उस की चेतना, उस के चित्त, उस के विज्ञान की उपादान सामग्री है। जो कुछ भी चेतना के अन्तर्गत समाविष्ट नहीं होता, वह सभी कुछ ज्ञान-बाह्य है। यद्यपि आदमी के चित्त में जो कुछ रहता है वह प्रतिक्षण परिवर्तित होता रहता है, तो भी चित्त की समस्त उपादान सामग्री का क्षणिकत्व इतना निश्चित है कि उस पर प्रश्नचिन्ह लग ही नहीं सकता। यद्यपि चेतना के अन्तर्गत जो कुछ भी होता है, प्रामाणिक तौर पर एक ही व्यक्ति के लिये होता है और जिस क्षण में इस की विद्यमानता रहती है, उसी क्षण-विशेष में इस की प्रामाणिकता रहती है तो भी सभी समय के लिये इसका उपयोग हो सकता है और दूसरों के लिये भी। जिन स्थितियों में इस की प्रामाणिकता रहती है, उन स्थितियों से दूसरों को अवगत करा देना होता है। लेकिन यह कभी नहीं भूलना चाहिये कि जो कुछ भी कोई जान सकता है, वह

* अद्वय-वाद और वेदान्तियों के अद्वैतवाद में जमीन-आसमान का अन्तर है।

सब मानसिक ही होता है। मानसिक कहो, चैतसिक कहो, विद्यमान कहो – सभी पर्याय है। ऐसा कुछ भी नहीं होता, जिसे हम मन से अतिरिक्त मान सकें, चित्त बाह्य मान सकें। सभी घटनावलियां चित्त में ही घटती हैं। क्यों कि सभी पदार्थ और शक्तियां घटनावलियां ही हैं, हम चेतना को एक पृथक पदार्थ या शक्ति नहीं कह सकते। यह वह वास्तविकता है, जिस के माध्यम से ही सभी कुछ हृदयङ्गम करणीय है। यह सभी विद्यमान वस्तुओं की तथता है। यह जो महत्त्व-पूर्ण बात है इस की उपेक्षा ने ही हर तरह की कल्पित समस्याओं को जन्म दिया है, आत्म–निर्भर अज्ञेय पदार्थों के बारे में जिन का हमारे चित्त से कोई सम्बन्ध नहीं होता, लेकिन जो चित्त पर ही उत्पन्न होते और विलीन होते हैं।

चित्त में जो कुछ भी सम्मिलित रहता है, वह कुछ भी हो किसी तरह का भी हो अपने में अनोखा ही होता है। चित्त के कोई दो समावेश एकदम एक तरह के नहीं ही होते। लेकिन स्मृति जो कि चित्त का एक महत्वपूर्ण क्रिया–कलाप है, इन नाना प्रकार के समावेशों को एक दूसरे के सिलसिले में हमारे सामने उपस्थित करती है ताकि हम उन की समानताओं और असमानताओं का मुकाबला कर सकें। इस प्रकार हम चित्त में जो कुछ भी समाविष्ट है, उस का विश्लेषण कर सकते हैं और ऐसे तत्वों पर ठहर सकते हैं जहां से यह माना जा सकता है कि तमाम अनुभव का नव–निर्माण होता है। लेकिन किसी भी समय–विशेष पर चित्त में जो कुछ भी समाविष्ट होता है, वही चित्त का समावेश है, ये तत्व–विशेष नहीं। हम एक निष्कर्ष निकालने की पद्धति से इन तत्वों पर जा कर रुकते हैं। ये तत्व इन्द्रियों की छाप और उन के स्मृति–चित्र हैं। जैसा अनुभव जन्य मानस शास्त्र का शिक्षण है, शेष जितने भी मानसिक समावेश है उन्हीं में से निर्माण किये जा सकते हैं।

सामान्य आदमी समझता है कि इन्द्रियों पर जो छाप पड़ती है वह चित्त से पृथक किसी वस्तु की पड़ती है और भीतर का 'अहं' ही इन्द्रियों की इन छापों को ग्रहण करता है। यह जो 'वस्तु' है, वह भी हमारा अनुमान मात्र है और जो 'अहं' है, वह भी अनुमान मात्र है। इन का मूल में कहीं कोई अस्तित्व नहीं है। क्योंकि वे बहुत सी इन्द्रिय जन्य छापों की स्मृति–मूर्तियों से विकसित हुए है, हम उन्हें जटिल–विचार मान सकते हैं और इस हिसाब से देखा जाय तो वे वास्तव में यथार्थ हैं। लेकिन एक आधार के तौर पर जो पूर्वतर हैं और चित्त से बाह्य हैं और जो परतर हैं और चित्त के बाहर हैं उन का कहीं भी कोई अस्तित्व नहीं। गुणी और गुणों के बीच का विभेद व्यवहारिक सुविधा की बात है, लेकिन वह संज्ञास्वरूप नहीं है, वह किसी को भी दृष्टि–गोचर नहीं होता है। गुणी मात्र गुणों का समूह है। यदि ऐसा लगता है कि गुण निराधार खड़े नहीं रह सकते और उन्हें खड़े रहने के लिये एक आधार की आवश्यकता है तो यह भाषा की

दुर्बलता है । अपने विकास के दौरान आदमी ने अपने लिये भिन्न भिन्न इन्द्रियानुभूतियों के सम्बन्धों की मोटी मोटी मूर्ति घड़ ली है, जो सब मिलाकर व्यक्तित्व है, गुणी है । कुछ वेदनायें, जिन का शरीर से दृढ़तर सम्बन्ध प्रतीत होता है, वे उन वेदनाओं का आधार बन जाती हैं जो उतने अधिक दृढ रूप से जुड़ी हुई नहीं हैं । शरीर की स्थिरता की और इस की एकरूपता की जो हमारी धारणा है, उसी के कारण हम एक पदार्थ में विश्वास करते हैं, एक परिवर्तन रहित आधार में । लेकिन इस बेकार प्रस्ताव के बिना भी हम इसी परिणाम पर पहुंचते हैं । किसी शरीर की एकरूपता का कारण है, उस में विद्यमान गुणों का अस्तित्व जो किसी नाम–रूप के साथ जुड़ा हुआ है । यदि पदार्थ–विशेष के अधिकांश गुण और खास तौर पर वे गुण जो हमारे लिये अधिक महत्व के हैं, बिना किसी परिवर्तन के बने रहते हैं, या यदि वह परिवर्तन बहुत बड़ा होने के बावजूद थोड़ी थोड़ी मात्रा में इस प्रकार होता है कि पता ही न लगे, तो जो आधार–भूत पदार्थ है, वह वही प्रतीत होगा । इस की कोई आवश्यकता नहीं कि हम किसी नित्य आधार–भूत पदार्थ की कल्पना करें ।

यदि जो कुछ भी हम अनुभव करते हैं उस के अन्तर्गत हमारे चित्त में जो प्रक्रिया होती है, उस के अतिरिक्त और कुछ नहीं होता, तो क्या फिर भीतरी और बाह्य में कोई महत्वपूर्ण भेद है ? हाँ, चित्त के समावेश की दृष्टि से उन में कुछ भी विशिष्ट भेद नहीं है । डब्ल्यु. के. क्लिफर्ड के कथनानुसार, "मेरी वेदनायें दो तरह से कार्य–रत होती है । एक आन्तरिक क्रम है, जिस में बुरा समाचार सुनना मिलने पर दुःख की अनुभूति होती है, या बहुत से एक जैसे कुत्तों के कारण हम एक अदृश्य 'कुत्ता' निष्कर्ष पर पहुंचते हैं और दूसरा बाह्य क्रम है जिस में यदि कोई पदार्थ गिरता दिखाई देता है और उस की आवाज होती है तो 'गिरने दो' की इन्द्रियानुभूति उत्पन्न होती है । बाह्य–क्रम भौतिक विज्ञान का विषय है जो पदार्थों के देश और काल के सम्बन्धों का विचार करता है । यहां पदार्थ शब्द का प्रयोग केवल अपनी अनुभूतियों के समूह के अर्थ में किया गया है, जो एक खास ढंग से सतत बनी रहती हैं, क्यों कि इस समय में केवल अपनी इन्द्रियानुभूतियों के बाह्य–क्रम को लेकर विचार कर रहा हूँ । तो जो पदार्थ है वह भी मेरे चित्त में हुए परिवर्तनों का ही नाम है । उस से बाहर कहीं कुछ नहीं है । भौतिक विज्ञान के जितने भी अनुमान हैं वे सब मेरी यथार्थ या संभव वेदनाओं के ही अनुमान हैं । मेरे चित्त में ही उत्पन्न होने वाली या उत्पन्न हो सकने वाली इन्द्रियानुभूतियों के अनुमान । चित्त से बाहर से कहीं कुछ भी नहीं ।" सुत्तनिपात में कहा ही है, 'नत्थि अज्झत्तं बहिद्धाच किञ्चिति पस्सतो ।' जो यथार्थ सत्य को देखता है उस के लिये भीतर–बाहर का भेद कुछ भी नहीं है ।

यह जो 'मैं' और 'बाह्य जगत' का भेद है व्यवहार के स्तर पर इस का कुछ अर्थ है । भीतरी अनुभव और बाह्य अनुभव की बात को भली प्रकार हृदयङ्गम

करने के लिये हम एक उदाहरण लें। हम एक 'सूई' लेते हैं। उस के रंग और उस के आकार प्रकार की भूतकाल में जो मन पर छाप पड़ी है, वही हमारे लिये वास्तविक 'सूई' है। सामान्यतया हम यह मानकर चलते हैं कि ये अनुभूतियां बाह्य-अनुभूतियाँ हैं। लेकिन जब हमारी उंगली में सूई चुभती है और दुःखद वेदना उत्पन्न होती है, तो यही मान्यता है कि वेदना भीतर होती है। यह सब ठीक होने पर भी सूई का रंग और सूई का आकार-प्रकार चित्त के उतने ही अंग हैं, जितनी सूई की चुभन। तो फिर यह भेद किस कारण से हैं ? सुखद वेदना या दुखद वेदना से अनुकूल या प्रतिकूल उपादान उत्पन्न होता है और इसी से भव की उत्पत्ति होती है। लगता है कि कोई केन्द्रिय-चित्त है और वह सभी अनुभवों का भोक्ता है। इस प्रकार यह भेद उत्पन्न होता है, चित्त का एक हिस्सा भोगता और चित्त का ही दूसरा हिस्सा भोग्य पदार्थ। लेकिन जब कोई आर्य अष्टांगिक मार्ग पर चलता है और उस का सुखद-वेदनाओं के प्रति जो पक्षपात रहता है, वह नष्ट हो गया रहता है, तो वह सभी वस्तुओं के वास्तविक स्वरूप को समझता है और आनन्द-स्वरूप निर्वाण में प्रविष्ट होता है।

ग्यारहवाँ परिच्छेद

व्यक्तित्व

मानवीय व्यक्तित्व के बारे में, उस की प्रकृति के बारे में, उस के भाग्य के बारे में नाना प्रकार के विचार प्रकट किये गये हैं। जंगली आदमी समझता है कि भीतर एक पशु या आदमी रहता है जो इस छोटे से पशु या आदमी को चलाता है, पशु के भीतर पशु, आदमी के भीतर आदमी उस का आत्मा है। यह जीववादी दृष्टि-कोण किसी न किसी रूप में ब्राह्मण-वाद, जैन-धर्म, ईसाइयत और इस्लाम को मान्य है । ये धर्म शिक्षा देते हैं कि आदमी का व्यक्तित्व उस का आत्मा है, जो आदमी के जन्म ग्रहण करने के समय उस के शरीर में दाखिल होता है और मरने के समय उस का त्याग कर देता है। कहा जाता है कि आत्मा वह अभौतिक तत्व है जो 'मैं' कहलाता है और इस परिवर्तन शील शरीर में अपरिवर्तनशील रूप में विद्यमान रहता है। यह देखने, सुनने, सूंघने, चखने और स्पर्श करने वाली पांचों इन्द्रियों के माध्यम से ज्ञान प्राप्त करता है। यह वह एजेन्ट है जो बहुत सी इन्द्रियों से युक्त शरीर में क्रियाशील है। यह न केवल शरीर का मालिक है बल्कि दिमाग का भी। यद्यपि यह न आँख से दिखाई देता है, न इस तक वाणी से पहुंचा जा सकता है, न बुद्धि से ही वहाँ तक पहुंचा जा सकता है, तब भी श्रद्धा से उस का अस्तित्व मान्य करना चाहिये। कठोपनिषद् का कथन है कि न तो वाणी द्वारा, न मन द्वारा और न आँख द्वारा यह ग्रहण किया जा सकता है। वह है। इस के अतिरिक्त और किसी भी उपाय द्वारा उसे प्राप्त नहीं किया जा सकता है। आत्मा जिसका चुनाव करता है, उसी के द्वारा वह जाना जा सकता है। उसी आदमी पर आत्मा अपने स्वभाव के सहित प्रकट होता है । बिना आत्मा के अमृतत्व नहीं हो सकता और यदि अमृतत्व नहीं तो जीने का कुछ भी अर्थ नहीं। आत्मा का अस्तित्व ही प्रत्येक व्यक्ति के लिये इस बात की गारण्टी है कि उसे उस के कर्मों का फल मिलेगा। बिना आत्मा के न स्वर्ग में कुछ इनाम मिल सकता है और न नरक में कोई दण्ड मिल सकता है । यदि आत्मा नहीं तो बिना देहान्तर की संभावना के किसी को भी उस के कर्मों का फल कैसे मिल सकता है और यदि पुनरागमन नहीं तो आदमी और आदमी के बीच जो सम्पत्तिशाली होने न होने का अन्तर है, चरित्र का अन्तर है, पद का अन्तर है, भाग्यवान और दुर्भाग्यवान होने का अन्तर है, उस की व्याख्या कैसे हो सकती है ?

तथागत के सद्धर्म की शिक्षा है कि यह जीववादी दृष्टिकोण, यह स्थायी आत्मा में विश्वास, सब से अधिक खतरनाक गलती है, सर्वाधिक भ्रामक भ्रम है। वह इतना बड़ा चक्कर है कि जो भी कोई इस में विश्वास करेगा वह उसे निश्चयात्मक रूप से चिन्ता और दुःख के गड्ढे में जा गिरायेगा। सक्काय दिठ्ठी, किसी नित्य आत्मा में विश्वास करना वह पहला संयोजन है, जिस से बिना छुटकारा पाये कोई भी आदमी आर्य अष्टांगिक मार्ग पर पैर रख ही नहीं सकता। आत्मा की नित्यता में विश्वास करने से उस के प्रति आसक्ति पैदा होगी, आसक्ति से अहंकार पैदा होगा और उस से पहले तो यहीं इस पृथ्वीपर बाद में स्वर्ग लोक में भोगों की आकांक्षा पैदा होगी। इस लिये किसी भी नित्य आत्मा की मान्यता दुःख से छुटकारे का उपाय हो ही नहीं सकती। आत्मा की तलाश ही बड़ी गलती है, और कोई भी गलत आरम्भ आदमी को गलत रास्ते पर डाल देती है, वैसे ही यह भी। अश्वघोष ने अपने श्रद्धोत्पाद सूत्र में कहा है, "जितने भी मिथ्या मत हैं, उन का मूल आत्मा की कल्पना में हीं है। यदि हम आत्म-दृष्टि से मुक्त हो जाये, तो मिथ्या मतों की उत्पत्ति ही असम्भव हो जाय।" तथागत ने राजा बिम्बिसार को कहा था, "जो अपनी प्रकृति को जानता है और यह समझता है कि उस की इन्द्रियां किस प्रकार कार्य्य करती हैं, उस के यहाँ 'मैं' के लिये कोई स्थान ही नहीं। संसार 'मैं' से चिपके हुए है और इसी से मिथ्या मान्यतायें जन्म लेती हैं। कुछ लोगों का कहना है कि मृत्यु के अनन्तर भी 'मैं' बना रहता है, दूसरे कहते हैं कि 'मैं' का विनाश हो जाता है। दोनों ही बड़ी गलती कर रहे हैं। क्योंकि यदि 'मैं' नष्ट होने जैसी कोई चीज हो, तो जिन कर्म-फलों की आशा से लोग कर्म करते हैं, वे कर्म-फल भी नष्ट हो जायेंगे और तब मोक्ष पुण्यहीन हो जायेगा। लेकिन यदि जैसा कुछ दूसरे कहते हैं कि 'मैं' नष्ट नहीं होता, तो इसे हमेशा एक ही जैसा रहने वाला नित्य पदार्थ होना चाहिये। तब नैतिक साधना और मोक्ष का कोई अर्थ नहीं रहेगा, क्योंकि जो अपरिवर्तन शील है उस में परिवर्तन लाने का प्रयास निरर्थक हो जायगा। लेकिन क्योंकि सुखदुःख तो सभी जगह है, हम यह कैसे कहते हैं कि कोई अस्तित्व सदा एक ही जैसा रहता है।"

एक स्थायी आत्मा में जो मिथ्या-विश्वास है और जो बहु-प्रचारित है, उस का मूल कारण मिश्रित वस्तुओं में एकत्व देखने का भ्रम है। एक गुणी को उस के गुणों से हम मात्र विचार के स्तर पर पृथक कर सकते हैं, लेकिन वास्तव में नहीं। क्या पदार्थ-विशेष के गुणों को यदि हम पृथक कर देंगे, तो क्या वह पदार्थ बचा रहेगा ? यदि आग में से ऊष्णत्व पृथक कर दिया जाय, तो क्या अग्नि नाम का कोई पदार्थ शेष रहेगा ? इस में कोई सन्देह नहीं कि हम चिन्तन के स्तर पर आग से ऊष्णत्व को पृथक कर सकते हैं और उस के बारे में तर्क-वितर्क कर सकते हैं। लेकिन क्या हम वास्तव आग से ऊष्णत्व को पृथक कर सकते हैं ? थोड़ी देर के लिये मान लो कि हम किसी मकान की नीव, दीवारें और छत हटा लें, तो क्या

घर का कोई "आत्मा" शेष बचेगा ?

जिस प्रकार 'घर' उस के सभी विशिष्ट हिस्सों के एकत्रीकरण को कहते हैं, इसी प्रकार व्यक्ति भी आदमी की वह अद्भुत क्रियाशीलता है जो अपने आप क्रियाशील इन्द्रियों के माध्यम से प्रकट करती है, संज्ञाओं के माध्यम से, संस्कारों के माध्यम से तथा चित्त के माध्यम से । आचार्य बुद्धघोष ने अपने विसुद्धिमग्गों में कहा है कि जैसे 'रथ' धुरी, पहियों, बांस तथा दूसरे हिस्सों के ऐसे एकीकरण का नाम है जो परस्पर एक दूसरे के सम्बन्ध से जमायें हुए हैं, लेकिन जब हम उस के हिस्सों को लेकर अलग अलग एक एक की परीक्षा करना चाहते हैं तो हम देखते हैं कि निरपेक्ष भाव से कहीं कोई रथ नहीं है .... ठीक इसी प्रकार ऐसे शब्द जैसे कि 'जीव' या 'मैं' पांचों स्कन्धों के समूह के लिये एक मिला जुला शब्द मात्र हैं, लेकिन जब जब हम रूप, वेदना आदि स्कन्धों का एक एक करके परीक्षण करने जाते हैं तो हम देखते हैं कि ऐसा कहीं कुछ नहीं हैं जिसे 'जीव' या 'मैं' करके माना जा सके । इस का मतलब है कि निरपेक्ष दृष्टि से परीक्षण करने पर 'नाम–रूप' के अतिरिक्त कहीं कुछ नहीं । इसी ग्रन्थ रचयिता ने अन्यत्र लिखा है, "उन के कथन है कि यह जीवित प्राणी है जो चलता है, यह एक जीवित प्राणी है जो खड़ा होता है, लेकिन क्या कोई ऐसा जीव है, जो चलता है या खड़ा होता है ? कहीं नहीं है । लेकिन जैसे लोग किसी रथ के चलने की बात करते हैं, यद्यपि चलने वाली या खड़ी रहने वाली कहीं कोई वस्तु ही नहीं है, इसी तरह जब रथ हांकने वाला चार बैलों को जोत देता है और उन को हांकता है, तो हम केवल अभ्यास के वश कहते हैं कि रथ जा रहा है या खड़ा है । इसी तरह चिन्तन–शून्य शरीर एक रथ के समान हैं, विचारों की प्रताड़ना बैलों के समान है, चिन्तन सारथी के समान है और जिस समय चलने या खड़े होने का विचार उत्पन्न होता है तो स्नायुओं का चलन चालू हो जाता है और मन की क्रियाशीलता और स्नायु की गतिशीलता के परिणाम स्वरूप रथ का चलना आदि हो जाता है । इस प्रकार यह कहना कि 'जीवित प्राणी चलता है, जीवित प्राणी खड़ा होता है, मैं चलता हूं, मैं खड़ा होता हूं' शब्दों का व्यवहार मात्र है । इसी प्रकार मिलिन्द–प्रश्न में महास्थविर नागसेन ने भी कहा है, जिस प्रकार के अनेक हिस्सों के विद्यमान रहने से हम 'रथ' शब्द का प्रयोग करते हैं उसी प्रकार जहां पांचों स्कन्ध विद्यमान रहते हैं वहां हम 'जीव' की चर्चा करते हैं । चक्षु और रूप के विद्यमान रहने से चक्षु – विज्ञान उत्पन्न होता है, उस से स्पर्श, उस से वेदना तथा अन्य चैतसिक धर्म – ये सभी किसी न किसी प्रत्यय के आश्रय से उत्पन्न होते हैं, लेकिन कहीं भी किसी देखने वाले, सुननेवाले आदि कर्ता के अस्तित्व की अनुभूति नहीं होती ।"

क्योंकि बौद्ध धर्म सारे प्रपञ्च का, जिस से बाहर कुछ भी विद्यमान नहीं है, विश्लेषण करते करते संस्कृत धर्मों (=चैतसिकों) तक जा पहुंचता है, यह

स्वाभाविक ही है कि बौद्ध धर्म असन्दिग्ध रूप से, चित्त से भी परे माने जाने वाले आत्मा का निषेध करे। लेकिन यह किसी व्यवहारिक सत्ता के अस्तित्व से इनकार नहीं करता, किसी 'मैं' के अस्तित्व से जिस का निर्माण अनुभवों के तत्व से हुआ है और जिस की प्रतिक्रिया उन तत्वों पर भी होती है। 'व्यक्तित्व' व्यक्तित्व, वे कहते हैं, तो स्वयं भगवान् बुद्ध ने उस व्यक्तित्व के बारे में एक भिक्षु ने भिक्षुणी धम्म दिन्ना से पूछा। उस का उत्तर था "भगवान बुद्ध ने कहा है कि व्यक्तित्व पांच स्कन्धों पर आश्रित है – आदमी एक संस्थान है, पांच स्कन्धों से निर्मित, रूप, वेदना, संज्ञा, संस्कारों तथा विज्ञान से। ये जितने स्कन्ध हैं, रूप के अतिरिक्त शेष सभी चैतसिक धर्म है। शरीर के सम्बन्ध में जितनी भी वेदनाएं और विचार हैं उन सब को समग्र भाव से रूप कहते हैं, वेदना क्षणिक भावनात्मक अवस्थायें, संज्ञा कल्पनायें और निष्कर्ष, संस्कार प्रवृत्ति और झुकाव, विज्ञान चित्त या चिन्तन। "जो कुछ भी स्थूल है, वह रूप है," मिलिन्द प्रश्न का कथन है, "जो कुछ भी सूक्ष्म है, मानसिक है, वह नाम है। नाम और रूप एक साथ जुड़े हुए हैं और एक साथ उत्पन्न होते हैं। अनन्त काल से यही उन का स्वभाव है। यह दृष्टिकोण आधुनिक मानस-शास्त्र से सर्वथा मिलता जुलता है। उस का भी यही मत है कि आदमी का "मैं" और कुछ नहीं है, वह केवल आदमी के शरीर को लेकर जो उस की चिन्तनाओं का समग्र रूप है, वह तथा आदमी की वेदनाओं, संज्ञाओं, संस्कारों तथा विज्ञान को लेकर जो उस का चिन्तन जगत है, उसी सब का सम्मिश्रण है। प्रो. टिटचेनर ने अपने प्रसिद्ध ग्रन्थ "मानसशास्त्र की रूपरेखा" में लिखा है, कि "बहुत सी शारीरिक तथा रासायनिक उलझी हुई क्रियाओं के लिये एक समग्र शब्द है जीवन। उन के अतिरिक्त कुछ नहीं, कोई रहस्यवादी तत्व नहीं। इसी प्रकार अपने चित्त या मन के बारे में भी हम सोचते हैं, तो वह भी मानसिक क्रियाओं के अतिरिक्त कुछ नहीं। मन मानसिक क्रियाओं का समग्र रूप मात्र है। जितनी भी मानसिक क्रियाये हैं वे सभी मानसिक क्रियाओं के ही उप-विभाग हैं।" जो कुछ हम जानते हैं, वह रंगों के बारे में जानते हैं, आवाजों के बारे में जानते हैं, एक स्थान या वस्तु से दूसरे स्थान या वस्तु की दूरी के बारे में जानते हैं, दबावों के बारे में जानते हैं, जलवायु के बारे में जानते है इत्यादि और इन्हीं से सम्बन्धित हमारे विचार हैं, हमारी वेदनाएँ, हमारी इच्छायें और हमारी स्मृतियां। यह जो सूक्ष्म ताना-बाना है, इसी में से सापेक्ष दृष्टि से जो अधिक स्थायी है, जो भाषा का विषय बन सकता है, वह प्रमुखता प्राप्त कर लेता है। इन्हीं क्रिया-कलापों में से कुछ को जो सापेक्ष दृष्टि से कुछ स्थायित्व लिये हुए हैं, हम 'चीजें' कहने लगते हैं। इन में से कोई भी उलझा हुआ क्रिया-कलाप सर्वथा अपरिवर्तन शील नहीं है। एक 'चीज' को हम तभी तक अपरिवर्तन शील मान लेते हैं, जब तक उस के ब्योरे के विचार करने की आवश्यकता नहीं होती। हम सामान्य रूप से पृथ्वी को एक

गोलाकार पदार्थ कह देते हैं, लेकिन यह तभी तक जब तक बहुत नपीतुली शब्दावलि का प्रयोग करने की आवश्यकता नहीं होती। लेकिन यदि हम किसी पर्वतीय खोज में लगे हों, तो हम पृथ्वी अपने गोलाकार रूप से जो कुछ इधर उधर है, हम उस की उपेक्षा नहीं कर सकते। ऐसी अवस्था में हम उसे गोलाकार नहीं कह सकते। इसी प्रकार आदमी का व्यक्तित्व भी रूप तथा नाम का सम्मिश्रण है। नाम के अन्तर्गत गिनी जाती हैं सभी वेदनायें, सभी संज्ञायें, सभी संस्कार तथा सभी विज्ञान। प्रो. चार्ल्स् रिचेट का कथन है, 'आदमी का व्यक्तित्व सर्व प्रथम अपने भूतकाल के जीवन से उत्पन्न होता है, फिर जितनी भी वेदनाएं उत्पन्न होती हैं, वे इस की उत्पत्ति का कारण बनती हैं। और भीतरी इन्द्रियों की वेदनाएं, और बाह्य जगत की वेदनायें। ओर जो हम प्रयास करते हैं, जो शरीर-श्रम करते हैं, उस सब की चेतना।' जैसे दूसरी कोई भी चीज़ नित्य नहीं होती, उसी प्रकार आदमी का व्यक्तित्व भी नित्य नहीं होता। इस की दिखावटी नित्यता का कारण है परिवर्तन की गति का अत्यन्त धीमा होना और उस के पर-रूप का पूर्व-रूप से समानता बनी रहना।

आधुनिक मानसशास्त्र की दृष्टि से आत्मा की कल्पना उस तर्कना का परिणाम है जिस के अनुसार जो कुछ हम नहीं जानते वह जो कुछ हम जानते हैं कि व्याख्या है। शरीर से स्वतन्त्र किसी आत्मा के अस्तित्व को अप्रमाणित कर सकना कठिन हो सकता है, क्यों कि हमारे अनुभव में अनेक ऐसी बातें आती हैं जिन की हम व्याख्या नहीं कर सकते। लेकिन यह कोई वैज्ञानिक सुझाव नहीं है और इस को लेकर किसी खोज बीन के चक्कर में पड़ना भी, जैसा कि प्रो माख का कहना है, एक पद्धति की विकृति मात्र है। शब्द आदमी पर कुछ रहस्यवादी प्रभाव डालने की सामर्थ्य रखते हैं। उन की सामर्थ्य है कि वे अत्यन्त विवेकशील आदमी पर भी अपना असर डाल देते हैं। जिस किसी बात को हम हृदयङ्गम नहीं कर पाते, उस के सम्बन्ध में यदि हम कुछ भी सिद्धान्त उपस्थित कर सकें तो आदमी का मस्तिष्क उतने मात्र से संतुष्ट हो जाता है। हम नहीं जानते कि जीवन का वास्तविक रूप क्या है, हम नहीं जानते कि एक बीज पौदा कैसे बन जाता है, हम नहीं जानते हैं कि गर्भ में भिन्न भिन्न अंगों का विकास कैसे हो जाता है, हम नहीं जानते कि पशुओं में कैसे कैसे परिवर्तन हो जाता है, तो हम में से कुछ खोजी हैं जो किसी न किसी सही व्याख्या के अभाव में किसी भी सिद्धान्त को अपना लेंगे। विज्ञान की परिस्थिति उन्हें मजबूर करती है कि वे बार बार अपने सिद्धान्तों में परिवर्तन किया करें। अनुकूलता मुख्य तत्व का स्थान ले लेती है, प्रभावी आत्मा के स्थान पर आ बैठते हैं, जब हम अणु तक नहीं पहुंच सकते तो हम उस एलैक्ट्रोन को उस का स्थानापन्न बना देते हैं, जिस तक हम नहीं पहुंच सकते। इन शब्दों की घण्टी की आवाज हमारे अज्ञान पर गिलाफ सा चढ़ा देती है और हम व्याख्या के बिना भी संतुष्ट हो जाते हैं।

अनुभव की जितनी भी बातें हैं उन्हें क्रम-बद्ध करने के लिये और उन का वर्णन करने के लिये मानस-शास्त्र को इतना ही करणीय है कि वह एक चित्त-सन्तति को स्वीकार करे, हर चित्त दूसरे से सर्वथा पृथक, लेकिन शेष सभी चित्तों का बोध रखने वाला और परस्पर एक दूसरे को उपयोग में लाने वाला । इस की तनिक भी आवश्यकता नहीं है कि हम चित्त-सन्तति से बाहर किसी अनुभव कर्ता के अस्तित्व को स्वीकार करें । चैतसिक व्यक्तित्व को जिस एकता की आवश्यकता है, उस के विकास के लिये किसी निरपेक्ष अपरिवर्तनशील सत्ता की कल्पना करने की कोई आवश्यकता नहीं । इस के लिये इतना ही आवश्यक है कि हम यह मान कर चलें कि कुछ मानसिक तत्व हैं जिन की परिवर्तनशीलता की गति दूसरे मानसिक तत्वों की अपेक्षा कम है । और इस प्रकार के सापेक्ष दृष्टि से नित्य पदार्थ हमें मिलते हैं 'अवयवी' वेदनाओं में, उस अभ्यस्त भावनात्मक प्रवृत्ति में जो उन्हें स्वरूप प्रदान करती है और उन संस्कारों में जिस से चैतसिक जीवन के आरम्भिक कर्मों में चित्त अभिसंस्कृत हुआ है । यथार्थ में तो हम इन में से किसी को भी स्थायी और अपरिवर्तनशील नहीं कह सकते । एक आदमी की तरुणाई में जो उस की अवयवी वेदनायें होती हैं, वे वे ही नहीं होती, जो बचपन में होती हैं या वृद्धावस्था में । कोई की चैतसिक धर्म, भले ही वह अवयवी अनुभूति हो या वेदना हो, जीवन के आरम्भ से अन्त तक एक जैसा नहीं ही रहता । लेकिन समय समय पर जो वेदनायें और जो विचार चित्त के अन्तर्गत उत्पन्न होते रहते हैं, उन से तुलना करने पर अवयवी अनुभूतियों और भावनात्मक वेदनाओं में जो परिवर्तन होते हैं, उन की गति इतनी मन्द होती हैं कि इस सापेक्ष स्थिरता से ऐसा भ्रम पैदा हो जाता है कि जो नित्य आत्मा है वह परिवर्तन शील वेदनाओं और विचारों से पृथक है । मानस-शास्त्र का उद्देश्य ही है कि इस प्रकार के भ्रम का निवारण कर दे । आधुनिक मानस शास्त्र के अधिकारी विद्वान प्रो. जेम्ज़ ने लिखा है, "अपने आप के सम्बन्ध में जो चेतना है, उस का मतलब है चित्त संतति, जिस का हर हिस्सा 'मैं' बनकर जो कुछ पूर्व में घटा उस का स्मरण रखता है, और इस बात का भी स्मरण रखता है कि उस ने स्मरण रखा है, और उन्हीं में से कुछ चित्तों को 'मुझे' का रूप दे दिया जाता है और शेष चित्तों का भी इन्हीं के अन्तर्गत समावेश हो जाता है । 'मुझे' जिस के गिर्द घूमती है, वह वही शारीरिक चेतना होती है, जो उस समय विद्यमान और वर्तमान रहती है । जो भी स्मृतिगत भूतकाल की वेदनाये हैं, वे इन वर्तमान वेदनाओं से मेल खाती हैं, वे भी उसी 'मुझे' की मलकियत होती है । इसी वेदना के साथ जो दूसरी दूसरी बातें सम्बन्धित लगती हैं, वे भी उसी 'मुझे' के अनुभवों का हिस्सा मालूम देती हैं, और उन में से कुछ अपने में 'मुझे' का ही एक अंग मालूम देते हैं, जैसे कपड़े, भौतिक वस्तुएँ, मित्रगण, गौरव या सत्कार जो उसे प्राप्त हुआ हो या प्राप्य हो । यह 'मुझे' जिन बातों की जानकारी प्राप्त की गई है, उन का एक व्यव-

हारिक समग्र–भाव है । जो 'मैं' उन का जानकार है, वह अपने में उस समग्र–भाव का एक अंश नहीं हो सकता । उसे मानसिक कारणों से भी एक अपरिवर्तनशील सत्ता नहीं स्वीकार करनी चाहिये, किसी अकालिक आत्मा की तरह । यह पिछले क्षण के विचार से सर्वथा भिन्न एक विचार–मात्र हैं, लेकिन बाद के विचार को अपना करके अपना लेने वाला । जितने भी अनुभव हैं, वे सभी इस के अन्तर्गत गिने जाते हैं, और उन पर किसी भी सिद्धान्त का भार नहीं लादा जाता है, सिवाये इस के कि ये चालू विचार हैं या चित्त की स्थितियां है ।" अन्यत्र इसी लेखक ने लिखा है, "यदि उस विचार का परीक्षण किया जा सकता हो, जिस के बारे में सभी का मतैक्य है, तो वही चिन्तन चिन्तक का भी रूप धारण कर लेता है ।" इसी प्रकार आचार्य बुद्धघोष ने भी अपने विशुद्धि मार्ग में कहा है, "ठीक ठीक कहें तो जीवित प्राणी की आयु क्षणभर की ही होती है, जैसे एक रथ का पहिया अपने घेरे के एक पाइंट पर ही खड़ा रहता है, ठीक इसी प्रकार जीवित प्राणी का जीवन एक चित्त–क्षण भर का ही होता है । ज्योंहि एक चित्त–क्षण समाप्त हो जाता है, माना जाता है कि जीवित प्राणी का जीवन भी समाप्त हो गया । कहा ही गया है कि भूत काल का चित्त–क्षण जी चुका हैं, न जीता है, न जीयेगा; वर्तमान काल का चित्त–क्षण जीता है, न जिया था, न जीयेगा; भविष्यत्–काल का चित्त–क्षण न जीता था, न जीता है ।"

जिन्हें मानसिक क्रिया–कलाप में कुछ ऐसा दिखाई देता है जो उन की दृष्टि में अव्याख्येय है तो वह 'आत्मा' के लिये पियानो बाजे को उपमेय बनाते हैं । हैरबर्ट स्पैन्सर का कहना है कि विचार पियानो के उन तारों और उन से निकलने वाली स्वर–लहरी के समान हैं, जिन में से किसी भी एक तार की स्वर–लहरी आरम्भ होते ही पहले के तार की स्वर–लहरी अनायास निःशब्द हो जाती है । और उस के बाद यह कहना की उन तारों से उत्पन्न स्वर–लहरी पियानो में बनी रहती है कहना उतना ही ठीक होगा कि विचार दिमाग में विद्यमान रहते हैं । जैसा एक हालत में वैसा ही दूसरी हालत में यथार्थ वस्तु वह ढांचा है जिस से जैसे एक परिस्थिति में वैसे ही दूसरी परिस्थिति में भी अपेक्षित स्वर–लहरी प्रकट होती है । लेकिन डा. मोडस्ले ने यह प्रकट कर दिया है कि यह उपमा समीचीन नहीं है । अपनी 'मस्तिष्क की रचना' पुस्तक में प्रो. साहब ने लिखा है – "उस उपमा का जब हम विचार करते हैं तो ऐसा लगता है कि यह आकर्षक तो बहुत है, लेकिन अधूरी हैं । प्यानों और दिमाग दोनों हालतों में जो प्यानों बजाने वाला और सोचने वाला रहता है, उन के बारे में कुछ कथनीय है या नहीं ? क्या बाजा बजाने वाला इतने महत्व का नहीं है कि उपमा की पूर्ति के लिये उस का होना अनिवार्य माना जाय ? प्यानो के तारों में से स्वर–लहरी तभी बाहर आ सकती थी, जबकि वह पहले से प्यानो बजाने वाले के दिमाग में रहती । तब उस के समान्तर दिमाग में वे ताल–मेल मिले चिन्तन कहाँ हैं जो बाद में प्रकट

होते हैं ? यदि श्री. स्पैंसर का विचार है कि व्यक्ति का चिन्तन उस के दिमाग से एक सर्वथा पृथक अस्तित्व है और वह उस के स्नायु-संस्थान को ऐसे ही संचालित करता है जैसे प्यानो बजाने वाला प्यानो बजाता है, तब उस की उपमा पूरी है। लेकिन यदि नहीं तो उस ने एक ऐसी उपमा उपस्थित की है, जो लोग उसी की तरह के विचार रखते हैं, वे उस का विचार करेंगे । दिमाग के तारों और उत्पन्न होने वाली स्वर-लहरी में प्यानो के तारों और उन से उत्पन्न होने वाली स्वर-लहरी में यह भेद-विशेष है और वह महत्वपूर्ण है कि प्यानो की हालत में तारों से उत्पन्न स्वर-लहरी निरुद्ध हो जाती है और अपना कुछ भी अंश अवशिष्ट नहीं छोड़ती, लेकिन दिमाग की हालत में वे बिना अपना कुछ न कुछ प्रभाव छोड़े अवरुद्ध नहीं होतीं । समय बीतने पर एक परिष्कृत प्यानो में और एक परिष्कृत दिमाग में जो भेद हैं, वह स्पष्ट हो जाता है। और सम्भवतः इसी से अधिक समय बीतने पर एक जंगली आदमी के दिमाग में और श्री. स्पैंसर के दिमाग में जो फर्क है, उसका आविर्भाव हुआ है । दिमाग की हालत में उस की प्रक्रिया से योग्यता प्रकट होती है । यही बात हम प्यानो के बारे में नहीं कह सकते ।

डेसकारटे और उस के अनुयाइयों का कहना है— मैं सोचता हूं, इस लिये मैं हूं। हां, लेकिन यह 'मैं सोचता हूं' केवल मेरे अस्तित्व का अनुभव है । इस से मुझे इतना ही पता लगता है कि मैं हूं, यह नहीं कि मैं क्या हूं और इस लिये यह भी नहीं कि मैं विचार करने वाला आत्मा हूँ । जो कुछ हमें जानकारी मिलती है वह जानकारी के बारे में ही मिलती है, वह अपने बारे में नहीं । कान्ट का कहना है 'जहां तक मैं विचार करता हूँ और जानना चाहता हूँ कि मेरे अन्तरतम में क्या है, मैं हमेशा किसी न किसी वेदना के संपर्क में आता हूँ, जैसे ठण्ड, गरमी, प्रकाश, छाया, प्रेम या घृणा, या दुःख । ऐसा कभी नहीं होता कि मैं अपने चित्त के सम्पर्क में आऊं और वहाँ मेरा किसी भी वेदना से किसी भी अनुभूति से कभी आमना-सामना न हो । मैं संज्ञाओं के व्यतिरिक्त अवस्था को कहीं कभी भी देख ही नहीं पाता । यदि कोई दूसरा आदमी गम्भीर चिन्तन के बाद और बिना किसी पक्षपात के सोचता है कि उस का अपने बारे में कोई दूसरा विचार है, मैं स्वीकार करता हूं कि मैं उस आदमी से और तर्क-वितर्क नहीं कर सकता । उस के बारे में जो अच्छी से अच्छी बात कह सकता हूँ वह यही कि वह शायद उतना ही सही है, जितना कि मैं हूं, और इस विषय में हम दोनों की प्रकृति सर्वथा भिन्न है । यह सम्भव है कि उसे किसी सरल स्थायी तत्व के दर्शन होते हों, जिसे वह अपना-आप कहता है । लेकिन जहाँ तक मेरी बात है मैं इस बात में असन्दिग्ध हूँ कि मुझे ऐसा कोई तत्व दिखाई नहीं देता । 'मैं हूँ' यह अनुभव उतना सरल नहीं है । जिस समय 'मैं' अपने बारे में चैतन्य बनता हूँ, उसी समय 'मैं' उस के बारे में भी चैतन्य बनता हूँ जो 'मैं' नहीं हूँ।

किसी भी आन्तरिक संज्ञा की अनुभूति तभी होती है जब उस की प्रतिस्पर्धा करने वाली किसी बाह्य संज्ञा की भी अनुभूति होती है। बिना तदकालीन बाह्य अनुभव के कोई भी भीतरी अनुभव संभव ही नहीं । न आन्तरिक अनुभूति और न बाह्य अनुभूति का सीधे सीधे अनुभव होता है, हमें केवल तदसम्बन्धी चेतना की अनुभूति होती है जो भीतरी तथा बाह्य दोनों प्रकार की अनुभूतियों को अपने भीतर गृहीत रखती है। यह 'मैं' का पक्ष और विपक्ष हैं जो मूल में हैं। 'मैं' और 'मैं नहीं' परस्पर एक दूसरे के प्रत्यय बनते है, बिना दूसरे के एक का विचार भी नहीं किया जा सकता । क्योंकि उन की विशेषता ही है परस्पर एक दूसरे का विरोधी होना, बिना 'मैं नहीं' के 'मैं' का विचार भी जन्म ग्रहण नहीं करता, क्योंकि बच्चे आरम्भ में अपने बारे में प्रथमपुरुष में बात करते हैं। व्यक्तित्व के हर विचार के साथ अन्योन्याश्रिता जुड़ी हुई है। श्री. कारवेथ रीड ने लिखा हैं कि व्यक्तित्व का सार है अवयवों की समग्रता। यदि अचानक किसी के लिये यह संभव हो कि वह अपने सभी मानव-बन्धुओं से पृथक् पालित पोषित हो सके तो वह वेदनाओं और विचारों में भेद तक नहीं कर सकेगा और वह विश्व के विरुद्ध 'मैं' की भी कल्पना न कर सकेगा । उस के लिये सभी अनुभव एक ही प्रकार के होंगे। जब जैसे नशे में या गहरी नींद में 'मैं नहीं' का सर्वथा लोप हो जाता हैं, तो 'मैं' भी नहीं रहता । एक मात्र अद्वैत वेदान्ती ही जो चेतनता के अभाव को चेतनता से बढ़कर समझता हैं कल्पना करेगा कि वह सुशुप्ति की अवस्था में आत्मा का साक्षात्कार कर रहा है । जो 'मैं' कहलाता है और जो कहता है कि 'मैं हूँ' वह केवल पांचों स्कन्धों का समूह मात्र है, रूप, वेदनाओं, संज्ञाओं, संस्कारों तथा विज्ञान का। यह इन के पीछे रहने वाली कोई अनन्त अपरिवर्तन शील सत्ता नही है। 'मैं' शब्द जस का तस रहता है, लेकिन यह जिन का द्योतक हैं वे अस्तित्व लगा तार बदलते रहते हैं । यह बच्चे में उत्पन्न होता है उस की अपनी स्वकीय वेदना के साथ और पहले तो यह एक लड़के का द्योतक होता है, तब एक तरुण का, तब एक आदमी का और अन्त में एक वृद्ध पुरुष का । उन में जो समानत्व है या एकत्व है, वह केवल मर्यादित अर्थ में ही । जैसा तथागत ने कूट-दन्त सूत्र में कहा है, सातत्य से समानता झलकती है। जैसे पानी तो लगातार बदलता रहता है, तब भी हम नदी या चशमे के एकही जैसा बना रहने की बात करते हैं, या दीपक की लौ की उस समय-विशेष पर और दूसरे समय-विशेष पर भी । होता यह है कि बत्ती और तेल के भिन्न भिन्न हिस्से जलते रहते हैं। हो सकता है कि बीच थोड़ी देर के लिये दीपक की लौ बुझी भी रही हो । 'मैं' की एकरूपता का जो मुख्य कारण है, वह कुछ वेदनाओं और संस्कारों का बार बार उत्पन्न होते रहना और निरुद्ध होते रहना है और वे एक स्थायी सामग्री प्रतीत होने लगते हैं । ये मुख्य रूप से अपने ही शरीर की वेदनायें होती हैं, लेकिन उनके अन्तर्गत हमारे हालात में होने वाली दैनिक वेदनायें भी रहती हैं। कल्पना-प्रधान

दार्शनिक के लिये भी यह सम्भव नहीं है कि वह अपने आत्मा नुबोध को अपनी भावनाओं और वेदनाओं से पृथक कर सके । यह भावनायें और वेदनायें ही उस के 'मैं' की इन्द्रियजन्य पृष्ठभूमि हैं । इस लिये साररूप से कहना हो तो यह भी वेदनाओं की समग्रता है, जिन में संप्रत्यक्ष की ही प्रमुखता रहती है और आदमी के आत्मानुबोध के साथ जो भावनायें और वेदनायें जुड़ी हैं उनका स्थान द्वितीय रहता है । चित्त-सन्तति के बहाव में जो शरीर सम्बन्धी वेदना है, वह सापेक्ष दृष्टि से स्थायी अंश जैसी प्रतीत हो सकती है। चित्त-सन्तति की पृष्ठ-भूमि में यह घण्टों बनी रह सकती है, लेकिन यह भी किसी भी अर्थ में अपरिवर्तन शील नहीं। संक्षेप में कहना हो तो 'मैं' उस एकता का प्रतिनिधित्व करता है जो अभ्यस्त वेदनाओं और विचारों से उत्पन्न होती हैं। इसी एकता को लेकर आदमी कहता है, 'मेरा शरीर', 'मेरा आत्मा'। तदनुसार जो अहं की एकता है उसे आध्यात्मिकों के एक ही तत्व से कुछ लेना-देना नहीं । एक अपरिवर्तन शील अकेला 'मैं' कोरी कपोल कल्पना है। परिवर्तन तो स्वयं चित्त का नियम है। जैसे हम उस आत्मा की बात करते हैं, जो आदमी के शरीर, मन और चरित्र का स्वामी माना जाता है, उसी प्रकार हम पानी के बुलबुले की भीतर की गुठली की भी बात कर सकते हैं। प्रो. अलोइ ऋहल ने इस का वर्णन यह कहकर किया है कि 'मैं' भीतर से अंगीकृत संक्षिप्त अभिव्यक्ति है उस व्यक्तिगत जीवन की एकता की जो बाह्य इन्द्रियों के परस्पर क्रिया शील अंगों की क्रिया-प्रतिक्रिया है।

इस बात पर अधिक जोर नहीं दिया जा सकता कि जो चैतसिक धर्म हैं वे परस्पर संलिष्ट ढंग से क्रिया शील होते हैं। वे एक दूसरे से सर्वथा पृथक परमाण नहीं है, बल्कि यद्यपि बिना किसी नियम के एक दूसरे से कटे कटे रहते हैं, तो भी वे चित्त-सन्तति के प्रवाह हैं, एक लगातार ताना-बाना है। अब यह ताना-बाना अकेला नहीं है। इस तरह के एन्द्रिक छिद्र अनेक हैं, जिन में चैतसिक स्थितियों का समावेश हो जाता है। और इन में से एक चैतसिक छिद्र है 'मैं' की अनुभूति। दूसरे चैतसिक धर्म उपचित्त, अवचित्त तथा अचित्त का निर्माण करते हैं। परिस्थिति-विशेष में वे सचित्त 'मैं' के अंगीभूत हो जा सकते हैं। चेतन और अचेतन में मुख्य भेद यह है कि जो सम्बन्ध घटनाओं का निर्णय करते हैं, उन में से कुछ इस प्रपंच के साथ लगे रहते हैं अथवा फिर चेतना के अन्तर्गत आते ही नहीं। लेकिन अचेतन को लेकर भी कहीं कोई रहस्य-पूर्ण बात नहीं है। हो सकता है प्राकृतिक प्रपंच का यह कोई बहुत उलझा हुआ स्वरूप हो। कुछ उपयोगितावादी अचेतन मन को जो अतिरिक्त महत्व देते हैं, उस का भी कोई औचित्य नहीं। एम. ऐबल रे ने अपनी आधुनिक दर्शन नाम की पुस्तक में लिखा है कि अचेतन मन न्यून जीवन का प्रतिनिधित्व करता है । जहाँ तक चेतन मन से सम्बन्ध हैं, अचेतन मन कुछ वैसे ही है जैसे भ्रूण और बालिग आदमी अथवा जैसे

कोई दो कौड़ी का बर्तन हो और कोई कीमती धातु हो । यह मृत भूत काल का भार मात्र है और जो मृतप्राय है । जिस कार्य शीलता की अचेतन मन एक प्रति-श्रुति मात्र है, क्योंकि उस कार्य शीलता की सामर्थ्य और उपयोगिता नष्ट हो चुकी है, इसलिये यह अन्धारप्रविष्ट हो गई है। या तो चेतन मन की कार्य शीलता के साथ अचेतन मन अपना मेल बैठा लेता है और अपने आप कार्यरत हो जाता है या उस के साथ बेमेल ही रहता है और तब एक हानिकारक यथार्थ सिद्ध होकर अदृश्य होने लगता है । दोनों हालतों में हम एक ही परिणाम पर पहुंचते हैं कि चेतन–मन ही संचालक है और इस का प्रकाशमय तर्क ही हमारे कार्यों का दिशा–निर्देश करता है ।

यह जोर देकर कहा जाता है कि व्यक्तित्व एक कारण है, प्रत्येक चैतसिक प्रयास का परिणाम है और कि प्रत्येक विचार इरादे से उत्पन्न होता है, संक्षेप में कहना हो तो इस का मतलब है कि "मैं" की उत्पत्ति सोत्पत्ति है। सोत्पत्ति और "मैं" की आत्म-क्रिया शीलता का इतना ही तात्पर्य्य है कि हम में से हर कोई अपने आप चित्त की क्रिया–परिपाटी में हस्तक्षेप कर सकता है, उन पर दृष्टिपात कर सकता है, उन की उपेक्षा कर सकता है, उन का विश्लेषण कर सकता है और एक दूसरे से मुकाबला कर सकता है। यह माना जाता है कि इस से कार्य शीलता की कल्पना के मूलाधार के तौर पर एक आरम्भिक चैतसिक क्रियाशीलता का होना सिद्ध किया जा सकता है । लेकिन कैसे ? क्या यह सम्भव नहीं है कि वेदना, संज्ञा, संस्कारों से निर्मित कर्ता की उन्हीं वेदना आदि पर अपनी प्रतिक्रिया हो ? स्कन्धों में से संस्कारों, संज्ञाओं और रूप का मूलाधार वे चित्त के ऐसे सातत्य का प्रतिनिधित्व करते हैं, जो मुख्य रूप से समान–रूप धारी है और इस लिये उन की कल्पना किसी के भी मूलाधार के रूप में की गई है । वे निरन्तर ऐसी परिवर्तन-शील वेदनाओं के विरोध में उपस्थित हैं जिन में आदमी के शरीर के विचार का मुख्य स्थान है । ठीक ठीक कहना हो तो इन्द्रिय वेदनाओं के संस्कार तब तक अपने नहीं बनते जब तक उन्हें एक दूसरे के सम्बन्ध की भाषा में योग्य स्थान नहीं मिलता । इसी अर्थ में हम कह सकते हैं कि जिसे आदमी वास्तव में अपना कह सकता है वह उस की इच्छा–शक्ति ही है । लेकिन इस का यह मतलब नहीं कि इच्छा–शक्ति मात्र में क्रियाशीलता निहित है। जो कुछ सोचा जा रहा है वह इतना ही कि कारण और कार्य का क्रम चित्त को लेकर कैसे कार्यरत होता है । यदि हम इच्छा–शक्ति में "प्रयास" के लिये कुछ आधार खोजने निकलें, हम हमेशा कुछ अनुभूतियों पर रुक जाते हैं । क्रिया–शीलता, आन्तरिक कार्य–गति का तो सीधा कुछ भी पता नहीं चलता । जो इच्छा–शक्ति विचारों और उन के प्रभावों को प्रभा वेत करती है, उस का तो कहीं पता ही नहीं । अपने "विश्लेषणात्मक मान ' शास्त्र" नाम के ग्रन्थ में प्रो. स्टाउट ने लिखा है कि यह स्पष्ट ही है कि यदि हमारा सारा का सारा चित्त बाह्य कारणों पर ही निर्भर करता है, तो कहीं

भी निकटस्थ कारणत्व के लिये कहीं कोई स्थान नहीं है। ऐसे किसी चैतसिक का पता लगना असम्भव है जिस की उत्पत्ति केवल भीतर से ही हुई हो। यह कहा जाता है कि आदमी की इच्छा-शक्ति स्वतन्त्र है। हां, जितनी मात्रा में वह आत्म-निर्भर होती है, उतनी मात्रा में वह स्वतन्त्र होती है। लेकिन जब ऐसे कारणों से जो उस व्यक्ति के लिये एकदम बाह्य थे, उस व्यक्ति की इच्छा शक्ति मर्यादित हो जाती है तब यह कहा जा सकता है कि उस आदमी की इच्छा शक्ति स्वतन्त्र नहीं है। लेकिन जब तक किसी के निश्चय और कार्य जो कुछ वह जानता है, सोचता है और अनुभव करता है अर्थात जो कुछ उस की अपनी प्रकृति का हिस्सा है, तब तक उस की इच्छा-शक्ति भी स्वतन्त्र है। ऐसा होने पर भी उस की इच्छा-शक्ति इस अर्थ में स्वतन्त्र नहीं है कि उसे कारण-कार्य के नियम से ही मुक्त मान लिया जाय। इच्छा शक्ति के हर कार्य का निश्चय सकारण होता है, लेकिन यह संभव है कि इच्छा शक्ति के प्रत्येक कार्य के निर्णायक कारण का हमें ज्ञान न हो। आधुनिक मानसशास्त्र ने यह दिखा दिया है कि जो स्पष्ट रूप से चित्त के क्षेत्र में आता है उस में क्षुधा सम्बन्धी, स्मृति सम्बन्धी, चिन्तन सम्बन्धी और तर्क करने से सम्बन्धित हर कार्य उस के अन्तर्गत समाविष्ट नहीं होता। हम से हर कोई अपने अधिकांश हिस्से का उतना ही कम जानकार हैं, जितना कम वह किसी सुदूर लोक में घटित होने वाली घटना के बारे में हो सकता है। क्योंकि चित्त तो व्यक्ति का होता है, लेकिन वह चित्त जिस पर आधारित होता है, उस का सम्बन्ध सारी नसल से रहता है। अविद्या से संस्कार पैदा होते हैं, जो चेतना और चरित्र के मुलाधार हैं। चेतना, जिसे चित्त की एक अवस्था माना जाता है वह केवल कर्तृत्व की एक कामना है जो काम्यता की ओर झुक जाती है, लेकिन जिस में कुछ भी करने की सामर्थ्य नहीं। जो कार्य या जो भी हलचलें चेतना के साथ देने वाली होती हैं वे संस्कारों, वेदनाओं, संज्ञाओं और विज्ञानों से सीधे उत्पन्न होती हैं जो सब मिलकर एक चुनाव की शक्ल में एकरूप हो जाते हैं। चुनाव में जो मानसिक हलचल रहती है, उस का एक हिस्सा मात्र चित्त का हिस्सा बनता है, और अचेतन मन तक उन की पहुंच भी नहीं होती। किसी के चित्त की सतही कारंवाई शक्ति के उत्पादक के रूप में इच्छा-शक्ति को गलत दिशा में भी ले जा सकती है, क्योंकि कारण-कार्य की कड़ी बहुधा अदृश्य ही रहती है। लेकिन गहराई से चिन्तन करने पर यही प्रकट होता है कि इच्छा-शक्ति के द्वारा जो कुछ भी सम्पन्न होता है और कि इच्छा-शक्ति से घटित होने वाले हर कार्य में कोई नई इच्छा-शक्ति नहीं रहती। और इस बात की भी आवश्यक्ता नहीं है कि "मैं" का परा-प्राकृतिक अस्तित्व स्वीकार किया जाय ताकि हम इस में यथार्थ कारण-कार्य वाद के दर्शन कर सकें। चेतना चित्त का कार्य है, चेतना चित्त की मिलकीयत नहीं है, श्री. बेनेट का कथन है।

ऊपर के सन्दर्भ में "मैं" की क्रिया शीलता चित्त के विद्यमान तत्वों के साथ

खिचड़ी पकाती है और अपनी हलचल से चित्त के अन्दर की नई सामग्री को जन्म देती है । इस प्रकार हम चित्त की उपादान सामग्री को दो भागों में विभक्त कर सकते हैं, एक वह जो केवल "प्राप्त" है और दूसरे वे जिन्हें हम स्वयं उत्पन्न करते हैं अथवा जिन्हें हम जब चाहें तब उपस्थित कर सकते हैं। जब चित्त का कोई अंश हमें ऐसा लगता है कि यह परम्परा प्राप्त है, हम न उस को अपनी इच्छानुसार मिटा सकते हैं न परिवर्तित कर सकते हैं। जब मैं एक हरे पेड़ के सामने खड़ा होता हूँ, चाहे मैं चाहूँ और चाहे न चाहूँ मैं हरे पेड़ को देखता हूँ। लेकिन दूसरी ओर जब मैं स्मृति-गत पेड़ को याद करता हूँ, तो यह दूसरी ही बात होती है । वृक्ष का जो मानसिक चित्र है, उस पर मेरा पूरा काबू रहता है । मैं जब चाहूं, इसे परिवर्तित कर सकता हूँ अथवा उस का कोई स्थानापन्न दूसरा चित्र स्मृतिगत कर सकता हूँ । पहली प्रकार का चित्त का प्रपंच बाह्य जगत के निर्माण के लिये मूल उपादान सामग्री उपस्थित करता है, दूसरी प्रकार का प्रपञ्च सामान्यतया चित्र का रचनाकार माना जाता है, आदमी की अपनी कल्पना की उत्पत्ति । एक हरे पेड़ को देखने और एक हरे वृक्ष का संस्मरण करने में जो अन्तर है वह इतना स्पष्ट है कि उसे लेकर कोई विवाद हो ही नहीं सकता। हमें यह बात स्पष्ट दिखाई देती है कि दोनों बातें दो भिन्न भिन्न क्षेत्रों में घटने वाली घटनायें हैं । जिस उपादान सामग्री से दोनों की निर्मिति हुई है वे और उन का सम्बन्ध एक ही चीज नहीं है । लेकिन दोनों बातों की प्रमुख प्रकृति एक ही है और उन तत्वों से भिन्न नहीं है जो "मैं" की रचना करते हैं । वह उपादान सामग्री हमेशा वेदनाओं की, विचारों की ही रही है । जब हम देखते हैं कि दूसरे प्रकार की चित्त-वृत्ति का प्रपंच उस क्रिया शीलता का परिणाम हैं जो कि उस के अपने चित्त में विद्यमान है, तो हमें इस बात का लोभ होता है कि पहली प्रकार की चित्त-वृत्ति के प्रपंच को भी एक वैसी ही अज्ञात क्रियाशीलता की उपज स्वीकार करें । बरकले और दूसरे अहंवादी लोग यही बड़ी भूल करते हैं। उस से आगे बढ़कर यदि कोई "मैं" के बारे में यही सोचता है कि यह कोई आध्यात्मिक तत्व है, स्वाभाविक तौर पर वह समस्त जगत को लेकर इसी प्रकार के मन को अपना लेता है। इसी तरह से आत्माओं, प्रेतों, देवताओं तथा परमात्मा सम्बन्धी मिथ्या-सिद्धान्तों से उत्पन्न कल्पनाओं का निर्माण हुआ है । इस प्रकार की पराप्राकृतिक काल्पनिक सत्ताओं की मान्यताएँ ही तर्क-शुद्ध चिन्तन के मार्ग में सब से बड़ी बाधा बनकर खड़ी हैं । जैसा कि कान्ट ने भी कहा है कि "परा-प्राकृतिक मान्यताएँ अपने अनुभव के क्षेत्र में भी तर्क के प्रयासों को निकम्मा बना देती हैं ।" क्योंकि जब भी हमें किसी प्राकृतिक प्रपंच को समझने में कठिनाई होती है, हम बड़ी आसानी से किसी पराप्राकृतिक व्याख्या को स्वीकार कर लेते हैं और तब हम खोज-बीन के प्रयासों के ऊपर उठ जाते हैं ।

मानवी व्यक्तित्व शरीर और मन का एक सम्मिश्रण है । ठीक ठीक कहें तो

देह–विमुक्त 'आत्मा' कोई आत्मा ही नहीं। अमृतत्व के बारे में लिखते हुए उधर के ही एक लेखक ने लिखा है कि यदि किसी छाया के लिये एक नाम मात्र के अतिरिक्त अमृतत्व कुछ विशिष्ट है तो यह कोई ऐसा जीवन होना चाहिये, जिसे जीने वाले प्राणी एक दूसरे से जितने सम्बन्धित यहाँ हैं, उस से भी अधिक सम्बन्धित वहाँ हों। हम ऐसे अमृतत्व की कामना करते हैं कि जैसे अमृतत्व का बोध ये शब्द कराते हैं, वैसी स्थिति का; न किसी 'देहमुक्त आत्मा' अथवा 'पवित्र, अविभक्त, अभौतिक' तत्व की स्थिति का। व्यक्ति जीवन शरीरी होना ही चाहिये। भाषा की दरिद्रता और व्यवहारिक प्रचुरता हमें इस प्रकार के भाषा–प्रयोगों की अनुमति दे देते हैं जैसे कटा हुआ कोना, देहविहीन व्यक्तित्व। ऐसे सब शब्द अन्तर्विरोध के द्योतक हैं। जो बात अनेक बार दोहराई गई है, वह यह है कि आदमी का व्यक्तित्व उस की वेदनाओं, उस के विचारों आदि का सम्मिश्रण है। लेकिन क्योंकि हम चिन्तन की भूमि पर अंगों को अंगी से पृथक कर सकते हैं और जो कुछ अवशेष रहता है उसे भी वही नाम दे सकते हैं, इस लिये हमें यह अभ्यास हो गया है कि हम 'मैं' को अनुभूतियों, भावनाओं तथा विचारों का सम्मिश्रण मान लें, रूप विहीन नाम का। तब भी जो महत्व की बात है वह 'मैं' नहीं है, बल्कि जिन तत्वों से इस का निर्माण हुआ है और जिस तरह से वे आपस में सम्बन्धित हैं। यदि इतने से भी हमारा संतोष नहीं होता और हम पूछते हैं कि वह कौन है या वह क्या है जिस के ये भावनायें, ये विचार आदि अंग हैं ? और तब यह मान लेते हैं कि कोई परा–प्राकृतिक आत्मा है, तो हम एक तरह से उसी प्रवृत्ति के शिकार हो गये जो किसी सम्मिश्रण का बिना विश्लेषण किये ही यह मान लेना हैं कि यह अविभाज्य एकता है, ठीक ऐसे ही जैसे किसी द्वीप में रहने वाला एक नारियल में भी 'आत्मा' देखता है। यह आदिम अभ्यास – यह व्यक्ति के सम्मिश्रण का बिना विश्लेषण किये उस में एक व्यक्तित्व की प्रतिष्ठा करना मानस–शास्त्र में एकाधिक रूप में प्रस्फुटित हुआ है। पहले तो स्नायु–संस्थान को मानसिक क्रिया शीलता के केन्द्र के रूप में पृथक किया जाता है। फिर स्नायुसंस्थान में दिमाग को चुना जाता है कि यही चिन्तन का वास्तविक केन्द्र है और अन्त में उस काल्पनिक एकता को बनाये रखने के लिये उस दिमाग के भी छोटे से हिस्से के बारे में यह ठहरा लिया जाता है कि यही 'आत्मा' का केन्द्र बिन्दु है। यह ठीक गणितज्ञ के उस काल्पनिक बिन्दु के समान है, जिस की कहीं कोई लम्बाई चौड़ाई नहीं होती। इस प्रकार की कल्पना की जड़ता इस विश्लेषण से अधिक स्पष्ट हो जाती है, "एक श्री. एम को जो उस के अंग हैं उन्हें 'अंग' मानना चाहिये और फिर उसी के जो विचार हैं, उन्हें भी मेरा मानना चाहिये... तो जब वह कहता है मेरे पास दिमाग है तो इस का मतलब है कि जो दिमाग है, उस के अवशिष्ट व्यक्तित्व और उस के विचारों की मिलकीयत हैं। और फिर जब वह कहता है, मेरे पास विचार हैं तो उस का मतलब हुआ कि उस का जो अवशिष्ट अंश है और उस का

जो दिमाग है, विचार उस की मिलकीयत है । इसी प्रकार यदि हम इन कथनों का साधारणीकरण करते हैं तो हम कहते हैं कि हमारे पास विचार हैं, हमारे पास दिमाग है । हम कभी भी इस परिणाम पर नहीं पहुंचते कि दिमाग के पास विचार हैं । जो विचार हैं, वे निस्सन्देह मेरे अहं के हैं, लेकिन वह वैसे ही मेरे दिमाग के नहीं है, जैसे मेरा दिमाग मेरे विचारों का नहीं है । इस का मतलब है कि दिमाग को विचारों से कुछ भी लेना-देना नहीं है, न वह उन का स्थान है, न उन का उत्पादक है । इसी प्रकार विचार को भी दिमाग से कुछ लेना-देना नहीं है, न वे उस स्थान पर निवास करते हैं, न वहाँ से उत्पन्न हैं ।

जब तक आदमी 'मैं' को एक वास्तविक रहस्यपूर्ण स्थिति मानता रहता है और यह समझता रहता है कि जिन स्कन्धों तक हमारी पहुंच है, उस के पीछे यह अस्तित्व-विशेष है, तब तक उसे अनेक अनेक अन्तर्विरोधों और अनेक बेहूदगियों को लेकर हैरान होना ही पड़ेगा । लेकिन यदि हम यह समझ लें कि हमारा जो 'मैं' है वह अधिक सुसंगठित स्कन्धों का समूह मात्र है, जो कि दूसरे समूहों के साथ भी जुड़े हुए हैं तो हमें न किन्हीं कठिनाइयों का सामना करना पड़ेगा और न किन्हीं बेहूदगियों का मुकाबला करना पड़ेगा । तब हम को स्पष्ट रूप से यह दिखाई देगी कि कर्तृत्व की एकता की जो यह भावना है, यह कितनी सुविधा के साथ उत्पन्न होती है । उस के साथ ही हमारी कल्पना हमारे विचारों के साथ गमन करती है । हमारे विचार सारूप्यता के सिद्धान्त के अनुसार परस्पर जुड़े हुए हैं । और यह भी कि यह जो 'मैं' की मान्य एकता है, उस का क्या उपयोग है ? यह मानी हुई एकता 'अहं' को मर्यादित करती है और इस प्रकार व्यवहारिक जीवन में अत्यन्त उपयोगी सिद्ध होती है । जैसे जाति का पक्षपात, नसल का मोह, जातिय अभिमान, संकुचित देश भक्ति, किसी उद्देश-विशेष की पूर्ति के लिये बहुत मूल्यवान सिद्ध हो सकती हैं, इसी प्रकार हमारी जो इच्छा-शक्ति दुःख से भागती और सुख के पीछे भागती है उस का काम करने के लिये हमारे अहं का मर्यादित होना बहुत उपयोगी है । इस के बावजूद अहं की व्यवहारिक योग्यता की स्पष्ट मर्यादा भी नहीं है और यह अपरिवर्तन शील भी नहीं है । हम में से हर कोई जानता है कि वह अपने अपने 'अहं' को कैसे परिवर्तित करने की कोशिश कर रहा है । जब हम किसी के भी चरित्र को परिवर्तित करने की कोशिश करते हैं तो क्या यह 'मैं' के स्वरूप को ही परिवर्तित करने का प्रयास नहीं होता ? यदि सारा जगत उन्हीं स्कन्धों की निर्मिति है, जिन से हमारा 'अहं' बना है और यदि जगत जिन स्कन्धों से बना है, उन में से प्रत्येक स्कन्ध 'अहं' के निर्माण में हिस्सेदार बन सकता है, तो उस 'अहं' को ही इतना विकसित क्यों न किया जाय कि वह अपने भीतर सारे जगत को समेट ले । क्योंकि जिन स्कन्धों से एक व्यक्ति की रचना हुई है, वे परस्पर एक दूसरे से उस से अधिक सामीप्य के साथ जुड़े हुए हैं जितने

सामीप्य से वे दूसरे व्यक्तियों से जुड़े हुए हैं, वह कल्पना करता है कि वह अपने में एक ऐसी एकता है जो घुल मिल नहीं सकती और जिसे दूसरों से कुछ लेना-देना नहीं। पार्थक्य की भावना का मूल है ऐन्द्रिक अनुभूतियों की बहुलता, शारीरिक आवश्यकताओं की ओर जरूरत से अधिक ध्यान दिया जाना, शारीरिक वेदनाएँ और उन्हीं से पैदा होने वाले सैकड़ों संस्कार। हर आदमी कल्पना करता है कि वह आकाश में विद्यमान है क्योंकि वह अपने से ही सभी दिशाओं और सभी फासलों को मापता-जोखता है। उस की कर्तृत्व की चेतना जिस से उस की सभी इच्छायें उत्पन्न होती हैं, वह भी उत्तरदायी है। व्यक्तित्व के भ्रम का मूल आत्म-केन्द्रीकरण है और सभी आपसी झगड़ों-झंझटों का जो दुःख के सब से बड़े कारण हैं। लेकिन सामूहिक जीवन से पृथक व्यक्तिगत जीवन का भी कुछ मूल्य नहीं। हम में से हर एक के व्यक्तित्व में जो वास्तव में मानवीय गुण हैं, सत्यं, शिवं, सुन्दरम्, उस में कुछ न कुछ सर्व व्यापक तत्व विद्यमान हैं। एक दिमाग का जब दूसरे दिमागों से सम्बन्ध स्थापित होता है, तब ही ये सद्गुण उत्पन्न होते हैं और उन का साक्षात्कार होता है। व्यक्तित्व से बाहर चित्त के क्षेत्र को फैलाना आध्यात्मिक उन्नति है, और सिकोड़ना आध्यात्मिक ह्रास है। हर आदमी अपने में अपने विश्व की सीमायें लेकर चलता है और वह उसे विकसित भी कर सकता है और संकुचित भी कर सकता है। जब 'अहं' की उपादान-सामग्री पर्याप्त रूप से विकसित होती है, वह सामान्य रूप से व्यक्तित्व की सीमाओं को लांघ जाता है, वह दूसरों के क्षेत्र में प्रवेश करता है और व्यक्तित्व-बाह्य जीवन व्यतीत करता है। यह व्यक्ति के पृथक जीवन की सीमाओं को लांघ जाना ही है, जिस से कलाकार को, खोजी को, समाज सुधारक को और उन सभी को जो समग्र जीवन व्यतीत करते हैं सर्वाधिक प्रसन्नता प्राप्त होती है। हमारे जीवन के सर्वाधिक प्रसन्नता के क्षण वे ही होते हैं जब हम अपने आप को भूल जाते हैं। यह बात हम को सम्पूर्ण रूप से स्पष्ट होती है जब हम किसी से प्रेम करते हैं। ये सभी बातें यह स्पष्ट करती हैं कि व्यक्तित्व का मतलब है सीमित हो जाना, जिस का फल होता है असुविधा तकलीफ। मालुंक्य-पुत्र सुत्त में स्वयं तथागत ने कहा है, "जिस आदमी का मन अपने व्यक्तित्व की सीमाओं को विलीन करने पर लगा हुआ है वह सुखी अनुभव करता है, प्रसन्न अनुभव करता है, ऊंचा उठा हुआ अनुभव करता है। उस की स्थिति उस आदमी जैसी होती है जो गङ्गा को एक सिरे से लेकर दूसरे सिरे तक सुरक्षित रूप से तैर कर पार कर गया हो।"

यदि हम एक पृथक अहं के अस्तित्व से, एक आत्मा के अस्तित्व से इनकार करते हैं तो ऐसा करने से आदमी के व्यक्तित्व को अस्वीकार करना नहीं होता। इस से आदमी उस गलती से बच जाता है, जो आदमी के मानसिक और नैतिक

विकास की गति को अवरुद्ध कर सकती है और उस के सम्पूर्णता की ओर अग्रसर होने के प्रयासों को विफल कर सकती है । धर्म जीवन में से अहं के अहंकार को निकाल बाहर करता है । यह 'आत्मा' और उस के द्वारा कृत माने जाने वाले कर्मों के पार्थक्य रूपी मिथ्या मान्यता से उत्पन्न होता है । क्योंकि आदमी के अपने कर्म और संकल्प ही उस का अपना व्यक्तित्व है, इस लिये जो आदमी अपने आप को प्यार करता हो उसे कुकर्मों से बचना चाहिये ।

▣

बारहवाँ परिच्छेद

मृत्यु और मृत्यु के अनन्तर

आदमी अपनी सम्पूर्ण प्रक्रिया में स्कन्धों का एक सम्मिश्रण मात्र है । केवल चिन्तन के स्तर पर ही हम उसे नाम (– चित्त) और रूप (– शरीर) में विभाजित कर सकते हैं । भाषा व्यक्तित्व के यथार्थ स्वभाव को प्रकट कर देती है । आदमी न केवल अपने शरीर की बात करता है, बल्कि अपने मन की भी बात करता है। तब शरीर तथा मन दोनों का मालिक कौन है ? दोनों का मालिक सम्पूर्ण आदमी है, स्कन्धों का सम्मिश्रण। जैसे हम कहते हैं कि 'हवा चलती है' मानो चलने की क्रिया से पृथक कोई हवा हो। इसी प्रकार हम बोल चाल की सुविधा के लिये यह भी कहते हैं कि आदमी शरीर और आत्मा का मालिक है, वह कार्य करता है, वह भावनाओं का सञ्चालन करता है, वह प्रेरणाओं पर काबू रखता है, इत्यादि। वास्तव में इन सब की समग्रता ही व्यक्तित्व का निर्माण करती है । आदमी अपने शरीर से, अपनी वाणी से, अपने मन से जो कुछ भी करता है, वही सब कुछ समग्र भाव से आदमी का व्यक्तित्व है । प्रो. जोसियाह रायस ने लिखा है, "मैं वही कुछ हूँ जो कुछ किये रहने की या करने जाने की मुझे जानकारी है।" समय विशेष पर तथागत के शिष्यों ने तथागत से प्रश्न किया, "बुढ़ापा और मृत्यु क्या हैं ? और वह क्या है जिसे बुढ़ापा और मृत्यु व्यापती है ? " तथागत ने उत्तर दिया, "प्रश्न ठीक प्रकार से पूछा नहीं गया है। यह कहना कि बुढ़ापा और मृत्यु क्या है ? और वह क्या है जिसे बुढ़ापा और मृत्यु व्यापती है ? और यह कहना कि 'बुढ़ापा और मृत्यु एक चीज़ है, लेकिन यह कहना कि अमुक चीज़ है जिसे बुढ़ापा और मृत्यु व्यापती है' यह एक ही बात को भिन्न भिन्न तरह से दोहराना है। यदि यह बात ठीक मानी जाय कि शरीर और आत्मा एक ही हैं, तो कहीं किसी भी प्रकार के श्रेष्ठ जीवन के लिये गुंजायश नहीं है, क्योंकि आत्मा शरीर के साथ ही विनाश को प्राप्त हो जायगी और यदि इस सिद्धान्त को सही माना जाय कि शरीर एक चीज है और आत्मा उस से भिन्न सर्वथा दूसरी चीज है, तब भी श्रेष्ठ जीवन के लिये कोई गुंजायश नहीं रहेगी । क्योंकि यदि आत्मा कोई पृथक पदार्थ है, कोई अपरिवर्तनशील तत्व है, तो इस पर हमारे आचरण का कुछ भी प्रभाव नहीं पड़ेगा और यह श्रेष्ठतर नहीं बनेगी और तब श्रेष्ठ जीवन बिताना निष्प्रयोजन होगा।

तथागत इन दोनों अतियों के चक्कर में नहीं पड़े हैं । उन्हों ने मध्यम मार्ग का उपदेश दिया है । जन्म होने से बुढ़ापा होता है और मृत्यु होती है ।"

जब तक स्कन्ध संयुक्त रहते हैं प्राणी का जीवन बना रहता है, जब स्कन्ध विभक्त हो जाते हैं प्राणी का लोप हो जाता है और मृत्यु हो जाती है । जिस प्रकार जिन दो लकड़ियों की रगड़ से आग उत्पन्न हो जाती है, आग उन में छिपी नहीं रहती, वह उन की रगड़ से उत्पन्न होती है, इसी प्रकार चित्त का विज्ञान कुछ प्रत्ययों के होने से अस्तित्व में आ जाता है, और जब या जहाँ वे प्रत्यय नहीं रहते तब और वहाँ विज्ञान नहीं रहता । जब लकड़ी जल चुकती है, अग्नि अदृश्य हो जाती है । इसी तरह से जब विज्ञान के प्रत्यय नहीं रहते, विज्ञान का अस्तित्व नहीं रहता । सभी चित्तों के लिये जीवन-प्रद संस्थान का आधार अपेक्षित है । हमें चित्त के अस्तित्व का बोध संस्थान से जुड़े हुए जीवन-प्रपञ्च के माध्यम से ही प्राप्त होता है । मानसिक क्रियाशीलता का परिचय हमें शारिरिक क्रियाशीलता के माध्यम से ही मिलता है । दिमाग और स्नायु संस्थान में परिवर्तन आये बिना कोई भी चैतसिक क्रिया-शीलता सम्पन्न नहीं होतीं । स्नायु-केन्द्र से यदि रक्त की प्राप्ति रुक जाय तो चित्त की प्रक्रिया तुरन्त ठप हो जायगी । ऊंचे दर्जे की चैतसिक प्रक्रिया मस्तिष्कीय रचना पर ही निश्चयात्मक रूप से निर्भर करती है । बच्चे के दिमाग की रचना में कुछ रुकावट हो जाने से बच्चे की सोचने विचारने की शक्ति मन्द पड़ जाती है । और मानसिक क्रियाशीलता तथा शारीरिक क्रियाशीलता में परस्पर का सम्बन्ध इतना नहीं है जितना शारीरिक क्रिया शीलताओं का परस्पर । शारीरिक क्रिया शीलता जीवन भर बनी रहती है, जब कि मानसिक क्रिया-शीलता जीते जी ही रुक जा सकती है । व्यक्ति के जीवन काल में शारीरिक जीवन में कोई अवरोध पैदा नहीं होता, चैतसिक क्रियाशीलता समय समय पर ही अपनी क्रिया-शीलता को प्रमाणित करती है, निद्रा उसे ताजगी देती है और जाग्रत अवस्था में भी उस की क्रिया-शीलता में अन्तर पड़ता है । जिस शरीर को संज्ञा हीन कर दिया जाता है उस का रक्त भी वादियों के माध्यम से पम्प होता रहता है, मांस-पेशियों में शारीरिक आदान-प्रदान होता रहता है, लेकिन उस में चेतनता की चिनगारी नाम मात्र के लिये भी नहीं होती । जब दिमाग को चोट लग जाती है, वा रुग्ण हो जाता है, तो बेहोशी अनिश्चित काल तक बनी रह सकती है । इस लिये हमें कहना चाहिये कि चेतना जीवन के लिये है, न कि जीवन चेतना के लिये । भगवान बुद्ध ने अपने भिक्षुओं को सीधे सरल शब्दों में ठीक ही शिक्षित किया था, "अच्छा होता यदि चार धातुओं से निर्मित शरीर को अज्ञ लोग 'मैं' मानते, मन को 'मैं' मानने के स्थान पर । मैं ऐसा क्यों कहता हूँ ? क्योंकि यह शरीर तो एक साल, बीस साल, सौ साल तक भी बना रह सकता है । लेकिन जो चित्त है, जो जानने की क्रिया है, जो सोचने की क्रिया है उस में तो रात-दिन परिवर्तन होता रहता है ।"

सामान्य मानस शास्त्र से यह प्रमाणित होता है कि यदि शरीर नहीं तो चित्त की कोई निराधार सत्ता टिकी नहीं रह सकती। मानसिक रोग–निदान भी इसी परिणाम का प्रबल समर्थन करते हैं। एक व्यक्ति के जीवन–इतिहास में ही इस के एकाधिक व्यक्तित्व ऐसे ढंग से उत्पन्न हो जाते हैं और लुप्त हो जाते हैं कि इस से हम इस परिणाम पर पहुंचते हैं कि उस आदमी के शेष जीवन से उन परिवर्तनों का किसी भी प्रकार का सातत्य का सम्बध नहीं। एक ही व्यक्ति में एकाधिक व्यक्तित्व की उपस्थिति या एक के बाद एक इस प्रकार बदल बदल कर व्यक्तित्वों का होना, या कभी दोनों व्यक्तित्वों का एक ही समय में और एक ही शरीर में रहना; इस प्रकार के असाधारण चैतसिक प्रपंच हमें इस परिणाम पर पहुंचने पर मजबूर करते हैं कि मानसिक घटनाओं में यह व्यक्तित्वों का उत्पन्न और लुप्त हो जाना ऐसी घटनायें हैं जो बहुधा घटती रहती हैं। क्योंकि सामान्य जीवन में व्यक्तित्व के जितने भी परिवर्तन होते हैं, उन सभी का सम्बन्ध शरीर से है, इसलिये हमें यह मानने पर मजबूर होना ही पड़ेगा कि शारीरिक परि-वर्तन–शीलता के ही कारण यह परिवर्तन सम्भव हैं और शरीर के न रहने पर इन व्यक्तित्वों में परिवर्तन होना भी संभव न रहेगा। लेकिन ऐसी कोई भी ज्ञात सूचना नहीं है जिस से प्रमाणित हो कि शरीर से पृथक कोई अपरिवर्तन–शील 'आत्मा' है। पिछले तीस वर्षों में मानस–शास्त्र ने महान् उन्नति की है लेकिन इस ने ऐसी कोई भी सूचना नहीं दी कि मनुष्य योनि से बाहर कोई भूत–प्रेत या कोई आत्मायें होती हैं जो आदमियों के जीवन को प्रभावित करती हैं। दूसरी ओर इस ने ऐसे सभी प्रपंचों को जो मूर्खों की भूत–प्रेत–आत्मा सम्बन्धी मान्य-ताओं को सहारा देते हैं, बुद्धिगम्य बना दिया है जैसे बेहोश करने को, वेदनाहरण को, निराधार भ्रम होने को, अतीन्द्रिय प्रबोध को। अनगिनत आत्म–वादी और थियोसोफिकल संस्थायें मिलकर भी ज़रा सा भी वैज्ञानिक प्रमाण इस बात का नहीं पेश कर सकीं कि कबर के परे भी व्यक्ति के जीवन का कोई अस्तित्व बना रहता है। क्या किसी ऐसे खोज के ढंग से जो भूत–प्रेत आत्माओं की पलटन के भोंदेपन से भी मुंह नहीं फेरता, जो अश्लील बकवास को शेक्सपीयर का काव्य मान लेता है, जो बकवास को बेकन का दर्शन मान लेता है और बारीकी से ढके हुए मान्य व्यक्ति को साँक्रेटिस का, या कंवारी मेरी का या पश्चाताप करने वाले डाकू नरेश जाँन किंग का औतार मान लेता है। अध्यात्मवादी प्रपंचों की वैज्ञानिक खोज ने यह सिद्ध कर दिया है कि ठगी, अचेतन मन को दिये गये सुझावों और सहयोग के बल पर ये जितनी भी परा–प्राकृतिक बातें कही सुनी जाती हैं उन सब की व्याख्या सम्भव है।

'मानसिक खोजें' नामक संस्था की खोजों ने भी भूत–प्रेत–आत्माओं की विद्यमानता को स्थापित कर सकने में अपने को असमर्थ सिद्ध किया है। इतना ही नहीं पहले जो अन्तर–मानवीय प्रपंच हमारी समझ से परे थे, उन्हें समझ

सकने में हमारी मदद की है। " धार्मिक अनुभवों के नाना प्रकार " नाम की अपनी पुस्तक में प्रो. डब्ल्यु. जेम्ज् लिखते हैं " यद्यपि मेरे मन में आत्मवादियों के परिश्रम-पूर्वक किये गये प्रयासों के लिये आदर–भावना की कमी नहीं तो भी अभी यथार्थ घटनाओं ने 'प्रेतों की वापसी' की बात को प्रमाणित नहीं किया है। इसी प्रकार श्री. बैलफोर जिन का सोचना है कि यदि 'प्रेतों की वापसी' को स्वीकार कर लिया जाय तो बहुत से मानसिक प्रपंचों की सरलतम व्याख्या हो सकती है, का कहना है कि हमारे पास कोई भी प्रामाणिक व्याख्या नहीं है। सर आलिवर लाज की 'आदमी की उत्तर जीविता' नामक पुस्तक यही दिखाने में समर्थ सिद्ध हुई है कि कोई कोई बातें ऐसी हैं जो न 'मौके की बात' कहने से समझ में आती है, न ठगी से, न आत्म वंचना से, लेकिन वे भी 'आत्माओं की वापसी' का कोई प्रमाण नहीं दे सके हैं।"

यद्यपि इन ऊंचे से ऊंचे स्तर के मानस–शास्त्र–वेत्ताओं तथा दार्शनिकों का जैसा डा. स्टैनले हॉल का कथन है, एक मात्र प्रयास यही है कि वे अशरीरी आत्माओं के किसी लोक की स्थापना कर सके और फिर उस लोक तथा अपने इस लोक में व्यवहार सम्बन्ध स्थापित कर सकें, तो भी जिस घटना या जिस बात का भी वे उल्लेख करते हैं तो वह व्यक्ति के भूत काल के ही सम्बन्ध में है, व्यक्ति की नसल के ही सम्बन्ध में है, व्यक्ति के भविष्य के सम्बन्ध में नहीं, सामान्य से कुछ कम स्तर के जीवन को लेकर ही हैं, न कि सामान्य से कुछ विशेष जीवन के बारे में। जैसे अमृत की खोज में लगने वाले रसायन शास्त्रज्ञ रसायन शास्त्र को ही भूल गये, जैसे तारांगणों का मानवी जीवन पर क्या प्रभाव पड़ता है इस की खोज करने वाले फलित ज्योतिषी, गणित ज्योतिष को ही भूल गये, उसी प्रकार इस महत्वपूर्ण प्रश्न का उत्तर खोजने में लगे हुए विद्वज्जन कि आदमी मरता है तो फिर वह वापिस लौटता है या नहीं ? उस सामग्री की ही ओर दुर्लक्ष कर बैठें जो उन्हों ने इस सम्बन्ध में स्वयं संग्रहीत की थी। वे जब भी 'आत्मा' की बात करते हैं, तो भविष्यत्–काल की ही भाषा में सोचते हैं और वह शब्द उन्हें आत्माओं के भूत काल को लेकर जैसे कुछ भी नहीं सुझाता।

मृत्यु के अनन्तर चेतन व्यक्ति का अस्तित्व बना रहता है, इस सम्बन्ध में विज्ञान कुछ भी गवाही नहीं देता। बल्कि सब मिलाकर इस की स्थापना हैं कि चेतन व्यक्ति का भी अन्त हो गया है। आधुनिक शरीर शास्त्रज्ञ का कहना है कि यदि व्यक्ति के भिन्न भिन्न शारीरिक अंगों के सम्मिश्रण का विघटन हो जाय और आदमी को जिस चेतना का स्वयं बोध होता है, उस चेतना का भी विच्छेदन हो जाय, तो यह व्यक्ति का मरण हो जाता है। इसी प्रकार भारहार सूत्र में कहा गया है कि भार वहन करने वाले का भार–निक्षेप करना उसी समय हो जाता है

जब भार का निक्षेप किया जाता है। भार नहीं तो भार-हारी भी कैसा ?*
पांचों स्कन्धों का विघटन हो जाता है।

यही सत्य इस से भी अधिक स्पष्टता के साथ बौद्धों की अन्त्येष्टि के अवसर पर पढ़ी गई गाथाओं में प्रकट हुआ है, "उन भगवान अर्हत सम्यक् सम्बुद्ध को नमस्कार है। सभी प्राणियों का मरण सुनिश्चित है, क्योंकि जीवन का अन्त मृत्यु ही है। बुढापा प्राप्त होने पर भी मृत्यु आती ही है। यही प्राणियों का स्वभाव है। चाहे तरुण हों, चाहे वृद्ध हों, चाहे मूर्ख हों और चाहे पण्डित हों—सभी मरणशील हैं। जिस प्रकार खेत में बोया हुआ बीज अंकुरित होता है और भूमि में जो नमी होती है उस के कारण और भ्रूण में जो जीवनी-शक्ति होती है उस के कारण उगता है उसी प्रकार प्राणी की आरम्भिक अवस्था और उस की छह इन्द्रियों की उत्पत्ति प्रत्ययों से होती है। फिर प्रत्ययों के कारण ही प्राणी निरुद्ध हो जाता है और मरण को प्राप्त होता है। जैसे किसी वाहन के संयोग संयुक्त होने पर 'रथ' कहलाते हैं, उसी प्रकार स्कन्धों के एकीकरण से प्राणी का आविर्भाव होता है। जब जीवन-शक्ति, ऊष्णता, तथा चेतना शरीर को परित्यक्त कर देती है, तब शरीर निर्जीव हो जाता है और बेकार हो जाता है। आदमी जितना ही इस शरीर के बारे में चिन्तन और मनन करता है, उतना ही उसे विश्वास हो जाता है कि यह शरीर एक खोखली और बेकार वस्तु है। क्योंकि इसी में दुःख की उत्पत्ति होती है, इसी में दुःख निवास करता है और यह शरीर ही अन्त में नष्ट हो जाता है। मात्र दुःख की ही उत्पत्ति होती है और मात्र दुःख ही विनाश को प्राप्त होता है। सभी संस्कार अनित्य हैं, जो इसे जानता है और हृदयङ्गम कर लेता है, वह दुःख का अन्त कर देता है। यही पवित्रता का मार्ग है। सभी संस्कार दुःख हैं, जो इसे जानता है और हृदयङ्गम कर लेता है वह दुःख से मुक्त हो जाता है। यही पवित्रता का मार्ग है। सभी धर्म (संस्कृत धर्म तथा असंकृत धर्म) अनात्म हैं, जो इसे जानता है और हृदयङ्गम कर लेता है, वह दुःख का अन्त कर देता है, यही पवित्रता का मार्ग है। इस लिये तथागत के प्रवचन सुनकर आंसुओं को रोकना चाहिये। जब कभी किसी का भी मरण हो जाय तो उसे इस परिणाम पर पहुंचना चाहिये कि अब कभी इस से पुनर्मिलन न होगा।"

यद्यपि मृत्यु होने पर नाम-रूप का विघटन हो जाता है तो भी इस से सब कुछ समाप्त नहीं होता। भगवान बुद्ध ने कहा है कि वह ब्राह्मणों की तरह शास्वतवादी भी नहीं है और चारवाकों तथा लोकायत वादियों की तरह उच्छेद-

---

* बृहदारण्यक उपनिषद् में याज्ञवल्क्य ऋषी अपनी मैत्री नाम की भार्य्या को कहते हैं—'आदमी इन तत्वों में से उत्पन्न होता है, और फिर उन्हीं में लौट जाता है। फिर किसी भी प्रकार की चेतना का कहीं भी अवशेष नही रहता।'

वादी भी नहीं। निस्सन्देह धर्म किसी भी ऐसे तथाकथित आत्मा को जिस का एक शरीर से दूसरे शरीर में संसरण संभव माना जाता है स्वीकार नहीं करता, किन्तु वह कर्म के बने रहने को मानता है। आदमी पांचों स्कन्धों के अस्थाई संमिश्रण के अतिरिक्त कुछ नहीं है, इस संमिश्रण का आरम्भ जन्म है और इस का विघटन मृत्यु है। लेकिन जब तक विघटन नहीं होता, आदमी का 'अहं' प्रतिक्षण इस बात का प्रदर्शन करता रहता है कि वह दुःख से भागनेवाला, सुख के पीछे भागनेवाला क्रियाशील कर्ता है। वह दूसरे व्यक्तियों से सम्बन्धित भी है। इस दृष्टि से हर व्यक्ति के अस्तित्व को 'कर्मों' का समूह कहा जाता है। जिसे हम किसी व्यक्ति का अहं या उस का व्यक्तित्व कहते हैं वह परिवर्तनों के सातत्य से ही सम्बद्ध है । भिन्न भिन्न अवसरों पर विद्यमान रहने वाले व्यक्तियों के सातत्य को प्रमाणित करने का एक ही उपाय है कि यह सिद्ध किया जाय कि वह व्यक्ति दोनों समयों पर विद्यमान रहा है। जब तक इस व्यक्ति के द्वारा किये गये कर्म वे ही रहते हैं हम मान लेते हैं कि वह व्यक्ति भी वही है । लेकिन इन कर्मों में जो किसी भी आदमी के अहं का पर्याय हैं ऐसे कर्म भी रहते हैं जिनका दूसरे व्यक्तियों से सम्बन्ध रहता है और इस लिये वे कर्म केवल उसी एक व्यक्ती के कर्म नहीं होते। ये कर्म दूसरे व्यक्तियों तक जा पहुंचते हैं और इस व्यक्ति की मृत्यु के बाद भी उस दूसरे व्यक्ती में बने रहते हैं । इस प्रकार आदमी की तो मृत्यु हो जाती है लेकिन दूसरे आदमियों में उस के कर्मों का पुनर्जन्म हो जाता है। जैसे किसी आदमी ने कोई पत्र लिखा हो, तो लिखने का कार्य तो बन्द हो गया, लेकिन पत्र तो अपनी जगह है ही, इसी प्रकार जब स्कन्धों का विघटन हो जाता है तब भी भविष्य में कर्मों का फल देने के लिये कर्म बने रहते हैं। जब किसी लैम्प को प्रज्वलित किया जाता है तो उसका तेल-बत्ती तो जलती हैं, लेकिन वहां किसी भी प्रकार का संसरण नहीं हो सकता । जिस आम के बीज को जमीन में गाडा जाता है, उस आम का फल पेड़ पर लगे आम के रूप में प्रकट होता है। बीज से आम तक किसी भी आम-आत्मा का संसरण नहीं हुआ है। लेकिन उस के स्वरूप की पुनर्रचना हुई है । इस आम की जो अपनी व्यक्तिगत विशेषतायें है वे नये आमों में सुरक्षित हैं । इस प्रकार आदमी का पुनर्जन्म होता है, यद्यपि उस का कहीं कोई संसरण नहीं होता । जो मरता है वह दूसरा होता है, जो उत्पन्न होता है, वह दूसरा। मिलिन्दपन्हो का कहना है कि जिसका जन्म होता है वही नाम-रूप है । एक नाम-रूप से कर्म किये जाते हैं और फिर उन्हीं कर्मों से नया नाम-रूप जन्म ग्रहण कर लेता है। एक नाम-रूप का अवसान मृत्यु में हो जाता है, और यह दूसरा नाम-रूप है जो जन्म ग्रहण करता है । लेकिन जो यह दूसरा नाम-रूप है, वह पहले का परिणाम हैं और इस लिये इस के द्वारा किये गये दुष्कर्मों का फल भोगने से मुक्त नहीं होता । आचार्य बुद्धघोष ने अपने "विसुद्धि मार्ग" में लिखा हैं, 'जो स्कन्ध अपने पूर्वजन्मों में अस्तित्व में

आये और कर्माश्रित थे उन का विनाश उसी समय और वहीं हो गया। लेकिन भूत काल के कर्मों को ही इस जन्म में जो दूसरे स्कन्धों का आविर्भाव हो गया है। उस में पूर्व जन्म का इस जन्म तक कुछ भी नहीं आया है। जो स्कन्ध कर्मों के आधार पर इस जन्म में आये हैं, वे नष्ट हो जायेंगे और अगले जन्म में दूसरे स्कन्ध प्रकट होंगे। लेकिन इस जन्म का कुछ भी अंश अगले जन्म तक नहीं जायेगा। जैसे जो शिष्य अपने गुरु के वचनों को दोहराता है, गुरु के वचन उस के मुंह में से निकल कर शिष्य के मन में प्रविष्ट नहीं होते हैं। जैसे आदमी की शक्ल सूरत जिस शीशे में वह अपना चेहरा देखता है, उस चेहरे में नहीं जाती, फिर जैसे एक दीपक से जो दूसरा दीपक जलता है, एक दीपक का तेल–बत्ती निकल कर दूसरे दीपक में प्रविष्ट नहीं होता, लेकिन शिष्य के मुंह से निकलने वाले वाक्य गुरु के मुंह से निकले हुए वाक्यों पर निर्भर करते हैं, शीशे में दिखाई देने वाला चेहरा आदमी के चेहरे पर निर्भर करता है, दूसरे दीपक में जलने वाली लौ पहले दीपक की लौ पर निर्भर करती है, ठीक उसी तरह किसी भी प्राणी के पूर्व जन्म का कुछ थोड़ा भी अंश इस जन्म तक नहीं आता और इस जन्म का कुछ थोड़ा भी अंश अगले जन्म तक नहीं जाता, तो भी इस जन्म का नामरूप, इस जन्म की छह इन्द्रियां, इस जन्म का चित्त, पूर्व–जन्म के नामरूप, पूर्व जन्म की छह इद्रियों और पूर्व जन्म के चित्त पर निर्भर करता है और अगले जन्म का नाम–रूप, अगले जन्म की छह इन्द्रियां, अगले जन्म का चित्त, इस जन्म के नाम–रूप, इस जन्म की छह इन्द्रियों, इस जन्म के चित्त पर निर्भर करेगा।'

जहाँ तहाँ पिटकों में ऐसे कुछ उद्धरण दिखाई देते हैं, जिन के पढ़ने से ऐसा लगता है कि भगवान बुद्ध यह मानते थे कि कुछ न कुछ ऐसा है जो एक जन्म से दूसरे जन्म तक संसरित होता है। लेकिन क्योंकि इस प्रकार के परिच्छेद जन–साहित्य में आते हैं, सामान्य लोगों को सरलता से समझ में आ सकने वाली जातक कथाओं में आते हैं उस से यही प्रकट होता है कि भगवान बुद्ध सामान्यजनों की समझ में आने वाली शब्दावलि का प्रयोग करते थे। इन जन–कथाओं के माध्यम से भगवान बुद्ध कर्मों और उन के फलों के सम्बन्ध में शिक्षित करना चाहते थे। लेकिन भगवान बुद्ध व्यञ्जना से भी यह बात नहीं कहना चाहते थे कि एक ही और वही आदमी पुनर्जन्म ग्रहण करता है। एक बार साती नाम का भिक्षु दूसरे भिक्षुओं के साथ वाद–विवाद में उलझ गया था। उस का कहना था कि जन्म–जन्मान्तर तक चित्त अपरिवर्तित अवस्था में विद्यमान रहता है। भगवान बुद्ध ने उस भिक्षु को बुला भेजा और पूछा–"साती! तुम चित्त से क्या ग्रहण करते हो?" उस का उत्तर था, "स्वामी! जो बार बार कर्ता के रूप में अच्छे और बुरे कर्मों के फलों को भोगता है।" भगवान बुद्ध ने कहा, "अरे मूर्ख! यह तूने कहाँ से जाना कि मैं ऐसे सिद्धान्त का प्रतिपादन करता हूँ। क्या

मैं ने नाना प्रकार से यह नहीं समझाया है कि चित्त की उत्पत्ति सप्रत्यय है। बिना प्रत्यय के, बिना पर्याप्त कारण के चित्त की उत्पत्ति नहीं होती।" कर्म के सम्बन्ध में भगवान बुद्ध की शिक्षा तब तक आसानी से हृदयङ्गम नहीं की जा सकती जब तक आदमी "व्यक्तित्व के यथार्थ स्वरूप" को न समझ ले। व्यक्तित्व में "मैं" का महत्व नहीं है, महत्व है इस बात के जानने का कि "मैं" में किस किस का समावेश है। दो क्षणों तक भी यह "मैं" की उपादान सामग्री एक ही नहीं रहती। सातत्य के कारण ही यह उपादान सामग्री सुरक्षित रहती है और इसी के कारण यह एक ही रूपता का भ्रम पैदा होता है। जैसा कि बोधिचर्यावतार का कहना है कि अहमेव तदापीति मिथ्यायम् कल्पना, कि उस समय भी मैं ही था यह कल्पना ही मिथ्या है। सत्य सत्य बात कहनी हो तो आदमी प्रतिक्षण मर रहा है। लेकिन जब तक जिस कारण–सामग्री से 'मैं' का निर्माण हुआ है, उस के पदार्थों के मेल जोल में एकरूपता सी बनी रहती है तब तक यह एकता का भ्रम बना रहता है और हम 'मैं' को एक ही समझते रहते हैं। निस्सन्देह यह अपने पूर्वरूप से कुछ कड़ियों से जुड़ा हुआ है, तो भी एक क्षण यह जो 'मैं' होता है, वह दूसरे क्षण होता ही नहीं। यह विचारों का सातत्य है जो एकता का भ्रम पैदा करता है। कर्म के कर्ता और उस कर्म के फल के भोक्ता में जो एकता का भ्रम पैदा होता है वह भी चित्त–सन्तति के ही कारण। बोधिचर्यावतार के अनुसार यदि आदमी क्षण क्षण परिवर्तित हो रहा है तो फिर हम यह कैसे मानें कि कर्म–विशेष का कर्ता ही उस कर्म के फल का भोगनेवाला होता है? चित्त के सातत्य से उत्पन्न होने वाली एकता से ही कर्म के कर्ता और उस कर्म के फल को भोगने वाले में सम्बन्ध स्थापित होता है। इसी प्रकार जब एक व्यक्ति मरता है अर्थात जब आदमी का 'अहं' वेदनाओं, संज्ञाओं आदि का व्यापार बन्द कर देता है, तो अब उस 'अहं' की कारण–सामग्री पूर्ववत् क्रिया शील नहीं होती, लेकिन उस 'अहं' की अधिकांश कारण–सामग्री नष्ट नहीं होती। व्यक्तिगत संस्मरण जैसी कुछ तुच्छ बातों को छोड़कर शेष तमाम कारण–सामग्री दूसरों में सुरक्षित रहती है। इस प्रकार व्यक्ति नये नये रूपों में सुरक्षित रहता है। जो मरता है, वह अन्य होता है, जो जन्म ग्रहण करता है, वह अन्य होता है। न च सो, न च अन्नों; न तो वह ही, न अन्य ही।

व्यक्तित्व की कल्पना की थोडी सार्थकता देश–काल की पूर्व मान्यता को लेकर ही है। यह सीमाओं से आबद्ध है और सीमाएँ केवल प्रपंचों के क्षेत्र में ही विद्यमान हैं। इस लिये व्यक्तित्व की सीमाओं को विचारों के क्षेत्र में ले जाना असम्भव प्रायः है। ऐसा करने का प्रयास करने से हम अन्तर–विरोधों में फंस जायेंगे। सिद्धान्त रूप से यह संभव प्रतीत होता है कि हम ऐसे व्यक्तित्व की कल्पना कर सकें कि जो देश (=स्थान) की सीमाओं से आबद्ध हो, लेकिन काल की दृष्टि से कालातीत हो। लेकिन जब हम इस विषय की गहराई तक जाते हैं

तो हम पाते हैं कि हम ऐसा तभी कर सकते हैं कि जब हम व्यक्तित्व की मूल कल्पना का ही परित्याग कर दें। लगातार होते रहने वाले परिवर्तनों का नाम ही जीवन है। और यदि हम जीवन को अनन्त मान लें तो हमें परिवर्तनों को भी अनन्त मानकर चलना होगा। और ऐसी अनन्त तबदीलियां एकरूपता को चाट जायेंगीं। इसलिये व्यक्ति के लिये अनन्त समय की कल्पना अचिन्त्य है। ऐसे किसी सिद्धान्त को भी हम तभी स्वीकार कर सकते हैं, जब हम प्रत्येक बेहूदा बात को अंगीकार करने के लिये तैयार हों। इसलिये जब तक हम व्यक्तित्व को आरम्भ का सिरा मानें और हमारे सभी प्रयास अमृतत्व की प्राप्ति की दिशा में ही हों, हमें अमृतत्व की प्रत्येक आशा और आकांक्षा का परित्याग कर देना चाहिये। लेकिन जैसे 'अहं' चित्त का अन्तिम विकसित स्वरूप नहीं है, उसी तरह अमृतत्व भी व्यक्तित्व के साथ अनिवार्यतः जुड़ा हुआ नहीं है।

जैसा विज्ञान का शिक्षण है कोई भी खास आदमी एक पृथक व्यक्तित्व नहीं होता। वह एक केन्द्र–बिन्दु होता है जिस में से बहुत सी शारीरिक और मानसिक क्रियायें उत्पन्न होती हैं और जिस में जाकर समाप्त होती हैं। वह वंश परम्परा से आगत अनेक संस्कारों द्वारा, उदाहरणों द्वारा, शिक्षण द्वारा अभिसंस्कृत है। विकास–क्रम के द्वारा ही संस्कार अस्तित्व में आते हैं। कोई संस्कार अस्तित्व में नहीं आता जब तक उस के पीछे निर्माण की क्रिया नहीं होती। भ्रूण विज्ञान ने हमें यह बताया है कि व्यक्ति के अंग जनन–द्रव्य में से फूट निकलते हैं जो पीढी–दर-पीढी बना रहता है। एक व्यक्ति के विकास का सारा इतिहास, जैसा एक अत्यन्त विकसित पशु में अध्ययन किया गया, सतत जारी संस्मरणों की एक कड़ी है जो उन सभी प्राणियों से सम्बन्धित है जो उस पशु–विशेष के पूर्वज हैं। आदमी के जन्म से ही किसी भी आदमी का इतिहास आरम्भ नहीं होता, अगणित युगों से इस का निर्माण होता चला आया है। यह मान बैठना कि एक मानव अपने लिये और अपने विकास से ही जीवन आरम्भ करता है और यह मान बैठना कि उस के पूर्वजों की हजारों पीढ़ियों का अस्तित्व निरर्थक ही था, दैनिक जीवन की घटनाओं के सर्वथा विरुद्ध है। हम किसी भी आदमी के बारे में यह सोच नहीं सकते कि वह प्रकृति के भण्डार में परा–प्राकृतिक पद्धति से शामिल कर दिया गया है। दूसरी ओर हमें यह सोचना चाहिये कि जो पहले से विद्यमान थे उन में यह आदमी बाद में पृथक रूप से पृथक रख दिया गया है। कोई भी आदमी अपनी पैतृक-परम्परा से अपने आप को सम्पूर्ण रूप से पृथक रख ही नहीं सकता। जैसा हक्सले ने कहा था कि हर आदमी के व्यक्तित्व पर उस के सुदूर पूर्वजों का असर रहता है। खास तौर पर आदमी के झुकावों के समूह – जिसे हम उस का चरित्र कहते हैं, का मूल तो उस के पूर्वजों और उस के सगोत्रियों में ही खोजा जा सकता है। इस लिये हम न्यायत: यह कह सकते हैं कि चरित्र, यह आदमी की नैतिक और मान-सिक प्रवृत्ति एक मांस के लोथड़े में से दूसरे में चली जाती है, एक प्रकार से उस का

पीढ़ी दर पीढ़ी संसरण ही होता है । जिस शिशु का अभी अभी जन्म हुआ है, उस के गिरोह का चरित्र उस में विद्यमान है और उस का 'अहं' उस की कुछ करने की सामर्थ्य से कुछ ही अधिक है। लेकिन एकदम आरम्भिक समय में ही ये प्रवृत्तियां वास्तविकताएं बन जाती हैं । बचपन से आयु प्राप्त होने तक वे या तो प्रमाद में या अप्रमाद में अपना प्रदर्शन करती रहती हैं और प्रदर्शन करती रहती हैं दुर्बलता में या शक्ति में, टेढ़ेपन में या सीधेपन में । दूसरे चरित्रों के साथ संगम हो जाने से प्रत्येक चरित्र का जो भी स्वरूप बनता है, वह नये जन्मों में संसरित हो जाता है।"

कोई भी मानव दूसरे मानवों से सम्पूर्ण रूप से सम्बन्ध विच्छेद नहीं कर सकता । मानव ही समाज का निर्माण करने वाले उस के अंग हैं, केवल इसीलिये नहीं कि उन के जो विविध बाह्य क्रिया-कलाप हैं उन में वे परस्पर एक दूसरे पर आश्रित हैं, बल्कि उन का जो मानसिक क्रिया-कलाप हैं, वह भी परस्पर एक दूसरे पर निर्भर करता है। प्रत्येक आदमी अपने 'अहं' को 'अहं' के रूप में अनुभव करता है, इस का यही मतलब है कि बिना दूसरों की बात सोचे आदमी अपनी बात सोच ही नहीं सकता । बिना यह सोचे की वह समाज-विशेष का सदस्य है आदमी अपने बारे में इतना भी नहीं सोच सकता कि वह है भी । आदमी अपने मानव बन्धुओं के मानसिक चिन्तन से अपने चिन्तन को पृथक कर ही नहीं सकता । वह जिस समाज का सदस्य है, उस समाज का उस पर प्रभाव किसी भी समय पड़ सकता है। वह कुछ आदमियों की मण्डली से अपना सम्बन्ध तभी तोड़ सकता है, जब दूसरी मण्डली से सम्बन्ध जोड़ ले। कोई साधु-सन्त भी अलहृदा नहीं रहता । उस के दिमाग में एक मानसिक सौहार्दता रहती है, वह वास्तविक होती है, भले ही वह उस के देवी-देवताओं की हो, भले ही उस के सन्तसमाज हो की। यह मानसिक परस्पर निर्भरता का ही परिणाम है कि मानव का एक मानव के रूप में जीवित रहना भी सम्भव हो सका है । यह परस्पर एक दूसरे पर मानसिक निर्भरता का ही परिणाम है कि आदमी सभ्य, सामाजिक और नैतिक प्राणी बन सका है। यदि आदमी किसी यथार्थ 'आत्मा' में विश्वास करता है तो वह मानसिक जीवन को सही सही समझ ही नहीं सकता है। जो आदमी यह समझता है कि उसका शारीरिक पार्थक्य मानसिक जीवन के केन्द्रों के साथ एक रुकावट बन कर खड़ा है, वह इस बात को समझ ही नहीं सकता कि आदमी का मानसिक जीवन उस की व्यक्तिगत सीमाओं को लांघ सकता है। देखा जाय तो जो कुछ भी आदमी अपने मानव-बन्धुओं के साथ मिल जुल कर करता है, उसी में इस के उदाहरण स्पष्ट रूप से दृष्टिगोचर होते हैं, भाषा को लेकर, विज्ञान को लेकर, कला को लेकर, मजहब को लेकर और सदाचार को लेकर। केवल समाज के ही माध्यम से आदमी अपने आप को विद्या और विज्ञान के खजाने का उत्तराधिकारी

बनाता है । इस के बिना आदमी का जीवन एकदम आरम्भिक अवस्था में रहेगा ।

आदमी ने अपने आस-पास जो भी परिवर्तन किये हैं, प्रत्येक ऐसा आदमी उन्हें छोड़ जाता है। वह नाम कमा सकता है, वह धन कमा सकता है, वह एक पुस्तक लिख सकता है, वह संतान छोड़ सकता है । छोटा बच्चा जो बचपन में ही मर जाता है वह भी अपनी माँ पर एक प्रभाव छोड़ जाता है। कभी कभी वह अपनी माता में भी परिवर्तन ले आता है । यह प्रभाव व्यक्तिगत होते हैं और इन का प्रभाव-काल एक ओर तो उस आदमी पर निर्भर करता है जो उस प्रभाव को छोड़ जाता है, दूसरे उन आदमियों पर निर्भर करता है, जिन पर वह प्रभाव छोड़ जाता है । इन प्रभावों का समय लम्बा या थोड़ा कुछ भी हो सकता है, लेकिन वे प्रभाव रहते ही हैं, समय पाकर भले ही वे कितने ही दुर्बल हो जायें। क्योंकि आदमी शारीरिक तौर पर परस्पर एक दूसरे से भिन्न हैं, इस का यह मतलब नहीं कि वे मानसिक तौर पर भी एक दूसरे के समीप नहीं हैं । आदमी का मानसिक जीवन उस की व्यक्तिगत सीमाओं को स्वीकार नहीं करता, क्योंकि मानसिक जीवन का विषय व्यक्ति नहीं होते, बल्कि वे सम्बन्ध होते हैं जो उन्हें बांध कर रखते हैं। हमारा हर कार्य, हमारा हर वचन, हमारा हर विचार हमारे मानसिक जीवन का हिस्सा है । हमारा मानसिक जीवन उस प्रदीप की तरह है जो एक दूसरे प्रदीप के बुझ जाने पर स्वयं प्रज्वलित हो उठा है।

एक प्रसिद्ध जीवित लेखक ने पूछा है, "तो क्या हम मृत्यु के अनन्तर जीते हैं ?" और अपने प्रश्न का अपने आप ही उत्तर दिया है, "निस्सन्देह हम जीवित रहते हैं । हम जीते रहते हैं । हमारे शरीरों का उच्छेद हो जाता है, लेकिन हमारा जीवन बना रहता है। यह हम क्या है ? और यह जीना क्या है ? यदि जीने का इतना ही अर्थ है कि खाना-पीना, सुख-दुःख का अनुभव करना, हम जो कुछ करते हैं, हम जो कुछ सोचते हैं, उस की जानकारी रखना, तो हम किसी ऐसी अवस्था के बारे में कुछ भी नहीं कह सकते जिस में यह मान लिया गया है कि स्नायु-संस्थान न रहेगा। जहाँ तक मेरी बात हैं, मैं यह जानने का ढोंग नहीं कर सकता कि जहाँ स्नायु संस्थान न होगा, वहाँ चित्त होगा तो कैसा होगा ? चित्त से मेरा अभिप्राय उस शारीरिक अवस्था से है जिस का स्नायु-संस्थान से सम्बन्ध है। और जहाँ तक 'हम' शब्द से हम इस चित्त का ग्रहण करते हैं, मैं इस प्रश्न पर अपनी कुछ भी बुद्धि-संगत राय नहीं बना सकता।

"सौभाग्य से हम केवल स्नायु-संस्थान नहीं हैं। जीवन स्नायु संस्थान के संघर्ष का ही नाम नहीं है। हम कार्य करते हैं, हम काम करते हैं, हम शिक्षा देते हैं, हम जहाँ नहीं रहते वहाँ प्रेम के बीज बोते हैं, जहाँ हम

कभी नहीं गये हैं और ऐसे प्राणियों में जिन्हें हम ने सशरीर अवस्था में कभी देखा नहीं है। हम उन पशुओं में से एक नहीं हैं जो नाश को प्राप्त हो जाते हैं। आदमी का सामाजिक जीवन पाशविक नहीं है। आदमी में एक ऐसी सूक्ष्म क्रिया शीलता है कि वह अपने मानव-बन्धुओं के जीवन के साथ ताल-मेल बैठा सकता है। हम जिस अत्यन्त बारीक संस्थान के हिस्से हैं उस की दृष्टि से हम अमर हैं। स्नायु-संस्थान, भोजन-सामग्री को हजम करने की व्यवस्था और गतिशील इन्द्रियां जीवन के आधार के रूप में आवश्यक हैं, किन्तु आगे चलकर जिन शरीरों में जीवन का आरम्भ हुआ, उन शरीरों के अतिरिक्त दूसरे शरीरों के माध्यम से भी जीवन जारी रखा जा सकता है। जहाँ तक हम देख सकते हैं वह अपने ही जैसे किन्हीं शरीरों के बिना, प्राकृतिक परिस्थितियों के बिना, जीवात्माओं के बिना जारी नहीं रह सकता, इसलिये दान्ते और मिलटन के स्वर्ग में नहीं। इस में कुछ सन्देह नहीं कि स्त्री-पुरुष का शरीर-संस्थान मरण शील है, लेकिन मानव-संस्थान मानवता अमर है। हमारे सौर-मण्डल में ऐसा कुछ भी नहीं हैं, जो इसे नष्ट कर सके।

"इस तरह से जो मांसल कुशल जीवन है, वह इस अपरिमेय शक्तिशाली संस्थान का हिस्सा बन जाता है, और अमर हो जाता है। हमारा कोई भी कर्म, हमारा किसी की ओर तनिक देख लेना, हमारा विचार कुछ भी तो सर्वांश में नष्ट नहीं होता। चाहे कुशल पक्ष में और चाहे अकुशल पक्ष में यह हमारा, हमारे चरित्र का और हमारे कार्य का निर्माण करता है। यह हमारे आसपास रहने वाले किसी दूसरे भाई बहन को अच्छा या बुरा बनाता है। यदि हमारा अपना आचरण सुदृढ़ और कुशल-समर्थक होता है तो यह बहुतों को प्रभावित करता है। यदि यह कमजोर और बुरा होता है तो यह धीरे धीरे प्रभावहीन हो जाता है। हो सकता है इस की किसी को याद तक न रहे, इस की ओर कोई ध्यान भी न दे और उसे विशेष भी न माना जाय। लेकिन यह अज्ञात रहकर भी अनन्त काल तक बना रहता है, मानवता की पीढ़ियों दर पीढ़ियों तक। मानवी जीवन के समुद्र में यह एक बूंद के समान हो सकता है। लेकिन उतने ही निश्चित रूप से, जितने निश्चित रूप से अैल्प पर्वत पर गिरी हुई पानी की प्रत्येक बूंद समुद्र तक पहुंचती है, उसी प्रकार हर मानवी जीवन, हर कार्य, हर करुणार्द्र शब्द, प्रत्येक कुशल-कर्म, प्रत्येक सम्यक् विचार भावी जीवन में विद्यमान रहता है। हम जीते हैं और हम में जो सर्वाधिक शक्ति सम्पन्न हैं और जो सर्वाधिक दुर्बल हैं, वे भी सदैव के लिये जीते हैं। हम स्नायुओं को होने वाले अनुभव के लिये नहीं जीते हैं, हम खाते नहीं हैं, हम पीते नहीं हैं, हम न कुछ सोचते हैं और न कुछ करते हैं, और पृथ्वी पर जो हमारा कार्य है उस में किसी भी प्रकार की वृद्धि नहीं करते, उस के बावजूद हम जीते रहते हैं। हमारे जीवन यहीं रहते हैं और हमारा कार्य

होता रहता है । जिस मानवता ने उस समय हमारा पोषण किया जब हम शिशु थे, हमें शिक्षित किया जब हम बच्चे थे और जब हम आदमी हुए हमारा जीवन सुडौल किया, वही मानवता एक सामूहिक अनन्तता के लिये हमें दीर्घ जीवन प्रदान करती है। जब यह आदर भरे दुःख के साथ हमारी आँखें बन्द कर देती है और आशा और प्रेम भरे उन शब्दों को कहती है, जो हमारी हड्डियों को लेकर कहे जाने वाले अन्तिम शब्द होते हैं, तो यह हमें उतने ही अमरत्व का दान देती है, जितनी अमर यह स्वयं है।"

ये जीते हैं, ये जीते हैं, ये जीते हैं, जो मरते हैं
जीवन जीवित रहता है।

सभी प्राणी ऐसे होते हैं जैसे वे भूतकाल के संस्कारों से संस्कृत रहे हैं और जब उन का शरीरान्त होता है तो उन के जीवन से नये प्राणी प्रकट होते हैं। विकास की धीमी विधि के अनुसार कार्य-शीलताओं से नये व्यक्तियों का निर्माण होता है। व्यक्ति कहते ही हैं बीती हुई शारीरिक तथा मानसिक क्रियाओं की साकार मूर्ति को। भूतकाल के कर्म प्राणियों पर उन के वर्तमान काल के जीवन की छाप डालते हैं। बौद्ध धर्म का कर्म का कानून यही है । कर्म की कोई भी और दूसरी व्याख्या का तथागत की देशना से मेल नहीं बैठता जो सभी चीजों की क्षणिकता और नैरात्म्य-भाव का समर्थन करती हैं । यह बात तो हृदयङ्गम करने में उतनी कठिनाई नहीं है कि प्रत्येक व्यक्ति के व्यक्तिगत विकास में उस के प्रत्येक विचार, उस की प्रत्येक वेदना, उस की प्रत्येक चेतना का असर पड़ता है, लेकिन यह बात समझ में आना कठिन ही है कि मृत्यु के अनन्तर आदमी को अपनी गलतियों और स्वार्थ परता के लिये दण्ड भुगतना पड़ेगा, जब कि कहीं किसी भी संसरण करने-वाले आत्मा का अस्तित्व नहीं है। इस का एक ही मतलब है की आदमी को समस्त समष्टि से एकाबद्ध माना जाय । शारीरिक दृष्टि से विचार किया जाय तो एक आदमी अपनी सन्तान में पुनर्जन्म ग्रहण करता है और उस का शारीरिक कर्म उस की सन्तान तक जा पहुंचता है। नैतिक दृष्टि से विचार किया जाय तो किसी भी आदमी का चैतसिक जीवन उस समाज के चैतसिक जीवन से पृथक नहीं किया जा सकता, जिस का वह सदस्य है । समाज को भूल जायें तो कर्तव्य-पालन और जिम्मेदारी शब्दों का कोई अर्थ ही नहीं रह जाता। तो आदमी अपने दूसरे मानव-बन्धुओं के बिना कोई कर्म भी कैसे कर सकता है या कैसे रख सकता है ? आदमी जो सुख-दुःख भोगता है वह हमेशा उसी के कर्मों का परिणाम नहीं होते । मिलिन्द प्रश्न का कहना है कि यह मानना कि प्रत्येक दुःख व्यक्तिगत कर्म का फल होता है, मिथ्या-दृष्टि है। तो भी कोई भी बौद्ध इस बात से इनकार नहीं करेगा कि प्रत्येक घटना कार्य-कारण के नियम के अनुरूप घटती है। जब तक हम सारे मानव समाज को एक ही मानता से समग्र

रूप से सम्बन्धित नहीं स्वीकार करते, हम कर्म के सिद्धान्त को पूरी पूरी तरह से हृदयङ्गम नहीं ही कर सकते । यही नहीं है कि हत्यारों और चोरों की समाज के प्रति जिम्मेदारी है, बल्कि समाज की भी जिम्मेदारी है कि उस ने हत्यारों और चोरों को क्यों जन्म दिया है ? दूसरे आदमियों के प्रति आदमी के जीवन का जो अर्थ है, दूसरे आदमियों पर आदमी के जीवन का जो प्रभाव पड़ता है, दूसरे आदमियों के लिये उस के जीवन की जो कीमत है, उसे छोड़कर आदमी के जीवन का और कोई दूसरा माप–दण्ड ही नहीं है । यदि कोई व्यक्ति इस से अधिक किसी बात की मांग करता है, या आशा करता है कि मृत्यु के अनन्तर उस का व्यक्तिगत जीवन जैसा का तैसा बना रहे, तो वह अपने व्यक्तिगत जीवन की सार्थकता से ही इनकार कर देता है । गैलिल्यु ने ठीक ही कहा था कि जो स्थायी जीवन की आकांक्षा करते हैं उन्हें पर्वतों पर चलता कर देना चाहिये। जीवन का सातत्य उस के नाविन्य और उस की ताज़गी में है। लेकिन यह तभी संभव है कि मृत्यु के अनन्तर जीवन और जीवन के अनन्तर मरण होता रहे ।

हो सकता है कि हमारा पुनर्जन्म का जो दृष्टिकोण है वह उन बौद्धों को मान्य न हो जो समझते हैं कि एक अनाख्यात रहस्य है जो कर्म के संसरण से संबंधित है। यद्यपि वे भी किसी संसरण-शील आत्मा के अस्तित्व को स्वीकार नहीं करते तो भी वे मानते हैं कि एक प्रकार का विज्ञान है, प्रतिसन्धि–विज्ञान वह मरने वाले मनुष्य और उसी समय जन्म ग्रहण करने वाले शिशु में एक प्रकार का सम्बन्ध स्थापित कर देता है। इस मत के समर्थकों का कहना है कि आदमी के मरण के समय कहीं न कहीं अपने माता–पिता की सन्तान एक शिशु जन्म ग्रहण करने वाला होता है, ऐसा कि उस का छोटा सा दिमाग मरने वाले मनुष्य के चरित्र को आत्मसात् कर लेता है, ऐसा दिमाग कि यदि उस में वह हलचल न हो, तो वह कभी भी व्यक्तिगत जीवन का स्वरूप ग्रहण नहीं करेगा। आदमी मरता है और उस की मृत्यु उसी आदमी के अपने उलझे हुए प्रकार से उस ईथर में उस रिक्त–स्थान में हलचल होती हैं। और ठीक उसी समय एक नया जन्म ग्रहण करने वाला शिशु जो वहीं कहीं मृत्यु–स्थल के आस–पास मंडरा रहा होता है, मृत्यु–लहर की छाप प्राप्त करता हैं और इस के दिमाग में नये जीवन की हलचल आरम्भ हो जाती हैं। हृदय और सांस लेने छोड़ने वाले केन्द्र क्रिया शील हो जाते हैं, नया उत्पन्न होने वाला शिशु सांस खींचता है और जीने लगता हैं। हमारे बौद्ध ग्रन्थों की भाषा में "पुरानी लौ से नई लौ जल उठती है।" यह इस बात का एक सुन्दर उदाहरण हैं कि भौतिक–वाद और रहस्यवाद दोनों जुड़वें भाई हैं। जहाँ रहस्यवाद को खड़े होने को जगह नहीं मिलती, वहाँ वह भौतिकवाद की बैसाखी के सहारे चलने का प्रयास करने लगता हैं। यदि प्रतिसन्धि–विज्ञान एक विज्ञान (–चित्त) है, एक धर्म है, एक स्कन्ध है तो उस का स्थानान्तर नहीं हो सकता। पालि ग्रन्थों का कहना हैं कि यहाँ से कुछ भी पर-

लोक नहीं जाता । (न किञ्चि इतो परलोकं गच्छति) तो फिर यह क्या है कि जिस के बारे में यह कहा जाता है कि वह एक जीवन से दूसरे जीवन तक गतिशील हो जाता है ? इसी कठिनाई से बचने के लिये गन्धर्व की कल्पना की गई है । पटिसन्धि कम्मना गमीयतीति गन्धब्बो, अर्थात प्रतिसन्धि कर्म से जो गमन करता है, वह गन्धब्ब है । इसी के बारे में कहा जाता है कि गर्भ-धारण के समय यह माता के गर्भ में प्रवेश पा जाता है । यह गन्धब्ब जीववादी आत्मा के लिये एक नया शब्द मात्र है और बौद्ध-देशना के एक दम विरुद्ध है । भगवान बुद्ध का कहना है, "धर्म शरण-स्थान है, पुद्गल नहीं, धर्म का भावार्थ शरण-स्थान है, धर्म के शब्द मात्र नहीं, सूत्र का सम्पूर्ण अर्थ शरण स्थान है, उस की तात्कालिक व्याख्या नहीं, ज्ञान शरण-स्थान है, विज्ञान (=चित्त) नहीं ।" ऐसा लगता है कि शुरू में प्रतिसन्धि-विज्ञान की कल्पना याददाश्त के प्रपञ्च को समझाने के लिये की गई और तब इस का विस्तार इस अर्थ में हो गया कि यह एक जीवन को दूसरे जीवन से जोड़ने वाली कड़ी है । ताकि एक जन्म के कर्मों को दूसरे जन्म तक ले जा सके । व्यक्तित्व का मुख्य आधार स्मरण-शक्ति ही होती है और फिचटे का कहना ठीक ही है "जो कुछ हमें अपने बारे में याद है, हम वही कुछ हैं ।" हर विज्ञान अपने पीछे आने वाले विज्ञान के लिये कुछ सत्य छोड़ जाता है । यद्यपि विज्ञान क्षणिक होते हैं, तो भी वे अपने आप को एक सिलसिले में ही प्रकट करते हैं, प्रतीत्यसमुत्पन्न होते हैं । जैसे किसी जीवित आदमी का वर्तमान विज्ञान अपने पहले के विज्ञान से निकट रूप से सम्बन्धित है, वैसे ही यह मान लिया जाता है कि मरने वाले आदमी का विज्ञान भी किसी दूसरे पैदा होने वाले विज्ञान से सम्बन्धित होता है । लेकिन यथार्थता इस मान्यता का समर्थन नहीं करती । यदि जैसा हम ने देखा है एक दम चित्तों का सिलसिला है, तो जब तक उन चित्तों में से कोई भी चित्त रहता है, तब तक आदमी जीवित रहता है, और जब उन चित्तों में से कोई भी चित्त नहीं रहता तो आदमी का भी मरण हो जाता है। क्योंकि चित्त-परम्परा सतत बनी रहती है, हम यह नहीं कर सकते कि उन में से किसी एक चित्त-स्थिती को लें और उसे बाकी सभी चित्त-अवस्थाओं से अलहदा पृथक कर दे । फिर चाहे एक शब्द का प्रयोग करें या उन की प्रत्यक्ष इन्द्रियानुभूति हो, चित्त-स्थितियाँ सभी चित्तों में समान रूप से उत्पन्न होती हैं । इसी मान्यता पर सारा मानवी व्यवहार निर्भर करता है। जहाँ तक सभी आदमियों में एक ही प्रकार की चित्त-स्थिति रहती है, वे सभी एक हैं । यह सोचने से कि मैं वही आत्मा हूँ, जो कुछ समय पूर्व कोई दूसरा था, कोई भी आदमी किसी दूसरे के कार्यों को अपने किये हुए कार्य नहीं मान सकता। और न वह यही सोच सकता है कि जो आदमी पहले कभी विद्यमान था, उस के द्वारे किये गये कार्य उस के अपने व्यक्तित्व द्वारा किये गये ही कार्य हैं । दूसरी ओर यदि आदमी को ऐसा लगता है कि किसी दूसरे के किये हुए कार्य उस के अपने किये हुए ही कार्य हैं, तो आदमी अपने आप को वही आदमी समझता है,

जो दूसरा होता है। इस व्यक्तिगत एकता रूपता को ही सभी पुरस्कारों के लिये या सभी दण्डों के लिये योग्य आधार माना जा सकता है । इस के लिये किसी आत्मा का वही होना आवश्यक नहीं। कहा जाता है कि किसी आत्मा ने जो कुछ पूर्व जन्म में किया रहता है उस के लिये वर्तमान जीवन में पुरस्कृत किया जाता है, या दण्डित किया जाता है। उस आत्मा को अपने उस पूर्व जीवन का कुछ पता ही नहीं होता।

कहा जाता है कि बौद्ध देशों में कभी कभी ऐसे बच्चे जन्म ग्रहण करते हैं, जो कहते हैं कि उन के पूर्व जन्म में उन का यह यह नाम था, और वे अमुक अमुक स्थान पर रहते थे। और कभी कभी उन का कथन सत्य प्रमाणित होता है। लेकिन क्या इस से यह प्रमाणित होता है कि जो आदमी मरने जा रहा है उस की चेतना में और उस के मरने के ठीक अवसर पर जो शिशु पैदा हुआ है, उस में और उस शिशु के दिमाग में कोई समरसता है ? क्या हमें इन बर्मी बालकों के वैशिष्ट्य की व्याख्या अुपचेतन मन की गतिविधि में नहीं खोजनी चाहिये ? "अपने चिन्तन और ध्यान के माध्यम से" श्री. स्टेनले हॉल का कहना है "चेतन-व्यक्ति अपने वर्ण और शायद अपनी उस जाति के साथ भी, जिसका होता है, व्यवहार स्थापित करता है। वह सन्देसे प्राप्त करता है और समय समय पर शायद संदेसे देता भी है। वह शक्तिशाली आत्माओं से निवेदन करता है, अपने आप से नहीं, बल्कि ऐसी आत्माओं से जो इतनी बुद्धिमान हैं, इतनी उदार हैं, इतनी उत्साही हैं, कि कभी कभी वह इस दयनीय भ्रम का शिकार हो जाता है और जो अव-मानवता है उसे ऊंची मानवता मान बैठता है। हो सकता है कि वह मानस-शास्त्र के अंग्रेज खोजियों की तरह उसे इस का कुछ भी भान न हो कि हमारे चित्त की गहराइयों के अन्दर जो गहराइयाँ है, वहीं कहीं हमारे शरीरों में, हमारे दिमागों में, हमारी स्वचालित इन्द्रियों में और प्रेरणाओं में गूढ़ बुद्धिमत्ता ग्रथी हुई है, जो कि जितने भी आदमी इस समय हैं, उन सब की सम्मिलित चेतना की अपेक्षा भी विशाल और विस्तृत है । हो सकता है कि जिस सतही प्रपञ्च की उसे अनुभूति होती है, वह उसे अपनी ही निकृष्ठ आत्मा का आवश्यक अनुभव मान बैठता हो। यदि इस प्रकार का शब्द-प्रयोग क्षम्य है तो यह बृहत्तर-आत्मा है। यही जारी रहता है। यह हम से नीचे ही है, हमारे ऊपर नहीं। यह एक दम समीप है, परा प्राकृतिक नहीं । यदि हम यथार्थ रूप से समझें तो यह एक अर्थ और मात्र में यथार्थ है, जिस की हमारी वाचाल तार्किकता को जानकारी ही नहीं है।"

कर्म के बौद्ध सिद्धान्त का क्षेत्र बहुत विशाल है। कर्म न केवल जीवित प्राणियों को लेकर क्रियाशील है, बल्कि सारे प्रपञ्च पर लागू होता है। यह सिद्ध है कि लोक की समस्त विचित्रता कर्म से ही उत्पन्न हुई है । महायान की रूपरेखा में श्री. कुरोद ने कर्म के बौद्ध सिद्धान्त की व्याख्या इस प्रकार की है, "न तो उत्पन्न करने वाले हैं, न जिन की उत्पत्ति हुई है। आदमी यथार्थ प्राणी नहीं हैं। ये कार्य

और कारण ही हैं जो अनुकूल परिस्थिति में उन्हें जन्म देते हैं। क्योंकि आदमी पांचों स्कन्धों के अस्थिर मेल के अतिरिक्त और कुछ नहीं है। इन का परस्पर मिलना उन का जन्म है, इन का विघटन हो जाना मरण है। जब तक यह मिली जुली अवस्था कायम रहती है, शुभ-कर्म तथा अशुभ-कर्म किये जाते हैं, भावी सुख और दुःख के बीज बोये जाते हैं और इस प्रकार अनन्त काल तक जन्म-मरण का चक्कर चलता रहता है। आदमी ऐसे यथार्थ प्राणी नहीं हैं जो अपने से जन्म मरण के बीच भटकते फिरते हैं, कोई ऐसा शास्त्र भी नहीं है जो इन से यह सब कराये। यह उन के अपने किये कार्य ही हैं जिन का ऐसा परिणाम होता है। सभी प्राणियों के संग्रहीत कार्य ही नाना प्रकार के पहाड़ों, नदियों तथा देशों को जन्म देते हैं। वे संग्रहीत कार्यों के परिणाम हैं और इसी लिये अधिपति फल कहलाते हैं। जैसे जो लोग भीतर से शीलवान् होते हैं, उन के चेहरे भी शील सम्पन्न होते हैं और जैसे जिन देशों में अच्छे रीति-रिवाज व्यवहार में आते हैं वहाँ मङ्गल बातें भी प्रकट होती हैं और जहाँ दुष्ट लोग रहते हैं, विपत्तियां आती हैं। इस प्रकार आदमी के संग्रहीत कर्मों का ही परिणाम संग्रहीत कार्य होता हैं। व्यक्तियों के द्वारा किये गये कर्मों के अनुसार कारणों से मेल खाता हुआ शरीर तथा मन हर आदमी को प्राप्त होता है। भीतरी कारणों को बाह्य कारणों का सहयोग मिलता है क्योंकि यह अच्छे बुरे कर्म तुरन्त फल नहीं देते, उन के फल कभी भी भविष्य में मिलते हैं, इस लिये वे विपाक-फल कहलाते हैं। ऐसे फल जो भविष्य में पकते हैं। जन्म से मृत्यु पर्यन्त जब तक यह शरीर बना रहता है, आदमी का जीवन है। और निर्माण से कष्ट होने तक का समय, जब वे भिन्न भिन्न आकार ग्रहण करते हैं, देशों, पर्वतों, नदियों का जीवन-काल है। प्राणियों की मृत्यु और देशों, पर्वतों, नदियों इत्यादि का निर्माण और विनाश-कार्य अनन्त काल तक जारी रहते हैं। जैसे किसी चक्के का कोई सिरा नहीं होता, उसी प्रकार उन का भी न आरम्भ है और न अवसान। यद्यपि न कहीं कोई यथार्थ आदमी होते हैं, न यथार्थ वस्तुएँ होती हैं, तो भी जहाँ कार्यों के साथ कारण जुड़े रहते हैं वहाँ उन के परिणाम प्रकट होते हैं और अदृश्य हो जाते हैं। जैसे शब्द का अनुकरण शब्द की गूंज की आवाज करती हैं, उसी तरह से स्थूल या सूक्ष्म, बड़ी या छोटी सभी वस्तुएँ प्रकट हो जाती है और विलीन हो जाती हैं। उन का कोई भी आकार-प्रकार स्थिर नहीं है। इस लिये जितने समय के लिये भी वे आकार-प्रकार बने रहते हैं, उतने समय का जो नामकरण है, वही ये आदमी और चीजें हैं। हमारे पिछले कर्मों का परिणाम है हमारा वर्तमान जीवन। आदमी अपनी इस छाया को ही अपना जीवन मान बैठे हैं। आदमी समझते हैं कि न केवल उन की आंखें, नाक, कान, जबान और शरीर उन की सम्पत्ति है, बल्कि उन के बाग बगीचे, जंगल, खेत, निवास-स्थान, नौकर और नौकरानियां भी उन की सम्पति हैं। लेकिन वास्तव में वे अगणित कर्मों द्वारा उत्पन्न

किये गये उन के परिणाम–मात्र है।

बौद्धों का कर्म का सिद्धान्त ब्राह्मणी आत्मा के संरक्षण के सिद्धान्त से सर्वथा भिन्न है। ब्राह्मणवाद एक वास्तविक आत्मा के संरक्षण की शिक्षा देता है, जब कि बौद्ध धर्म का कहना है कि आदमी के कर्मों की परम्परा जारी रहती है। ब्राह्मणी–कल्पना के अनुसार आत्मा का संसरण होता है, वह आदमी का शरीर छोड़ कर छह गतियों में से किसी एक गति को प्राप्त होता है, आदमी की योनि से पशु की योनि में, पशु की योनि से नरक में, नरक से स्वर्ग में, इसी प्रकार गमन–शील रहता है। ठीक वैसे ही जैसे आदमी आवश्यकतानुसार एक कमरे से दूसरे कमरे में जाता है। इस सिद्धान्त के पक्ष में यह कहा जाता है कि जहाँ जहाँ आदमी ने न्याय का उल्लंघन किया है या वर्तमान जीवन में न्याय नहीं लिया है, वहाँ वहाँ इस सिद्धान्त में न्याय किये जा सकने की व्यवस्था है। यह मान लिया जाता है कि पुण्य–कर्म का अच्छा फल अपने आप मिल जाता है और पाप–कर्म का दण्ड भी अपने आप मिल जाता है। भागवत पुराण (१०–२४, १३–२०) में कृष्ण ने कहा है कि 'कर्म से कर्म के पुण्य से प्राणी जन्म ग्रहण करते हैं, कर्म से ही वे विनाश को प्राप्त होते हैं। सुख, दुःख, भय, आनन्द सभी कुछ कर्म से ही उत्पन्न होता हैं। यदि दूसरों के कर्मों का फल देने वाला कोई परमात्मा हो तो वह भी जो कर्मों के कर्ता है उन्हीं को कर्मों का फल देगा। ऐसा कोई नहीं है, जिसे अकर्ता का स्वामी कहा जा सके। जो अपने कर्तव्य का पालन करता है, उस का कोई इन्द्र भी क्या कर सकता है? वह जो कुछ भी अपने स्वभावानुसार करते हैं, उसे कोई भी अकृत्य में परिवर्तित नहीं कर सकता। आदमी हो, असुर हो या देवता हो सभी अपने अपने स्वभाव के आधीन हैं। कर्म के माध्यम से एक आदमी बहुत से शरीरों का परित्याग करता हैं और ग्रहण करता है। कर्म ही हमारा मित्र है, हमारा शत्रु है, हमारा अपरिचित है, हमारा गुरु है, हमारा भगवान है। इस लिये आदमी को चाहिये कि वह अपने स्वभाव का अनुकरण करे, अपने काम में लगा रहे और कर्म की पूजा करता रहे।' इस में कुछ सन्देह नहीं कि कभी कभी कहते हैं कि प्रकृति दण्ड देती है और जो उस के नियमों का उल्लंघन करते हैं उन्हें नष्ट भी कर देती है। लेकिन यह भाषा ठीक नहीं है। प्रकृति के तथाकथित नियम हमारी इन्द्रियों को जो अनुभूति होती है, उसके कथन मात्र हैं। इसलिये हम उन्हें यथार्थ में किसी भी तरह आज्ञायें नहीं मान सकते। कहीं कोई नियामक नहीं है, इस लिये यदि कोई प्रकृति के नियमों का पालन नहीं करता, तो वह कोई अपराध नहीं करता। हम इतना भर जानते हैं कि कुछ कारणों के कुछ परिणाम होते हैं और वे किन्हीं विशेष व्यक्तियों या समाजों को सुख–दुःख पहुंचाते रहते हैं। लेकिन यह जो कर्म का सिद्धान्त है कि आदमी को दण्ड इसी लिये मिलता है कि उस ने कोई न कोई नैतिक अपराध किया रहता है अर्थात् जो दण्ड का विधान करने वाली सामर्थ्य है, उस की दृष्टि में पाप किया

है। दूसरी ओर सच्ची बात यह है कि सामान्यतया हम उसी कर्म को बुरा मान लेते हैं जिस के साथ प्राकृतिक नियमों ने दुःख का सम्बन्ध जोड़ दिया है और इसी लिये दुःख होने से ही कर्म का अकुशल होना मान लिया जाता है। ऐसा नहीं होता कि अकुशल कर्म का परिणाम दुःख होता है। यदि मानवता का सुखी जीवन ही उच्चतम आदर्श है, तो आदमी को न उस के भले कर्मों का पुरस्कार दिया जाना उचित है और न बुरे कर्मों के लिये दण्ड दिया जाना। इस का इतना ही लाभ हो सकता है कि आदमी की उस उच्च आदर्श पर नजर रहे। चाहे हम एक दार्शनिक की तरह मानव के आचरण के सिद्धान्तों में प्रवेश प्राप्त करें, या केवल सामान्य रूप से मानवता द्वारा स्वीकृत सही और न्याय की मान्यताओं का विश्लेषण करें, किसी भी हालत में किसी को भी दण्डित करने का औचित्य तभी सिद्ध होगा जब इस के फलस्वरूप समग्र रूप से कुशल की वृद्धि हो, भले ही कोई अपराधी भी बेकार दण्डित हो गया हो। इस लिये कर्म का जो बदले में पुरस्कृत अथवा दण्डित होने का जो सिद्धान्त है, जिस के अनुसार जो कुछ आदमी कर चुका है और जिसे अब अकृत नहीं किया जा सकता उस के लिये उसे दण्डित किये जाने का जो सिद्धान्त है वह अज्ञ जड़ता की अत्यन्त भोंडी कल्पना माना जाना चाहिये।

यह वास्तव में सत्य हो सकता है कि बौद्ध सूत्रों में भी किसी के दस लोकों में से किसी एक लोक में जाने की चर्चा है। स्वर्ग-लोक और नरक-लोक में, देव लोक तथा दैत्य-लोक में, मनुष्य लोक और पशु लोक में, श्रावक और प्रत्येक बुद्ध-लोक में, और बोधिसत्व तथा बुद्ध-लोक में। लेकिन इस का यह अभिप्राय नहीं कि एक प्राणी एक लोक से दूसरे लोक में गमन करता है। न कश्चित् धर्मो अस्मात् लोकात् पर लोकं गच्छति, अर्थात् कोई भी इस लोक से परलोक नहीं जाता। यह बौद्ध सूक्ति है। सच्चे बौद्ध के लिये स्वर्ग और नरक यथार्थतायें नहीं हैं। वे अज्ञ लोगों के मानस-पुत्र मात्र हैं। बौद्ध चिन्तन के अनुसार कारण और कार्य के प्रदर्शन का नाम ही जन्मान्तर वाद है। कारणों और प्रत्ययों के हिसाब से मानसिक प्रपञ्च जन्म ग्रहण करता है। उसी के साथ शारीरिक रूपग्रहण होता है। इसी प्रकार जीवन दर जीवन जीवन-यात्रा चलती है। एक के बाद दूसरे आने वाले जीवन का स्वरूप मानसिक क्रियाओं के सकुशल या अकुशल होने पर निर्भर करता है। सामान्य आदमी को कर्म का सिद्धान्त समझाने के लिये और उसे सोदाहरण उपस्थित करने के लिये तथागत ने 'दस-लोक' शब्द का व्यवहार किया है। उन का 'दस-लोक' शब्द से वास्तविक अभिप्राय था चित्त की दस अवस्थायें। उन के साथ जो प्राणियों के नाम और स्थानों के नाम दिये गये हैं, वे उन्हें साकार करने के लिये।

जहाँ एक ओर धर्म पिछले जन्मों में किये गये कर्म और उन के प्रभाव पर जोर देता है, यह याद रखने की बात है कि यह उस विद्या पर भी जोर देता है

जो मुक्ति का मार्ग है, वह इस बात पर भी जोर देता है कि आदमी अपने ऊपर काबू रख कर आत्म-विकास द्वारा पूर्णता तक को प्राप्त कर सकता है। बौद्ध धर्म भाग्यवादी धर्म नहीं है कि जो कुछ भाग्य में लिखा होगा होकर रहेगा। भाग्यवाद की शिक्षा है कि प्रत्येक वस्तु, यहाँ तक कि आदमी की कुछ करने की चेतना भी पहले से निर्णीत है। यह मानकर चलता है कि आदमी बाह्य शक्तियों द्वारा घिरा रहता है। इसलिये शिक्षण द्वारा भी आदमी के चरित्र में कोई परिवर्तन नहीं लाया जा सकता। दूसरी ओर बौद्ध धर्म की शिक्षा है कि स्वयं आदमी ही कारणों की उपज है। इसलिये कारणों द्वारा उस का निर्माण होने से पहले उस की चेतना का अस्तित्व ही असम्भव है। कारणों द्वारा आदमी के घिरे होने की बात न कह कर वह कहता है कि उस की चेतना ही सकारण है। इस लिये योग्य अभ्यास द्वारा चेतना में ऐसी सामर्थ्य पैदा की जा सकती है कि वह कुप्रवृत्तियों को दबाकर रख सके। क्योंकि भाग्यवाद की मान्यता है कि आदमी का चरित्र उस की मजबूरी में से उत्पन्न हुआ है। यह कार्य करने के लिये प्रेरणा-दायक सिद्ध नहीं होता। व्यक्तिगत जिम्मेदारी का प्रश्न ही नहीं उठता। दूसरी ओर बौद्ध के लिये आदमी का स्वभावजन्य चरित्र सकारण होता है और इस लिये कार्य करने की अधिक से अधिक प्रेरणा देने वाला है। बौद्ध यह ठीक ठीक जानता है कि विश्व में नियम-बद्धता के शासन का क्या अभिप्राय है? ऐसा नहीं है कि कानून पहले से हैं और तब चीजों को और प्रपञ्च को उन की आधीनता स्वीकार करनी पड़ती है। सामान्य परिस्थिति में जिस रूप में वस्तुओं के परस्पर के सम्बन्ध का मानवी मस्तिष्क विचार करता है, कानून उसी का प्रदर्शन करते हैं। इसलिये मानव मस्तिष्क ही विश्व का सही नियामक है। इसलिये कर्म के सम्मुख सिर झुकाना कोई अन्धी विनम्रता नहीं है बल्कि विवेकपूर्ण विनम्रता है। स्वयं कर्म आदमी के दिमाग की ऐसी उपज है जो कार्य को स्मृतिउपस्थान ध्यान के आलम्बन का रूप दे देती है। इसलिये यद्यपि आदमी की चेतना किन्हीं कारणों पर निर्भर करती है, तो भी आदमी अपने कृत्यों के लिये जिम्मेदार है। दुष्कृत्यों से बचे रहकर पारमिताओं के अभ्यास से आदमी उस सुरक्षित भूमि पर जा खड़ा हो सकता है, जहाँ उस के लिये कोई खतरा नहीं।

मृत्यु आदमी के शरीर और मन दोनों का मरण है। तो भी जो आदमी मरता है, वह अपने द्वारा किये गये कर्मों के रूप में जीवित रहता है। आदमी के द्वारा किये गये कार्य उस की सन्तति के समान हैं, वे जीवित रहते हैं और आदमी की चेतना से स्वतन्त्र अपना कार्य करते रहते हैं। इतना ही नहीं बच्चों का तो गला तक घोंट दिया जा सकता है किन्तु कर्मों का कभी नहीं। जहाँ जहाँ भी कहीं आदमी के विचारों, उस के शब्दों, उस के कार्यों ने दूसरे आदमी को प्रभावित किया है, वहाँ वहाँ उस का पुनर्जन्म हो गया है। जिसे मृत्यु को लेकर स्पष्टता नहीं है और जो इस बात को हृदयङ्गम नहीं करता कि मृत्यु का अभिप्राय सर्वत्र पांचों स्कन्धों

का निरोध होता है, बुद्धघोष के अनुसार नाना प्रकार के परिणामों पर पहुंचता है, जैसे एक जीवित प्राणी करता है और दूसरे के शरीर में चला जाता है। और इसी प्रकार जिसे पुनर्जन्म के बारे में स्पष्टता नहीं और जिस ने इस बात को हृदयङ्गम नहीं किया कि पुनर्जन्म से प्रत्येक अवस्था में पांचों स्कन्धों का प्रकटीकरण ही ग्रहण किया जाता है, वह भी नाना प्रकार की मान्यताओं में उलझ जाता है कि 'एक प्राणी ने जन्म ग्रहण किया है और नया शरीर प्राप्त किया है।' ऐसा कोई प्राणी नहीं है जो जन्म ग्रहण करता है, जो कर्म करता है, जो भोग भोगता है, जो कष्ट पाता है और जो मर जाता है और फिर मरने के लिये नया जन्म ग्रहण करता है। होता यही है कि जन्म होता है, कार्य होता है, भोगना होता है, कष्ट पाना होता है और मरना होता है। जीवन की कार्यशीलता, जीवन के कार्य ही वास्तविकता हैं। ये ही रहते हैं और कुछ भी नहीं रहता।

▣

तेरहवाँ परिच्छेद

परमार्थ

अनित्यता, अनात्म–भाव और निर्वाण को सही तौर पर बौद्ध धर्म के शिला–स्तम्भ कहा गया है। ये तीनों धर्म के मुख्य सिद्धान्त हैं। कोई भी विचार–सरणी जो इन तीनों बातों को स्वीकार करती हो यह कह सकती है कि वह बौद्ध धर्म का पर्याय है। भले ही इस बात को छिपी रखने वाली आकस्मिक मान्यतायें और विश्वास कुछ भी हों। लेकिन कोई भी ऐसी विचार–सरणी जो इन तीन बातों को न अपनाये हो धर्म के साथ अपना किसी भी प्रकार का सम्बन्ध स्थापित नहीं कर सकती।

तो इन तीनों सिद्धान्तों का मतलब क्या है। अनित्य का मतलब है अस्थायी। इस का कहना है कि प्राणी का जिन जिन सामग्रियों से निर्माण होता है परिवर्तन शील हैं, कि सभी चीजें सतत प्रवाह–शील हैं। जितने भी जीवित पदार्थ हैं वे अस्थायी हैं और परिवर्तन शील हैं। परिवर्तन के अतिरिक्त जगत में कुछ भी स्थायी नहीं है। सभी वर्तमान वस्तुएँ क्षण–भंगुर हैं। भले ही सजीव पदार्थ हो अथवा निर्जीव हो, अस्थिरता उस का प्रधान लक्षण है। शक्ति तक में भी बढ़ने–घटने की प्रवृत्ति है। केवल शून्यता को अपरिवर्तन शील कहा जा सकता है। स्थायी, अपरिवर्तन शील पदार्थों की हम कल्पना कर सकते हैं, किन्तु ये वास्तविकता नहीं हैं। जो कुछ भी विद्यमान है उस के रंग होते हैं, उस की आवाज होती है, उस में कम या अधिक उष्णता होती है, यह कुछ स्थान घेरती है, वह कुछ समय लेती है, उस का कुछ दबाव पड़ता है, वह कुछ विचारों से, कुछ भावनाओं से सम्बन्धित होती है और नाना प्रकार से परस्पर सम्बन्धित रहती हैं। ये सभी चीजें लगातार बदल रही हैं। इसलिये प्रत्येक वस्तु क्षणिक है। सापेक्ष दृष्टि से एक वस्तु दूसरी की अपेक्षा कुछ अधिक स्थायित्व लिये हुए हो सकती है, लेकिन कोई भी वस्तु निरपेक्ष भाव से स्थायी नहीं है। आधुनिक विज्ञान विश्व भर में कुछ भी तो ऐसा नहीं खोज सकता है, जो स्थिर हो। जो कुछ अनित्य है उसे गलती से नित्य समझ लेना ही दुःख का मूल कारण है।

जो कुछ भी अनित्य हैं, वह आवश्यक तौर पर काल्पनिक या मिथ्या नहीं होता, जैसी कुछ लोगों की धारणा है। जो क्षणिक है, वह आदमी के धोके का

कारण बन सकता है और इसलिये दुःखद हो सकता है, यदि उसे नित्य या स्थायी मान लिया जाय, क्योंकि चित्त की कोई भी क्रिया अपने में सम्पूर्ण नहीं होती। चित्त का आंशिक क्रिया-कलाप स्वाभाविक तौर पर पथ-भ्रष्ट कर देगा यदि उसे चित्त के ही दूसरे क्रिया-कलापों से संयत न रखा जाय, संभाल कर न रखा जाय। जब यात्री कान्तार में एक बड़ा पानी का जलाशय देखता है, जो लगातार पीछे हटता जाता है और अन्त में अदृश्य हो जाता है, तो यह मृग-तृष्णा होती है! यह चित्त की प्रक्रिया धोखा नहीं खा रही होती है। जिन दृश्यों के कारण जलाशय दिखाई देता है, वे विद्यमान रहते हैं, धोखे का कारण यही होता है कि सभी बातों पर विचार नहीं होता। उसी प्रकार जब एक आदमी रस्सी को साँप समझ लेता है, तब चित्त की प्रक्रिया सदोष नहीं ठहरती है। जिन बातों से रस्सी साँप प्रतीत होती है, वे सभी बातें रस्सी में रहती हैं, लेकिन क्योंकि हम पूरी पूरी तरह से चित्त की छान बीन नहीं करते, इस लिये भ्रम पैदा होता है। जब सारे अनुभव ही मात्र धोखा है, तो हम यह कह कैसे सकते हैं कि अमुक अनुभव धोखा है? हम धोखे और सत्य में फर्क कर सकते हैं, इसी बात से यह प्रमाणित होता है कि अनुभव मात्र धोखा नहीं है। हमारे स्वप्न हमारी जाग्रत अवस्था के अनुभवों को अयथार्थ प्रमाणित नहीं कर सकते। दोनों अवस्थाओं में भेद इतना स्पष्ट है कि एक सामान्य जन भी दोनों में जो भेद है उसे स्पष्ट देख सकता है और उसे दोनों अवस्थाओं में घोटाला करने की कोई आवश्यकता नहीं रहती। जो वेदान्ती सभी चीजों को माया मान बैठता है, वह भी इस बात को स्वीकार कर लेता है कि जाग्रत अवस्था, स्वप्नावस्था का खण्डन करती है।

अनित्यता के सिद्धान्त का बुद्धि सहगत परिणाम है अनात्मता का सिद्धान्त। उस सिद्धान्त का कहना है कि न तो सारे ब्रह्माण्ड में और न किसी अणु से अणु पदार्थ में कहीं भी कोई भी निरपेक्ष, परा-प्राकृतिक पदार्थ है। जहां तक भी हमारी जानकारी है यह सब अनुभूतियों की, विचारों की, भावनाओं की और चेतनाओं आदि की सन्तति है। ये सब आपस में नाना प्रकार से ग्रंथी हुई हैं। यह जो पारवर्तन शील धारा है, इसी धारा में से उस की उत्पत्ति होती है जो सापेक्ष दृष्टि से अधिक स्थिर और स्थायी है और जिस का स्मृति पर प्रभाव पड़ता है और जिसे भाषा का माध्यम प्राप्त है। सापेक्ष दृष्टि से कुछ अधिक स्थायित्व लिये हुए कुछ संकर पदार्थ शरीर कहलाते हैं। उन को खास खास नाम भी दिये जाते हैं। इसलिये रंग, आवाज, स्वाद और दूसरी इन्द्रियानुभूतियां उन शरीरों से उत्पन्न नहीं होती, बल्कि इन अनुभूतियों के संकर शरीरों का निर्माण करते हैं। इन्द्रियानुभूतियाँ कोई ऐसे लक्षण नहीं हैं, जिन से हम चीजों की पहचान कर सकें, बल्कि जिसे हम कोई चीज कहते हैं वह ही सापेक्ष दृष्टि से अधिक स्थायित्व लिये हुए इन्द्रियानुभूतियों की साकार मूर्ति है। इस प्रकार के संकर किसी भी रूप में निरपेक्ष रूप से अपरिवर्तन शील नहीं हैं। और इन इन्द्रियानुभूतियों के

पीछे या परे भी कोई प्रकृति या कोई प्रधान जैसी सांख्य–दर्शन की मान्यता है, नहीं है। तो भी इस का यह अभिप्राय नहीं कि चीजें वास्तव में अयथार्थ हैं, या भाषा हैं। वे कम से कम उतनी यथार्थ अवश्य हैं जितना वह चित्त जिसे उन का बोध होता है।

सापेक्ष दृष्टि से जो बहुत से स्थायित्व लिये हुए संकर हैं, हम देखते हैं कि स्मृतियों का, चेतनाओं का, भावनाओं का, विचारों का, आकांक्षाओं का, एक संकर है जो शरीर–विशेष के साथ जुड़ा हुआ है, जिसे अहं या "मैं" कहा जाता है। लेकिन जैसा हम ने देख लिया है, यह अहं या मैं भी सापेक्ष दृष्टि से ही थोड़ा स्थायित्व लिये हुए है। यदि अहं या मैं कुछ स्थायी प्रतीत होता है तो इस का यही कारण है कि उन स्कन्धों में जो परिवर्तन होते हैं, जिन से "मैं" की निर्मिति होती है, वे सापेक्ष दृष्टि से सुस्त हैं। केवल इस एक बात से कि चित्त की सरूपता है, यह सिद्ध नहीं होता कि ऐसा कोई आत्मा है जो इन्द्रियानुभूतियों का, विचारों आदि का साक्षी हो या उन का मालिक हो। जब एक आदमी कहता है कि उसे गरमी लग रही है, तो उस का यही मतलब है कि उस के दूसरे स्कन्धों को ऊष्णता की अनुभूति हो रही है। जब उसे किसी भी प्रकार की इन्द्रियानुभूति नहीं होती अर्थात् जब उस की मृत्यु हो जाती है, तब स्कन्धों का विघटन हो जाता है। तब स्कन्ध अपने अभ्यस्त ढंग से परस्पर सहयोग देते लेते नहीं है। किस्सा खतम। जिस का होना रुक गया है वह व्यावहारिक एकता है, पारमार्थिक एकता नहीं। "मैं" कोई रहस्यपूर्ण अपरिवर्तन शील एकता नहीं है। हर कोई जानता है कि उस के "अहं" में कैसे कैसे परिवर्तन हो रहे हैं? यह जानकर कि "अहं" परिवर्तन शील है, हर कोई इस के गुणों में परिवर्तन लाकर इसे सुधारने की कोशिश कर रहा है।

आत्मा की संख्यागत एकता से चित्त की एकता की व्याख्या नहीं हो सकती। हैरमैन लाटसे ने अपनी पुस्तक 'मैटाफिजिक' में लिखा है कि किसी आधारभूत आत्मा की एकता से चित्त की एकता को समझाने का प्रयास तर्क करने का ऐसा ढंग है कि जो किसी स्वीकार करने योग्य आदर्श तक तो पहुंचता ही नहीं, बल्कि जिसका कोई आदर्श होता ही नहीं। जो 'अहं' होता है वह वेदना, संज्ञा, संस्कार, विज्ञान का एक ऐसा समूह होता है जो आपस में एक दूसरे के साथ इतना जुड़ा रहता है, जितना दूसरे व्यक्ति के स्कन्धों अथवा दूसरे व्यक्तियों के साथ नहीं। लेकिन यदि हम अहं को एक संख्यागत एकता समझें और यह मानें कि यह स्कन्धों से पृथक और स्कन्धों से परे रहने वाली कोई रहस्यपूर्ण इकाई है तो हम अपने आप को एक अविद्या का शिकार बना लेंगे। या तो हमें अपने 'अहं' के ऊपर अगणित अज्ञात इकाइयों को स्वीकार करना होगा, या फिर आदमी को यह मानना होगा कि दूसरे सभी आदमियों के अहं और सारा जगत् उसी के 'अहं' की उपज है। पहले ढंग का और किसी 'अज्ञात' को बड़े 'अ' से लिखने का एक ही फल होगा कि अज्ञ लोग भय भीत हो जायें। जो दूसरा क्रम है उस का तो कोई अहं-वादी अपने व्यवहारिक जीवन में स्वयं अनुकरण नहीं करता।

'अहं' में कुछ भी स्थायित्व लिये हुए नहीं है। उस के 'संरक्षण' का कोई अर्थ ही नहीं है। कुछ हद तक तो इस बात के सहजज्ञान का और कुछ हद तक इसी डर का यह परिणाम हुआ है कि अनेक लोगों ने बहुत सा आशावादी, धार्मिक और दार्शनिक बकवास किया है और बेकार की बातें की हैं। गहरे चिन्तन और चैतसिक विश्लेषण के फलस्वरूप तथागत इस परिणाम पर पहुंचे कि जितने भी मिथ्या-मत हैं उन का मूल आत्म-दृष्टि में ही है। भले ही यह जीवात्मा सम्बन्धी विश्वास हो और भले ही यह ब्रह्म सम्बन्धी विश्वास हो, दोनों विश्वास मिथ्या-दृष्टि ही हैं। यह आत्मा सम्बन्धी विश्वास ही है, जिस के कारण सामान्य आदमी अनित्य वस्तुओं को नित्य समझता है और इस प्रकार दुःखार्जन करता है। बोधिचर्यावतार का मत है कि 'आत्मानं अपरित्यज्य दुःखम् त्युक्तुं न शक्यते', बिना आत्म-दृष्टि का त्याग किये दुःख से मुक्ति पाना अशक्य है। जब व्यक्तिगत अमरता की तृष्णा का नाश होता है, तभी आदमी अधिक स्वतंत्र और अधिक विवेकपूर्ण जीवन-दर्शन को अपना सकता है, जिस से फिर आदमी दूसरों के 'अहं' के ऊपर अपने 'अहं' को अत्यधिक महत्व नहीं देता।

अनित्य और अनात्म की जो संक्षिप्त चर्चा की है उस से सामान्य पाठक के लिये निर्वाण के बारे में सही चिन्तन कर सकना सहज हो गया होगा। निर्वाण के बारे में दो मिथ्या-मत प्रचलित हैं। सर्वप्रथम उन्हीं का खण्डन होना चाहिये। कुछ सोचते हैं कि निर्वाण एक ऐसी अवस्था हैं जिस में आदमी का व्यक्तित्व व्यापक-व्यक्तित्व में उसी प्रकार घुल मिल जाता है, कुछ कुछ उसी प्रकार जैसे ब्राह्मणों के वेदान्त-दर्शन की समझ है। कुछ दूसरे समझते हैं कि उस में किसी भी प्रकार की क्रिया शीलता के लिये कुछ भी गुंजायश नहीं रहती। जिस में प्रेम, जीवन सभी कुछ विरुद्ध हो जाता है। जहांतक पहले मत का सम्बन्ध है, हमें इतना ही कहना है कि वास्तविक निर्वाण इस से सोलह आने विरुद्ध है। बौद्ध धर्म न किसी आत्मा को स्वीकार करता है और न किसी ब्रह्म को। यह किसी ब्रह्म के साथ सम्बन्ध स्थापित करने या उस में लीन होने की शिक्षा दे ही कैसे सकता है? तेविज्ज सुत्त में भगवान बुद्ध ने ऐसे आदमी की जो ब्रह्म में विश्वास रखता है और उस के साथ सम्बंध जोड़ना चाहता हैं, उपमा उस आदमी से दी है जो किसी चौरस्ते पर सीढ़ी रखकर कि बड़े भवन तक पहुंचना चाहता है, जिसे न वह देख सकता है और न जिस के बारे में जान सकता है कि वह कहाँ है, कैसा है, वह किस चीज का बना है और कि वह वास्तव में कहीं है भी या नहीं? ब्राह्मण वेदों को प्रमाण मानते हैं, वेदों की प्रामाणिकता वेदों के मन्त्र-द्रष्टा ऋषियों की प्रामाणिकता पर आश्रित करती है और ये मन्त्र-द्रष्टा ब्रह्म प्रजापति पर आश्रित हैं। वे अन्धों की एक कतार के समान हैं, जहाँ प्रत्येक अन्धा दूसरे को पकड़े हुए है और दूसरे का मार्ग-दर्शक है और उन का मुक्ति मार्ग इतना ही है कि स्तुति करो, पूजा करो और प्रार्थना करो। वेदान्त का सिद्धान्त बड़ी ऊंची शब्दावलि

लिये सुशोभित है, लेकिन इस में सत्य का लवलेश नहीं है। भगवान बुद्ध ने वेदान्त मत के अनुयायी की उपमा उस बन्दर से दी है जो झील के किनारे रहता है और झील में पड़ी चन्द्रमा की छाया को असली चन्द्रमा समझ उसे ग्रसने का प्रयास करता है।

दूसरा दृष्टि-कोण निर्वाण शब्द के शब्दार्थ के साथ अधिक मेल खा सकता है। निर्वाण शब्द की व्युत्पत्ति निः अर्थात् अभाव और वात अर्थात् वायु शब्द से हुई है। निवात 'त' न में परिवर्तित हो जाता है यदि वात शब्द से वायु अर्थ अभिप्रेत न हो। यद्यपि ब्राह्मणग्रन्थों में भी निर्वाण शब्द प्रयुक्त मिल सकता है, किन्तु अर्थ-विशेष में इस का जो प्रयोग होता है, उसका कारण भगवान् बुद्ध और उन के अनुयायी ही हैं। उपनिषदों और ब्राह्मणों के दूसरे ग्रन्थों में हमें मुक्ति के पर्याय मिलते हैं अमृत, मोक्ष, निःश्रेयस, कैवल्य, तथा अपवर्ग, लेकिन केवल पालि ग्रन्थों और संस्कृत ग्रन्थों में ही मोक्ष के पर्याय के रूप में निर्वाण शब्द का प्रयोग हुआ है। भगवान बुद्ध ने जिस अर्थ में निर्वाण शब्द का प्रयोग किया वह दीपक की लौ के बुझ जाने के अर्थ में किया है। निर्वाण शब्द का शब्दार्थ कुछ भी हो स्वयं तथागत का जीवन इस बात का प्रमाण है कि निर्वाण शब्द का अर्थ क्रिया शीलता का उपशमन नहीं है। शाक्य-मुनि ने पैंतीस वर्ष की आयु में बोधि की प्राप्ति की और उस के बाद का पूरे पैंतालीस वर्ष का जीवन लोक कल्याण करने में ही व्यतीत किया। इसलिये निर्वाण का अर्थ समस्त कार्य-शीलता का निरोध हो नहीं सकता। इस का अर्थ एक तो है राग, द्वेष, मोह का शमन, दूसरी ओर है तमाम मानवी गुणों की परिपूर्णता। यदि यह निषेध ही है तो यह निषेध विकास के माध्यम से है। जैसे वृक्ष के रूप में विकसित हो जाने से बीज का विनाश हो जाता है, उसी तरह परोपकार वृत्ति के विकसित हो जाने से तमाम स्वार्थपरता का विनाश हो जाता है। यदि निर्वाण का अर्थ तमाम मानवी भावनाओं तथा समस्त क्रिया शीलता का निषेध मात्र होता तो फिर दुःख और चिंताओं से मुक्ति लाभ करने का सरलतम और शीघ्रतम उपाय था आत्म-हत्या कर लेना। लेकिन जिस किसी ने 'अहं' और 'कर्म' के यथार्थ स्वरूप को हृदयङ्गम कर लिया है, उसे यह अनायास स्पष्ट हो जाता है कि निर्वाण का उपरोक्त अर्थ एक बेहूदगी है। आत्महत्या एक ऐसा उदाहरण है जिस से औरों के मन में बुरे बुरे भाव पैदा होते हैं। जिस से आतंक की उत्पत्ति हो, जिस से बेचैनी जन्म ग्रहण करे, ऐसी आत्महत्या दुःख के निरोध का निमित्त कारण कैसे बन सकती है? आत्म-हत्या के मूल में या तो पागलपन होता है, या अहंकार। यह या तो प्रज्ञा की अस्थायी पथ-भ्रष्टता का परिणाम होती है, या कभी कभी भावी खतरों से अपने आप को बचाये रखने की बलवती इच्छा का परिणाम। आत्महत्या करने वाला अपने आप को मृत्यु के हाथ में सौंप देता है, क्यों कि उसे किसी शारीरिक या भावनात्मक विपत्ति का डर होता है। इस लिये किसी भी परिस्थिति में आत्म-हत्या निर्वाण-प्राप्ति का मार्ग नहीं है। हाँ, यदि किसी सन्तपुरुष ने निर्वाण

प्राप्त कर लिया है और वह स्वेच्छा से अपने जीवन का परित्याग करना चाहता है क्यों कि अब उस का शरीर किसी के भी कुछ काम का नहीं रहा, तो उस का ऐसा करना निरापद भी कहा जा सकता है।

नकारात्मक रूप से निर्वाण राग, द्वेष, मोह का अन्तर्धान होना है। जातक के टीकाकार का कथन है, "किस से प्रत्येक आदमी का दिल स्थायी शान्ति प्राप्त कर सकता है ?" और जो स्वयं पापमुक्त थे, उन्हों ने उत्तर दिया, "जब रागाग्नि शान्त हो जाती है, शान्ति का प्रादुर्भाव होता है, जब द्वेष और मोह की आग बुझ जाती हैं, शान्ति की उत्पत्ति होती है । जब अहंकार, अन्ध विश्वास तथा दूसरे जितने भी मानसिक अकुशल–कर्म हैं, उन का लोप हो जाता है, तब शान्ति उत्पन्न होती हैं।" इन तीनों अग्नियों के बुझ जाने पर सम्पूर्ण निष्पाप शान्ति उपजती है, पवित्रता, मंगल–कामना और प्रज्ञा से उत्पन्न होने वाला अमिश्रित आनन्द। जैसे अश्वघोष का कथन है, "जब इस प्रकार सभी आश्रम, सभी क्लेश शान्त हो जाते हैं, यह कहा जाता है कि हम निर्वृत्त हो गये, और तब विविध कुशल कर्म सहज ही अपने आप होने लगते हैं।" जब तक साथ साथ कुशल प्रवृत्तियों का जन्म नहीं होता, अकुशल प्रवृत्तियों का निरोध हो नहीं सकता। बिना आर्य अष्टांगिक मार्ग पर चले या बिना आध्यात्मिक उन्नति की दस भूमियों तक पहुंचे, कोई भी दस संयोजनों से मुक्त कैसे हो सकता है ? जब तक उन दस पारमितताओं की पूर्ति न हो ले, जिस का फल बुद्धत्वप्राप्ति होता है, सभी चित्त-मलों का सफाया कैसे हो सकता है ? जब स्वार्थ–परता का मूलोच्छेद हो जाता है तब अर्हत स्वयं उदारता, कृपालुता, नैतिकता, त्याग, प्रज्ञा, सहनशीलता, सचाई, धैर्य, निश्चयात्मकता और समत्व सदृश सभी गुणों की साकार मूर्ति बन जाता है। जिस आदमी ने निर्वाण प्राप्त किया होता है, वह सम्पूर्ण सुखद जीवन का प्रति-रूप बन जाता है, क्योंकि उस के पास ऊँचे से ऊँचा ज्ञान होता है और श्रेष्ठ से श्रेष्ठतम सदाचार होता है। "जैसे एक सर्वगुणसम्पन्न कँवल का फूल होता है, ठीक वैसा ही तथागत का शिष्य होता है," मिलिन्द प्रश्न में महास्थविर नागसेन ने कहा है। यदि तुम पूछो कि निर्वाण की पहचान क्या है ? जहाँ दुख और चिन्ता से मुक्ति है, जहाँ विश्वास है, जहाँ शान्ति है, जहाँ सुख है, जहाँ आनन्द है, जहाँ कोमलता है, जहाँ पवित्रता है, जहाँ ताजगी है, वहाँ निर्वाण है।

यद्यपि निर्वाण समस्त अहंकार का परित्याग है और अपने आप को ही सुखी बनाने की संघर्ष से छुट्टी लें लेना है, अस्थाई इच्छाओं की पूर्ति के लिये औत्सुक्य से भी हाथ धो लेना है, तो भी इसका मतलब व्यक्तित्व का निषेध नहीं है। जीवन में व्यक्तित्व का उच्छेद तभी संभव होता है जब समस्त चेतसिक व्यापार रुक जाय, जैसे बेहोशी की हालत में या स्वप्न–रहित निद्रा की अवस्था में, वेदान्त की यह शिक्षा है कि गहरी निद्रा की अवस्था में आत्मा का उच्चतम ब्रह्म से एकीकरण हो जाता है और कि 'बेहोशी की अवस्था ब्रह्म के साथ आधा एकी-

करण है।' इस के विपरीत धर्म के शिक्षण में ऐसे विचारों के लिये कहीं कोई स्थान नहीं है। इस प्रकार के विचारों को वह स्पष्ट रूप से पागलपन समझता है। बोधि, जो निर्वाण का ही पर्य्याय है, सात अंगों से युक्त होनी चाहिये। वे सात अंग हैं, श्रद्धा, प्रज्ञा, विवेक, धर्म–विनय, प्रीति, सुख और गाम्भीर्य। क्या जहाँ चित्त ही न हो, वहाँ ये गुण विद्यमान रह सकते हैं ? जिन तीस महापुरुष लक्षणों से बुद्ध युक्त होता है उन में सर्वप्रथम गुण ही है अपार करुणा, अपार मैत्री। इसलिये न तो उच्छेद को ही निर्वाण कह सकते हैं ओर न किसी परलोक को। यह उस परिपूर्णता का द्योतक है जो अर्हत इसी जन्म में प्राप्त करता है। वह अपार प्रज्ञा और मैत्री से समन्नागत होता है। "जो श्रावक काम–तृष्णा से मुक्त होता है, जो प्रज्ञावान होता है, वह यहीं इसी पृथ्वी पर मृत्यु से मुक्त हो जाता है। अर्हत जिस ने निर्वाण प्राप्त कर लिया है अपने लिये नहीं, औरों के लिये जीता है। कुछ लोग सोचते हैं कि शून्यवाद ही शून्यवाद का नाम निर्वाण है। ऐसा नहीं है। यह तो वास्तव में सत्य, शुभ, स्वातन्त्र्य तथा ज्ञान के स्वच्छ वायु-मण्डल में सम्पूर्ण मानवता का जीवन बिताना है। एक ओर जहां निर्वाण समस्त स्वार्थपरता का विनाश है, वह दूसरी ओर यही निर्वाण सम्पूर्ण मैत्री तथा धार्मिकता की भी प्राप्ति है। संक्षेप में यह अपने चिन्तन और जीवन में उन गुणों को साकार करना है, जो सम्पूर्ण मानवता के परिचायक हैं।

बहुधा यह मान लिया जाता है कि जिस आदमी ने निर्वाण प्राप्त कर लिया है या जिस ने बुद्धत्व लाभ कर लिया है, वह कर्म के नियमों से ऊपर हो जाता है। यह एक गलती है। इस का कारण है अर्हत् के आदर्श के साथ हिन्दु जीवन्मुक्त के आदर्श को गडमड्ड कर देना। हिन्दू प्राय: जीवन्मुक्त की उपमा एक बाल (=बच्चे) से देते हैं, एक पागल से देते हैं, एक पिशाच–अधिगृहीत से देते हैं और मानते हैं कि जो जीवन्मुक्त होता है वह नियम–मुक्त भी होता हैं। लेकिन जो बौद्ध है वह वेदान्ती नहीं है। बौद्ध अर्हत् किसी भी नैतिक नियम का उल्लंघन कर हीं नहीं सकता। तेविज्ज सूत्र का कहना है कि "वह छोटे से छोटे नियम को भी भंग करने में खतरा समझता है।" यदि वह किसी शिखर–विशेष पर जा पहुंचा है तो वह उन सीढ़ियों की उपेक्षा नहीं कर सकता जिन पर चढ़कर वह शिखर पर पहुंचा है। गुण ही वह स्थान हैं, जैसा नागसेन का कहना है, जहाँ खड़े होकर आदमी अपने जीवन को इस प्रकार मोड़ सकता है कि वह निर्वाण–प्राप्त हो सके। "संक्षेप में कहना हो, तो हर समय हर आदमी का कल्याण करते रहने के प्रयास से, पवित्र और दिव्य दान देते रहने से, यथार्थ प्रज्ञावान बनने से आदमी में अर्हत्व के गुणों की वृद्धि होती है। आत्मपरित्याग पूर्णत्व की जननी है। सतत जागरूक बने रहने से, पूरी पूरी तरह समझदार बनने से, सम्यक् स्मृति-वान बनने से और समाधि–प्राप्ति से ही पूर्णत्व तक पहुंचा जा सकता है।"

आदमी धर्म के माध्यम से संक्षेप में तीन हीं बातें चाहता हैं, चित्त की शान्ति

और स्थिरता, प्रतिकूल परिस्थिति में सान्त्वना और मरते समय आशान्वित रहना। बौद्ध धर्म में ये तीनों निर्वाण के द्वारा प्राप्त हैं। सामान्य आदमी ईश्वर में अपनी शान्ति और विश्राम खोजता है। उस के लिये उस की सभी जिज्ञासाओं का समाधान ईश्वर है। लेकिन बौद्ध की स्थिति इस से सर्वथा भिन्न है। बौद्ध धर्म ईश्वर का निषेध करता है और इसलिये ईश्वर उस का शरण स्थान नहीं हो सकता। बौद्ध का आदर्श है बुद्धत्व और बुद्धत्व का सार है धर्म–काय। उन सभी नियमों का संग्रह जो जीवन से सम्बन्ध रखते हैं और जिन की एक मात्र उपलब्धि है बोधि। धर्म काय एक अत्यन्त व्यापक शब्द है जिस के अन्तर्गत न केवल बौद्ध के विश्व के सम्बन्ध में ज्ञान का समावेश होता है, बल्कि उस की भावनाओं का भी। धर्म काय का मतलब है कि यह विश्व बौद्ध के लिये मात्र मशीन नहीं है, बल्कि उस में जीवन का स्पन्दन भी है। इस से आगे इस का एक अर्थ यह भी है कि विश्व के बारे में व्यक्ति का ध्यान आकर्षित करने वाला जहाँ उस का एक बौद्धिक पक्ष है, उस के साथ विशेष रूप से ऊँची स्थिति पर पहुँच जाने पर उस का नैतिक पक्ष भी है। इतना ही नहीं, इस का एक अर्थ यह भी है कि सारा विश्व वास्तव में एक है, और उस में न कहीं किसी अराजकता के लिये स्थान है, न किसी द्वैत–भाव के लिये।

धर्मकाय कोई मामूली दयनीय मान्यता नहीं है। यह अस्तित्व का वह पहलू है, जिस से विश्व कुछ समझदारी की चीज मालूम देता है, जो कि कारण–कार्य के नियम में दृष्टिगोचर होता है और जो उस सुखद जीवन में प्रकट होता है जो धार्मिकता का प्रतिफल है और उस प्रतिकूलता में भी जो अकुशल–कर्मों का परिणाम है। धर्मकाय वस्तुओं की वह आदर्श प्रवृत्ति है जो कि आदमी की बौद्धिक चेतना और नैतिक आकांक्षा में प्रकट होती है। यद्यपि आदमी की तरह कोई सामान्य व्यक्ति नहीं, यद्यपि किसी खास मनो–वृत्ति का कोई सीमित प्राणी नहीं, धर्मकाय समस्त व्यक्तित्व का आधार है। क्योंकि निरालम्ब अनाश्रव धर्म सन्तान है इस लिये धर्मकाय का आदमी से पृथक कोई अस्तित्व नहीं है, नहीं आदमी का इस के प्रति जो विश्वास है उसी से इसे अतिरिक्त शक्ति प्राप्त होती है। मनुष्य का व्यक्तित्व जितना अधिक से अधिक विकसित हो सकता है, वह सब कुछ धर्म–काय ही धर्म–काय है। यही वह सब कुछ है, जिस की एक नैतिक जीव की हैसियत से प्रत्येक प्राणी, भले ही आंखें मूंदे हुए रहे तलाश कर रहा है कि वह धर्म–काय मय हो जाय। यह प्रत्येक बुद्धिसहगत चित्त की जो सम्पूर्णता को प्राप्त है निराकार प्रेरणादायक मूर्ति है। बिना धर्म–काय के ऐसा कुछ भी नहीं बचेगा जिस से व्यक्तित्व का निर्माण हो सके, कोई तर्क नहीं, कोई विज्ञान नहीं, कोई नैतिक महत्वाकांक्षा नहीं, कोई आदर्श नहीं, जीवन का कोई परमार्थ नहीं।

धर्म–काय सारे अस्तित्व का माप–दण्ड है, इस से सत्यासत्य की जांच होती है, इस से धर्माधर्म का परीक्षण होता है, यह सद्धर्म है, यह वह है जो किन्हीं आचरणों को व्यक्ति के लिये लाभदायक ठहराता है और किन्हीं आचरणों को

हानिकारक। अपनी भाषा की सीमा और अपने ज्ञान की अपूर्णता के कारण हम धर्म–काय के बारे में पूरी पूरी जानकारी नहीं भी रख सकते। लेकिन हमें इतनी जानकारी अवश्य है कि हम इसे अपने जीवन का मार्ग–दर्शक बना सकें। जैसे कोई बादल बिना किसी भी प्रकार का भेद–भाव किये हर जगह बरसता है, इसी तरह से धर्मकाय सर्वत्र विद्या के प्रकाश को बिखेरता है। यद्यपि जल–पूरित महान् बादल इस खुली दुनिया में सभी देशों और समुद्रों के ऊपर मंडराता है, अपने पानी को सभी जगह बरसाता है, सभी प्रकार के घासों पर, झाड़ियों पर, झण्डों पर, नाना प्रकार के पेड़ों पर, पृथ्वी पर उगने वाले नाना नामधारी पौधों पर, पहाड़ियों पर, पर्वतों पर, या वादियों पर, तो भी जितने भी घास, झाड़ियां और झुण्ड है, जितने भी जंगली पेड़ हैं, यद्यपि वे सभी एक ही प्रकार के जल को प्राप्त करते हैं, जिसे वह ही महान बादल भरपूर बरसाता हैं, वे सभी अपने अपने कर्म के अनुसार उगते हैं। वे मात्रा के हिसाब से विकसित होते हैं और बड़े छोटे बढ़ते हैं। वे ऊपर की तरफ बढ़ते हैं और अपनी अपनी ऋतु में पुष्पित होते हैं और फल देते हैं। इसी प्रकार यद्यपि धर्म काय सभी के लिये एक ही है, भिन्न भिन्न प्राणी भिन्न भिन्न ढंग से सत्य का आचरण करते हैं और धर्म–काय का अनुसरण करते हैं। हम चाहे धर्म–काय में विश्वास करें, चाहे न करें यह हमारे जीवन को प्रेरणा देती ही है। इतना होने पर भी यदि हम समझदारी के साथ इसे समझें रहें तो हम इस से अधिक से अधिक लाभ उठा सकते हैं। धर्म–काय का प्रेम आदमी को किसी न किसी ऊंचाई की ओर, किसी न किसी श्रेष्ठता की ओर, किसी न किसी सौन्दर्य की ओर और किसी न किसी सत्य की ओर अग्रसर होने की प्रेरणा देता है।

धर्म–काय कोई ऐसा ईश्वर नहीं जो मदाखलत करता हो और जो कुछ उसे अच्छा न लगता हो, उसे पाप की संज्ञा दे देता हो। धर्म–काय आदमी को यह नहीं कहता : 'मैं विश्व भर का सर्व शक्तिमान शास्ता हूँ। तुम मेरे विशेष प्रिय–भाजन हो। मैं ने तुम्हें विश्व भर में सर्वोच्च स्थान दिया है। तुम और अधिक ऊंचे पदों पर आसीन हो सकते हो, यदि तुम मेरी आज्ञाओं का पालन करो और मुझे धर्म–शुल्क दो'। धर्म–काय की कभी यह इच्छा नहीं होती कि कोई उस की प्रार्थना करे और उसे यह भी पसन्द नहीं कि उस के पुजारी उस की स्तुति गाते रहें। धर्म–काय आत्म–बोध युक्त कोई ऐसा भी व्यक्ति नहीं है जो इस दुनिया पर कानून के अनुसार दण्डनीय व्यक्तियों को दण्डित करता हुआ, जैसे मानवी शासन–पद्धति है, तदनुसार आचरण करता हो। प्रत्येक आदमी बुद्धि प्रधान आदर्श की ओर आकर्षित होता है। इस लिये धर्म–काय लोगों पर अधिकार के बल से नहीं, बल्कि तर्क के बल से अनुशासन करता है, शस्त्र–बल से नहीं, प्रेम बल से। हम धर्म–काय की सन्तान नहीं है, बल्कि अपने अनुभवों और अपने विश्वासों की निर्मिति हैं। हर प्राणी अपनी बोध–रहित अन्धी प्रेरणाओं की उपज है। हर किसी ने अपने अपने जीवन का पदार्थ–पाठ अपने अपने तरीके पर सीखा

है । हर आदमी अपने प्रति जिम्मेदार है और कोई भी दूसरे पर इस बात के लिये दोषारोपण नहीं कर सकता कि वह जैसा है वैसा वह क्यों है ?

जीवन और मृत्यु की समस्याओं पर पूरी गहराई से विचार करते हुए तथागत इस निष्कर्ष पर पहुंचे कि जीवन का आरम्भ अज्ञात बोध–रहित संभावनाओं से होता है, जिन के साथ अन्धी उत्तेजनायें जुड़ी हुई हैं । जीवन का आरम्भ जीवन की अपनी कृति है । यह जीवन का आरम्भ करने वाली प्रवृत्ति ही है जिस से जीवन का आरम्भ होता है और जो दिशा–विहीन है और जो सारे अकुशल के मूल में है । अपने आध्यात्मिक प्रतीत्यसमुत्पाद के सूत्र में तथागत ने अपने सारगर्भित तरीके पर कारण–कार्य की कड़ी में जो बारह कड़ियाँ हैं, उन की व्याख्या की हैं । ये ही जीवन को पूर्ण विकास की ओर ले जाती है, जिस का दर्शन मानवी विकास में होता है । आरम्भ में अविद्या का आविर्भाव होता है । अविद्या कहते हैं बोध–रहित सामर्थ्य को । और इस अनिश्चित जीवन के धुंधलेपन में से संस्कार स्थूल आकार रहित स्कन्धों को उत्पन्न कर देते हैं । इस प्रकार जो कुछ भी उत्पन्न होता है उस से सेन्द्रिय पदार्थ जन्म ग्रहण करते हैं जिन में बोध होता है, इन्द्रियानुभूति होती है और चुभन होती है । उसे विज्ञान कहते हैं । इन्हीं में से आत्म–बोध उत्पन्न होता हैं, वह एकता जो आत्म और अनात्म में भेद करती है और सेन्द्रिय पदार्थों को व्यक्ति के रूप में जीवित रखती है । इसे नाम–रूप कहते हैं । आत्म–बोध के साथ साथ आरम्भ होते हैं अनुभव के छह क्षेत्र, जो छह आयतन कहलाते हैं । ये पांचों इन्द्रियों और छठे मन की गोचर–भूमि है । छह आयतनों की गोचर–भूमि में से बाह्य संसार के साथ स्पर्श उपजता है । बाह्य जगत से जो सम्पर्क होता है उस से और उस पर छह इन्द्रियों और मन की जो क्रिया–शीलता होती है उस से इन्द्रियानुभूतियों की उत्पत्ति होती हैं । ये सुखद, दुखद, असुखदुखद तीन प्रकार की होती है और वेदनायें कहलाती है । सुख–दुःख का जो अनुभव है वह व्यक्ति–स्वरूप प्राणी में अपने व्यक्तिगत संतोष के प्रति एक पीछे पड़ जाने वाली इच्छा तृष्णा को पैदा कर देता है । इस का कारण है कि वह स्वयं अपने स्वरूप को नहीं पहचानता है । व्यक्तिगत संतोष की पूर्ति करने की इच्छा उपादान को पैदा कर देती है । दुनियावी सुख–दुःख में उलझे रहने से भव, आत्म–भाव की वृद्धि होती है । आत्म–भाव जाति (जन्म) का जनक है । जब लगातार होने वाले इन परिवर्तनों पर आदमी स्वार्थपरता की दृष्टि डालता है तो उसी में से जरा–मरण, शोक, रोना–पीटना सभी प्रकार के दुःख और चिन्ताएँ उत्पन्न हो जाती हैं ।

इस प्रकार सारे दुःख का मूल कारण उस के मूलारम्भ में ही निहित हैं । यह उस अविद्या के अन्तर्गत है, जिस से जीवन आरम्भ होता है । जब अविद्या का निरोध होता है, संस्कार स्वयं निरुद्ध हो जाते हैं । जब संस्कारों का निरोध होता है विज्ञान स्वयं निरुद्ध हो जाता है। जब विज्ञान का निरोध होता है नाम–

रूप स्वयं निरुद्ध हो जाता है । जब नाम-रूप का विरोध होता है, तो षडायतन (= छह इन्द्रियों) और उन के स्पर्श का निरोध स्वयं हो जाता है । स्पर्श का निरोध होने पर वेदना का निरोध स्वयं हो जाता है । वेदना का निरोध होने पर तृष्णा निरुद्ध हो जाती है । तृष्णा का निरोध होने पर उपादान निरुद्ध हो जाते हैं । उपादान का निरोध होने पर भव निरुद्ध रहता है । भव का निरोध होने पर जन्म, बुढ़ापा, मृत्यु, शोक, रोना-पीटना स्वयं निरुद्ध रहते हैं । यही निर्वाण है ।

इस से यह स्पष्ट है कि हम में से हर किसी का भाग्य हमारे अपने हाथ में है । यदि जीवन दुःखमय है तो किसी को इस का अधिकार नहीं कि वह किसी भी दूसरे को दोषी ठहराये । धर्म-काय पर तो वह किसी भी प्रकार की जिम्मेदारी डाल ही नहीं सकता । यह धर्म-काय का कार्य नहीं है कि वह निर्दोष प्राणियों को उन परिस्थितियों के लिये जो उन्होंने स्वयं उत्पन्न की हैं कष्टमय जीवन व्यतीत करने दे । जीवन का कष्ट जीवन की ही अपनी कमाई है । जो प्रकृति के स्वभाव से परिचित है उसे कष्टप्रद जीवन से भयभीत नहीं होना चाहिये । उसे उन्हें एक मर्द की तरह सहन करना चाहिये । कोई भी आदमी उस नियम को नहीं बदल सकता जो हमें अच्छाई की ओर ले जाता है । लेकिन आदमी का व्यक्तित्व अधिकाधिक सुस्पष्ट होता चला जाता है, जैसे जैसे वह धर्म काय के साथ एक होता जाता है । यदि आदमी धर्म-काय से जो मार्ग-दर्शन प्राप्त होता है, उसे उपयोग में लाता है, अपने जीवन को धर्मानुसार ढालता है, आर्य अष्टांगिक मार्ग का अनुकरण करता है, तो जीवन के साथ जो कष्ट जुड़े हुए हैं, आदमी उन से बच निकलता है और निर्वाण में, आनन्दमय जीवन में प्रवेश पा लेता है । धर्मकाय और बुद्धत्व पर्याय हैं ।

जिस ने निर्वाण प्राप्त कर लिया है वह अपनी ही इच्छाओं की पूर्ति का प्रयास करता हुआ स्वार्थ-परता का जीवन बिता नहीं सकता । वह अपने आप को ऊँचे उठाने के प्रयासों में नहीं लगा रहता अथवा दूसरों के लिये आकर्षण केन्द्र बनने की कोशिश में, बल्कि वह संघ का क्रियाशील सदस्य और प्रेरणा-स्रोत बनने का प्रयास करता रहता है । संघ के सभी सदस्य मिलकर उस संपूर्णता के लिये प्रयत्नशील रहते हैं, जो सभी के लिये प्राप्य है । जैसा बोधिचर्यावतार में लिखा है कि सभी को सुखी बनाने की इच्छा से ही आदमी बोधि प्राप्ति की इच्छा करता है । जब कि निर्वाण आदमी को दुनिया की तुच्छता से ऊपर उठाता है, वह आदमी और दुनिया के बीच दूरी नहीं पैदा करता । इस संसार के लिये उपयोगी बनकर जीने से ही निर्वाण को संसार में उच्चतम स्थिति प्राप्त होती है । यदि निर्वाण व्यापक समष्टि के साथ मिल जुल कर रहना है, तो बोधिसत्व इसे छोटे समष्टि के साथ जिसे मानवता कहते हैं, मेल मिलाप से रहकर प्राप्त कर सकता है । इतना ही नहीं कि जो अरहत होता है, वह अकुशल से दूर दूर रहता है, वह कुशल-कर्म करने में लगा रहता है । वह धार्मिक जीवन की अत्यन्त सुगन्धित वायु में ही साँस नहीं लेता, उस का

हृदय कोमल मैत्री से भरा रहता है । अपने लिये भले ही वह कुछ भी न चाहता हो, लेकिन वह सभी प्राणियों के कल्याण के लिये काम करता है। उस की सदाचार मय चेतना में उपकार ही उपकार की भावना शेष रह गई है, उस का अहं सर्वथा समाप्त ही गया है। जो कुछ भी श्रेष्ठ है वह उस के साथ एक हो जाता है। वह सभी प्राणियों पर दया करता है। उस की सहानुभूति व्यापक है। उस की करुणा इतनी उदार है कि वह सभी तक पहुंचती है, वह उन तक भी पहुंचती है जो उस से घृणा करते हैं। जैसे कोई माता अपने लिये खतरा मोल लेकर भी अपने इकलौते पुत्र की रक्षा करती है, उसी प्रकार जो निर्वाण-प्राप्त है, वह सभी प्राणियों के बीच मंगल-भावना का संचार करता है, सारे जगत के प्रति उस के मन में एक दूसरे के बीच भेद करने का या किसी व्यक्तिविशेष का पक्षपाती होने का तनिक भी भाव नहीं रहता। संसार के अनन्त दु:ख को नष्ट करने के प्रयास में लगे रहना ही उस की अन्तिम बड़ी से बड़ी साधना है। वह दृढ़तापूर्वक इसी चित्त-वृत्ति को धारण किये रहता है, "संसार में सर्वश्रेष्ठ" जैसे मैत्री-सूत्र का वर्णन है। साथ साथ भले ही वह खड़ा हो, चल रहा हो, बैठा हो, लेटा हो, वह जाग्रत अवस्था में रहता है।

यही अवस्था सुखावति भी है जहाँ अमिताभा है और अमितायु है। जब अरहत का मरण होता है, जिन स्कन्धों से उस का शरीर बना है, उन का विघटन हो जाता है, लेकिन अरहत तब भी जीवित रहता है। उपाधिशेष निर्वाण प्राप्त होने पर अरहत के शरीर को भी कुछ शारीरिक कष्ट हो सकते हैं, लेकिन उपाधिशेष परिनिर्वाण में जब अरहत का शरीर भी नहीं रहता, वह सभी प्रकार के क्लेशों से मुक्त हो जाता है। वह ऐसी स्थिति को पहुंच गया है "जो अनुत्पन्न है, अजात है, अनिर्मित है, ऐसी अवस्था जहाँ न पृथ्वी-धातु है, न आप् (=जल) -धातु है, जहाँ न ऊष्णता है, न वायु है, न आकाश की अनन्तता है, न विज्ञान की अनन्तता है, न अकिञ्चनता है, न संज्ञा है, न संज्ञा-विहीनता है, न यह लोक है और न परलोक है।" यह हर प्रकार की शब्दावलि का परित्याग यही प्रकट करता है कि वह अवस्था इतनी व्यापक है कि किन्हीं भी शब्दों के बंधन में बन्ध नहीं सकती। इस का यह मतलब नहीं कि ऐसी कोई अवस्था है ही नहीं। जब अरहत का शरीरान्त होता है वह उन अनेक बातों के साथ एक हो जाता है, जिन की जीवन काल में वह साकार मूर्ति था। हम किसी भौतिक रूप में उस की तलाश न करें और उस की आवाज सुनने की भी आशा न करें। लेकिन जो कोई भी धर्म को देखता है, वह बुद्ध को ही देखता है। वह धर्म-काय में सदैव विद्यमान है, जो कि सभी तथागतों का गर्भ है। धर्म-काय* वह दिव्य करुणा और प्रज्ञा की भावना है जो मानवता को आगे की ओर ले जाती है, ऊपर की ओर उठाती है, सत्य की ओर और नैतिक सौन्दर्य की ओर।

सम्पूर्ण

---

* धर्म काय को आदि-बुद्ध की कल्पना के साथ नहीं गड़बड़ाना चाहिये। आदि बुद्ध एक बेकार की बात है। बिना विकसित हुए कोई भी बुद्धत्व लाभ कर ही कैसे सकता है?

महाथैरो डॉ. भदन्त आनन्द कौसल्यायन का जन्म ५ जनवरी १९०५ , ग्राम सुहाना , जिला चंडीगड (पंजाब) के एक खत्री परीवार मे हुआ । आपके मातापिता जल्दीही चल बसे । आपके बचपन का नाम विशवनाथ था । १८ वर्ष की आयु में अभिनिष्कृमण किया और २३ वर्ष की आयु मे (१९२८) श्रीलंका में जा ., प्रवज्या ग्रहण की । पंडीत राहुल सांकृत्यायन , भिक्षु जगदीश काश्यप के साथ संपूर्ण बौध्द साहित्य ,. विशेषतः त्रिपिटक का पाली से हिन्दी अनुवाद किया । आप दीर्घ कालतक विद्यालंकार विश्वविद्यालय , केलानिया (श्रीलंका) मे हिन्दी के प्रोफेसर रहे । राष्ट्रभाषा प्रचार समिती , वर्धा के दस वर्ष तक प्रधानमंत्री रहे । १९६१ से १९८२ तक भिक्खु निवास दिक्षाभूमी , नागपूर मे वास किया । कुछ कारणवश आपको स्वतंत्र बुध्दभूमी का निर्माण करना पड़ा और ५ जनवरी १९८५ को वहाँपर रहने चले गये । २२ जून १९८८ को अल्पबिमारी के बाद परिनिर्वाण को प्राप्त हुए ।

सिध्दार्थ गौतम शिक्षण व संस्कृति समिती, धनसारी, अलीगढ (उ.प्र.)
महाराष्ट्र शाखा – १५ गौतम परीसर, प्रताप नगर, नागपूर – २२ के अन्य प्रकाशन.

१) आवश्यक पाली इकत्तीस दिन मे
   – डॉ. भदन्त आनन्द कौसल्यायन

२) बुध्द व समकालीन भिक्षु
   – डॉ. भिक्षु सावंगी मेधनकर

३) दि गोस्पल आफ बुध्दाः संक्षिप्त बुध्दचर्या
   – डॉ. भदन्त आनन्द कौसल्यायन

४) दि इसैन्स आफ बुध्दीजम (बौध्द धर्म का सार)
   – डॉ. भदन्त आनन्द कौसल्यायन

५) डॉ. भदन्त आनन्द कौसल्यायन, जीवन व कार्य
   – मुन्शीलाल गौतम
   एम. ए., एल.एल.एम.

With bad advisors forever left behind,
From paths of evil he departs for eternity,
Soon to see the Buddha of Limitless Light
And perfect Samantabhadra's Supreme Vows.

The supreme and endless blessings
of Samantabhadra's deeds,
I now universally transfer.
May every living being, drowning and adrift,
Soon return to the Pure Land of
Limitless Light!

~The Vows of Samantabhadra~

I vow that when my life approaches its end,
All obstructions will be swept away;
I will see Amitabha Buddha,
And be born in His Western Pure Land of
Ultimate Bliss and Peace.

When reborn in the Western Pure Land,
I will perfect and completely fulfill
Without exception these Great Vows,
To delight and benefit all beings.

~The Vows of Samantabhadra
Avatamsaka Sutra~

DEDICATION OF MERIT

May the merit and virtue
accrued from this work
adorn Amitabha Buddha's Pure Land,
repay the four great kindnesses above,
and relieve the suffering of
those on the three paths below.

May those who see or hear of these efforts
generate Bodhi-mind,
spend their lives devoted to the Buddha Dharma,
and finally be reborn together in
the Land of Ultimate Bliss.
Homage to Amita Buddha!

NAMO AMITABHA
南無阿彌陀佛

【印度文 HINDI:THE ESSENCE OF BUDDHISM】

財團法人佛陀教育基金會　印贈
台北市杭州南路一段五十五號十一樓

Printed and donated for free distribution by
The Corporate Body of the Buddha Educational Foundation
11F., 55 Hang Chow South Road Sec 1, Taipei, Taiwan, R.O.C.
Tel: 886-2-23951198 , Fax: 886-2-23913415
Email: overseas@budaedu.org
Website:http://www.budaedu.org
This book is strictly for free distribution, it is not for sale.
यह पुस्तिका विनामूल्य वितरण के लिए है बिक्री के लिए नही ।
Printed in Taiwan
6,000 copies; October 2012
IN020-10786